सिन्धु सभ्यता

- डॉ. किरण कुमार थपल्याल
- डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

ग्रंथ अकादमी ग्रंथांक - 171

सिन्धु सभ्यता

लेखक

डॉ. किरण कुमार थपल्याल

एम.ए., पी-एच.डी.

पूर्व प्रोफेसर प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

एवं

डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल

एम.ए., पी-एच.डी.

प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी ग्रंथ अकादमी प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226 001

प्रकाशक :

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

लखनऊ

मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रंथ निर्माण योजना के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1976

द्वितीय संस्करण : 1985

तृतीय संस्करण : 1992

चतुर्थ संस्करण : 2002

पंचम संस्करण : 2003

प्रतियाँ : 1100

मूल्य : रु. 75/- (पचहत्तर रुपये मात्र)

मुद्रक : प्रकाश पैकेजर्स

257-गोलागंज, लखनऊ-226018

प्रकाशकीय

सिन्धु सभ्यता का उद्भव कहाँ हुआ इसके जनक कौन थे। इस विषय में विद्वानों और इतिहासकारों में मतविभेद है। सिन्धु सभ्यता के निर्माता कुछ विद्वानों के अनुसार सुमेरियन, कुछ के विचार में वेदवर्णित असुर, कुछ के मतानुसार वैदिक आर्य और मिश्रित जाति के लोग थे। सिन्धु सभ्यता की खुदाई में जो नर-कंकाल मिले हैं वे किसी एक जाति के नहीं वरन् विभिन्न जातियों के हैं। सिन्धु सभ्यता के निर्माता वैदिक आर्य थे यह मत अधिक पुष्ट और प्रामाणिक है।

वेदों को मानव चेतना के प्रथम उच्छ्वास के रूप में मान्यता प्राप्त है। उपलब्ध विश्व वाङ्मय में प्राचीनतम होने के कारण वेदों की मौलिकता स्वयंसिद्ध है। वेदों में 'सिन्धु' शब्द का व्यापक प्रयोग नदियों के लिए हुआ है और विशेष प्रयोग नदी विशेष के लिए। वस्तुतः, गंगा-यमुना के दोआबे से सिन्धु एवं उसकी सहायक नदियों से आच्छादित सम्पूर्ण भाग विकसित नगरीय सभ्यता का स्थल रहा है। जिसमें आर्यों के व्यापक अनुभव का नगरीय सभ्यता में अनुप्रयोग स्पष्ट परिलक्षित है -

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्मयः संबभूवुः।

(अथर्ववेद 12.1.3)

इससे स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता एक विकसित नगरीय सभ्यता रही है जिसके समकालीन अन्य सभ्यताएँ भी विकसित हुई हैं जिनके मध्य पारस्परिक आदान-प्रदान हुए हैं।

सभ्यता और संस्कृति के विकास में लिपि का अपना महत्त्व है। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन में जिस प्रकार की लिपि प्राप्त हुई है वह आदिम लिपि न होकर पर्याप्त विकसित लिपि का उदाहरण है। साधारणतः लिपि आदिम रूप से जैसे-जैसे विकसित होती जाती है वैसे-वैसे ही उसके वर्णमाला के अक्षर कुछ सरल और उनकी संख्या कुछ कम होती जाती है। सिन्धु सभ्यता में प्रयोग की गयी लिपि अपनी अलग विशिष्टता लिये हुए है।

डॉ. किरण कुमार थपल्याल एवं डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल ने 'सिन्धु सभ्यता' पुस्तक में सिन्धु घाटी सभ्यता के उद्भव, विकास एवं पराभव का विस्तृत विवेचन किया है। उन्नीस अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक में विद्वान लेखक द्वय ने सिन्धु सभ्यताकालीन नगर विन्यास, स्थापत्य, पाषाण तथा धातु की मूर्तियाँ, मृण्मूर्तियाँ, मुद्राएँ, ताम्रपट्ट, मनके, मृद्भाण्ड, युद्ध सम्बन्धी उपकरण, धातु, पाषाण, हाथी दाँत इत्यादि के कुछ उपकरण तथा वस्तुओं का सचित्र वर्णन किया है।

सिन्धु सभ्यता में धार्मिक विश्वास, अनुष्ठान, आर्थिक जीवन, परिधान, आभूषण, आमोद-प्रमोद, लिपि, शव विसर्जन कंकालों का जाति निर्धारण, काल निर्धारण आदि का भी रोचक विवेचन इस पुस्तक को उपयोगी बनाता है। यह पुस्तक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तो उपयोगी है ही सामान्य जिज्ञासुओं को भी बाँधने की क्षमता रखती है।

सिन्धु सभ्यता का पंचम संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक ने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है क्योंकि पाठकों के मध्य इसकी माँग निरन्तर बनी रहती है। आशा है कि जिस प्रकार अन्य संस्करणों को सुधी जनों का सहयोग प्राप्त हुआ है उसी प्रकार इस संस्करण का भी स्वागत होगा। आपके बहुमूल्य सुझाव हमारे लिए पाथेय होंगे।

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

प्रस्तावना

पुरातात्त्विक महत्त्व की खोजों ने कपोल कल्पनाओं को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है। इतिहास ने कब कौन सी करवट ली, कब संस्कृति का कौन सा परिदृश्य चित्रित हुआ, किस राजा के शासनकाल में कौन सा महल-भवन निर्मित हुआ इसका ज्ञान पुरातत्त्वविदों की खोजों से प्रामाणिक रूप में हुआ है।

सिन्धु सभ्यता का उद्‌भव और विकास सिन्धु नदी के तट पर हुआ यह बात तो प्रामाणिक है किन्तु इस सभ्यता का क्रमिक विकास भारत की धरती पर हुआ इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतान्तर हैं। वास्तव में धर्म इस संस्कृति का प्रमुख आधार था जिसके कारण इस संस्कृति के नगरीकरण की दिशा में तीव्र विकास हुआ और कालान्तर में इसी अत्यधिक धार्मिकता के कारण इसमें गत्यावरोध भी हुए। इस संस्कृति के निर्माता जब पर्वतीय क्षेत्र से नदी के तट पर मैदान में आये होंगे तो उनके विचारों में आमूलचूल परिवर्तन हुआ होगा। भौगोलिक परिस्थितियों एवं वातावरण की कठिनाइयों के कारण पर्वतीय क्षेत्र में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर भी अलग-अलग संस्कृतियों का विकास हुआ, किन्तु मैदानी क्षेत्र में यह विकास तीव्र गति से हुआ हो, ऐसी पूरी सम्भावना है।

इस सभ्यता का केन्द्र हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों ही है परन्तु और भी केन्द्र अपना महत्त्व रखते हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता को आधार मानकर जो उत्खनन हुए हैं उनमें नगरविन्यास एवं स्थापत्य कला के जो नमूने प्राप्त हुए हैं वे उन्हें उन्नत नागरिक सभ्यता का प्रमाणित करते हैं। इन अवशेषों से उस समय के समृद्ध आर्थिक जीवन, धार्मिक विश्वासों एवं लिपि का अच्छा ज्ञान प्राप्त हुआ है।

'सिन्धु सभ्यता' पुस्तक के विद्वान लेखक डॉ. किरण कुमार थपल्याल एवं संकटा प्रसाद शुक्ल ने इस सभ्यता से सम्बन्धित सभी पक्षों को तार्किक शैली में सहज सम्प्रेषणीयता के साथ प्रस्तुत किया है।

इतिहास के विद्यार्थियों के साथ-साथ सुधी समीक्षकों ने इस ग्रंथ को उपयोगी मानकर इसे आत्मीयता प्रदान की है आशा है इस संस्करण का भी आप सबके द्वारा स्वागत होगा। इसी शुभेच्छा के साथ ग्रंथ का पंचम संस्करण आप सबको समर्पित है।

केशरी नाथ त्रिपाठी
कार्यकारी अध्यक्ष
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

भूमिका

'सिन्धु सभ्यता' की खोज से पहले मौर्यकाल से पूर्व की भारतीय पुरातत्त्व सामग्री नहीं के बराबर ज्ञात थी। सिन्धु सभ्यता के उद्घाटन से तृतीय-द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. की एक विकसित नागरिक सभ्यता का ज्ञान हुआ जिसके निर्माण-कार्य और उपकरण मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं के समान विकसित थे और कुछ अर्थों में तो उनसे भी बढ़कर थे।

अब तक इस सभ्यता के अनेक स्थलों का पता चल चुका है और इन स्थलों से प्राप्त मृद्भाण्डों और कुछ अन्य प्रकार के उपकरणों में पर्याप्त एकरूपता पायी गयी है। चूँकि इस संस्कृति की खोज के प्रथम चरण में जो स्थल मिले थे, वे सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के तट पर स्थित थे, अतः मार्शल ने 'सिन्धु सभ्यता' नाम दिया। अब, जब इस सभ्यता के अवशेष सिन्धु के कांठे से दूर गंगा-यमुना के दोआब और नर्मदा-ताप्ती के मुहानों के समीप तक मिल चुके हैं, भौगोलिक दृष्टि से इस सभ्यता के लिए 'सिन्धु सभ्यता' नाम समीचीन नहीं लगता। पुरातत्त्वविदों ने इसके लिए 'हड़प्पा सभ्यता' नाम सुझाया है, जो उस पुरातत्त्व परम्परा पर आधारित है जिसके अनुसार सभ्यता अथवा संस्कृति का नामकरण उसके सर्वप्रथम ज्ञात स्थल के नाम पर किया जाता है। किन्तु 'सिन्धु सभ्यता' नाम अत्यधिक प्रचलित है और विस्तृत क्षेत्र में पाये जाने के बावजूद अभी भी सिन्धु-तट पर मोहेंजोदड़ों और सिन्धु की सहायक नदी रावी के तट पर हड़प्पा इस सभ्यता के सबसे विशाल, सबसे सुनियोजित और सबसे सम्पन्न नगर हैं, अतः इस पुस्तक में इस सभ्यता के लिए 'सिन्धु सभ्यता' का ही प्रयोग मुख्यतः किया गया है, किन्तु कहीं-कहीं 'हड़प्पा सभ्यता' पद भी प्रयुक्त हुआ है।

'सिन्धु सभ्यता' अनेक विश्वविद्यालयों के प्राचीन इतिहास के पाठ्यक्रम का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस विषय पर उपलब्ध अधिकांश मौलिक ग्रन्थों में विद्वानों ने किसी विवादास्पद विषय पर मुख्यतः अपने ही मत का उल्लेख किया है, दूसरे मतों का उल्लेख या तो किया ही नहीं या अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किया है। छात्रों को तो सभी महत्त्वपूर्ण मतों से परिचित होना ही चाहिए। हमने किसी मत विशेष को अधिक समीचीन मानते हुए भी सभी मतमतान्तरों से पाठकों को अवगत कराने की चेष्टा की है। 'सिन्धु सभ्यता' पर कई साल पहले छपे ग्रन्थ

प्रकाशन के समय तक उपलब्ध साक्ष्यों के सन्दर्भ में तो उपयुक्त थे, किन्तु अनेक महत्त्वपूर्ण नये साक्ष्यों के उपलब्ध होने के कारण अब वे उतने उपयुक्त नहीं रहे। हमने विभिन्न विद्वानों के ग्रन्थों और लेखों (देखिये, पुस्तक के अन्त में ग्रन्थ और लेख-सूची) तथा व्यक्तिगत रूप से प्रेषित सूचनाओं के आधार पर सिन्धु सभ्यता सम्बन्धी आधुनिकतम खोजों से पाठकों को अवगत कराने का प्रयास किया है।

सिन्धु सभ्यता के कई उपकरण या उपकरण-प्रकार तत्कालीन जनजीवन के एक से अधिक पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। हमने जिस सन्दर्भ में उनसे अधिक से अधिक प्रकाश पड़ता है, वहाँ उसके बारे में विस्तारपूर्वक लिखा है। दूसरे सन्दर्भों में उनका संक्षिप्त उल्लेख कर विस्तृत विवरण युक्त अध्याय का सन्दर्भ दे दिया है। ऐसे विषयों का जिनका विभिन्न अध्यायों के अन्तर्गत समुचित प्रतिपादन नहीं हो पाया अथवा जो 'सिन्धु सभ्यता' से पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती संस्कृतियों से सम्बन्धित है, हमने परिशिष्ट के रूप में विवेचन किया है। तकनीकी शब्दावली के लिए मुख्यतः भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'पारिभाषिक शब्द-संग्रह' का सहारा लिया गया है। हम भाषा सम्बन्धी सुझावों के लिए श्री मोहनकृष्ण डबराल, द्वितीय अध्याय के विषय-सामग्री सम्बन्धी सुझावों के लिए श्री रवीन्द्र सिंह विष्ट और प्रेस कापी तैयार करने में सहायता के लिए श्रीमती चन्द्रकला थपल्याल के आभारी हैं। पुस्तक में दिये गये चित्रों का कापी राइट भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण का है।

डॉ. किरण कुमार थपल्याल
डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल

विषय-सूची

●●●

अध्याय 1

सिंधु सभ्यता का विस्तार एवं महत्त्वपूर्ण स्थलों का संक्षिप्त परिचय

सिंधु सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता इस सभ्यता की विभिन्न स्थलों से प्राप्त भौतिक सामग्री का बहुत-कुछ समरूप होना है : सिंधु नगरों की
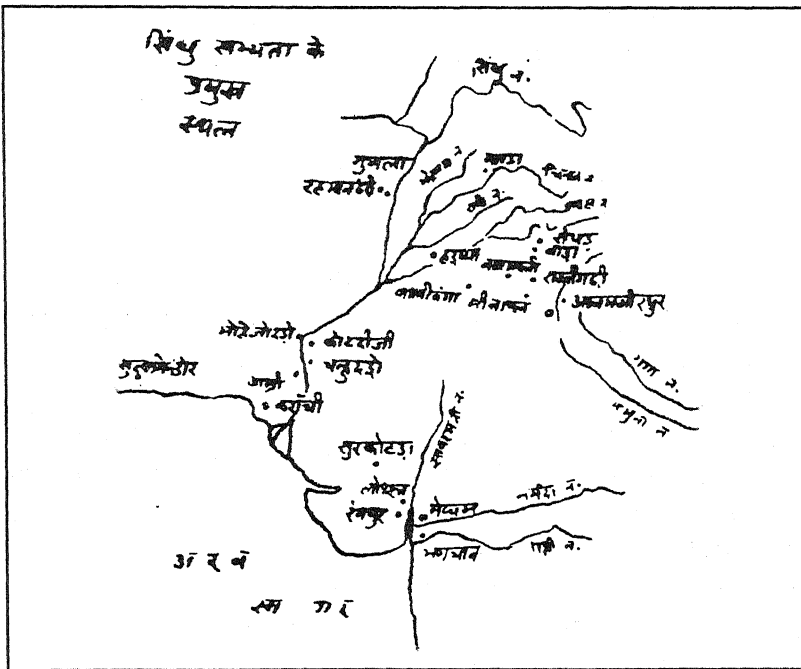
भवन-निर्माण विधि, नालियों की योजना, ईंटों, मृद्‌भाण्डों, आयुधों, आभूषणों, मुद्राओं, नाप-तौल आदि में बहुत-कुछ एकरूपता देखी जा सकती है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के संदर्भ में तो यह एकरूपता अत्यंत स्पष्ट है। इन दोनों नगरों की इमारतों की निर्माण-प्रणाली, मृदभाण्डों के आकार-प्रकार तथा अलंकरण में ऐसी भिन्नता नहीं है। जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक वस्तु मोहेंजोदड़ो की है तथा अमुक वस्तु हड़प्पा नगर की। यद्यपि यह सत्य है कि वास्तु संबंधी कुछ बातें किसी स्थलविशेष में विशिष्ट रूप से मिली हैं (जैसे

मोहेंजोदड़ो में विशाल स्नानागार) जो किसी स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही हो सकती हैं। यह रोचक है कि मोहेंजोदड़ो में नगर के अनेक बार उजड़ने तथा बसने पर भी नगर-विन्यास में, अन्तिम चरण को छोड़ कर, विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु सामान्य मूलभूत एकता को स्वीकार करते हुए भी अब कुछ क्षेत्रीय विशिष्टताओं को भी स्वीकार करना ही होगा। उदाहरणार्थ गुजरात में इस सभ्यता के कुछ मूलभूत उपकरणों में समानता होते हुए भी अनेक ऐसे तत्त्व मिलते हैं जो नये हैं, और कुछ सिंधु सभ्यता के तत्त्व जो मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में प्रमुखता से पाये गये हैं, या तो यहाँ हैं ही नहीं या बहुत नगण्य रूप में हैं।

सिंधु सभ्यता के अवशेष विस्तृत भू-भाग में टीलों के रूप में पाये गये हैं। ये टीले नगर और ग्राम दोनों प्रकार के स्थलों के परिचायक हैं। एक पुरैतिहासिक संस्कृति के महान केन्द्र के रूप में हड़प्पा की खोज रायबहादुर दयाराम साहनी ने सन् 1921 ई0 में की। कालान्तर में ननीगोपाल मजुमदार द्वारा सिंध क्षेत्र में (1927—31 ई0 के बीच) और ऑरल स्टाइन के द्वारा बलूचिस्तान एवं गेड्रोशिया क्षेत्र में किये गये सर्वेक्षणों और सीमित उत्खननों से सिंधु सभ्यता के अनेक स्थलों का पता लगा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व मुख्यतः सिंधु और उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती क्षेत्र में पाये गये सिंधु सभ्यता के स्थलों की ही जानकारी थी; यद्यपि इसका प्रभाव बलूचिस्तान की कुछ संस्कृतियों पर विद्वानों ने आंका था, और सौराष्ट्र में रंगपुर में भी इस सभ्यता का स्थल होने की संभावना बहुत पहले व्यक्त की गयी थी (जो बाद के उत्खननों से सही सिद्ध हुई) ऑरेल स्टाइन ने राजस्थान औरं बहावलपुर के क्षेत्र में सर्वेक्षण से सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों का पता लगाया था। अब तो 1947 ई0 में भारत के विभाजन के बाद भारतीय क्षेत्र में कई अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान, यथा लोथल, रोपड़, कालीबंगां आदि का पता लगा है। उधर पाकिस्तान में भी कुछ नये स्थल मिले जिनमें मोहेंजोदड़ो से लगभग 30 मील की दूरी पर स्थित कोटदीजी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। पुरातात्त्विक खोजों तथा उत्खननों से स्पष्ट हो गया है कि बहुत पहले मार्शल ने स्पष्ट रूप से यह धारणा व्यक्त की थी कि गंगा की घाटी में भी इसका विस्तार मिलना चाहिए, और उनकी यह धारणा अब कुछ सीमा तक सत्य सिद्ध हो चुकी है।

कुछ समय पूर्व तक इस सभ्यता की उत्तरी सीमा रोपड़ (पंजाब) थी। अब सुलेमान पर्वत के पूर्वी पाद में गोमलघाटी में दानी ने कई स्थल खोजे हैं जिनमें गुमला विशेष महत्त्वपूर्ण है। तक्षशिला के पास में सराय खोला नामक स्थल मिला है। नर्मदा नदी की घाटी में मेधम, तेलोद और भगत्राव और उससे भी दक्षिण में ताप्ती नदी की निचली घाटी में मालवण (जिला सूरत) नामक

स्थल हैं। ये तीनों ही स्थल समुद्र के निकट हैं और व्यापारिक महत्त्व के रहे होंगे। पूर्व में यमुना की सहायक हिण्डन नदी के किनारे आलमगीरपुर (जिला मेरठ, उत्तर प्रदेश) और इससे भी पूर्व,[1] तथा पश्चिम में मकरान के समुद्री तट पर कराची से 300 मील पश्चिम में स्थित सुत्कगेनडोर तक विस्तृत है। उत्तर में डाबरकोट (उत्तरी बलूचिस्तान) सिंधु सभ्यता का महत्त्वपूर्ण स्थल है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि सिंधु सभ्यता का विस्तार कौशाम्बी और उससे भी पूर्व तक रहा हो, तथापि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। कुछ पुरातत्त्वविदों की धारणा है कि गंगा की घाटी में विस्तृत पुरातात्त्विक सर्वेक्षण से न केवल इस क्षेत्र में सिंधु सभ्यता के प्रसार पर ही प्रकाश पड़ेगा अपितु उससे सिंधु सभ्यता और गंगा-घाटी की सभ्यता के मध्य की कड़ी को भी जोड़ा जा सकेगा। उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर कुछ समय पूर्व रंगनाथ राव ने इस सभ्यता के क्षेत्र का विस्तार लगभग 1600 किलोमीटर पूर्व से पश्चिम और 1100 किलोमीटर से अधिक उत्तर से दक्षिण में आंका था। अब उत्तर में सराय खोला नामक स्थल का ज्ञान होने पर उत्तरी-दक्षिणी सीमा और विस्तृत हो गयी है। इस विस्तृत भू-भाग में कुछ स्थल विशाल नगर (यथा हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो), कुछ कस्बे (यथा रोपड़), तथा कुछ ग्राम (यथा आलमगीरपुर) थे। लोथल समुद्री व्यापार का केन्द्र रहा होगा, जब कि मकरान के समुद्रतटवर्ती सुत्कगेनडोर, सोत्का-कोह और बालाकोट ने बन्दरगाहों के रूप में पश्चिमी एशिया के साथ होने वाले व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। हाल ही के तुर्कमेनिया क्षेत्र के उत्खनन से स्पष्ट हो गया है कि सिंधु सभ्यता का मध्य-एशिया के साथ भी सम्पर्क था। सिंधु सभ्यता का विस्तार प्राचीन मेसोपोटामिया, मिस्र तथा फारस की सभ्यताओं के क्षेत्र से कहीं अधिक था। दोनों मिस्र की लम्बाई मिलाकर लगभग साढ़े नौ किलोमीटर है और लगभग यही विस्तार मेसोपोटामिया की सभ्यता के क्षेत्र का भी है। सिंधु सभ्यता के अवशेष इनसे कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र में पाये गये हैं। अरब सागर के मकरान तट पर अवस्थित सुत्कगेनडोर और आलमगीरपुर के ध्वंसावशेषों के बीच लगभग 1600 किलोमीटर का अन्तर है। यदि इस सभ्यता के विस्तार-क्षेत्र को संस्कृति ही नहीं साम्राज्य का भी विस्तार मान लिया जाय (जैसा कि कुछ विद्वानों ने सुझाया है), तो रोमन साम्राज्य से पहले विश्व में शायद ही इतना विशाल राज्य कहीं रहा हो।

---

1. सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) जिले में यमुना की सहायक नदी मस्करा के तट पर बड़गाँव में साधार तश्तरियाँ, चर्ट पत्थर के फलक मिट्टी के पिंड, कांचली मिट्टी की चड़ी और ताम्रनिधि के छल्लों से मिलता-जुलता एक तांबे का छल्ला मिला है। सहारनपुर जिले में ही आँबखेड़ी नामक स्थल में कुछ बर्तन ऐसे मिले हैं जो सिन्धु सभ्यता के बर्तनों से कुछ समानता रखते हैं।

फेयरसर्विस का कहना है कि सिंधु सभ्यता का विस्तार मुख्य रूप से गेहूं उपजाने वाले क्षेत्र-सिंधु, पंजाब और गुजरात में हुआ। दिल्ली के पूर्ववर्ती क्षेत्र एवं ताप्ती नदी के दक्षिण में चावल की उपज ही मुख्य रूप से होती है। इससे ऐसा लगता है कि सिंधु वासियों ने ऐसे स्थलों को ही चुना जो गेहूं उपजाने के लिए उपयुक्त हैं। यद्यपि साधारणतः इस सभ्यता के स्थल मैदानी क्षेत्र में ही हैं, जो निश्चय ही एक महान सभ्यता के विकास के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही इस सभ्यता के पास लगभग तेरह सौ किलोमीटर का समुद्रतट था जो समुद्री व्यापार के लिए उपयुक्त सुविधाएं प्रदान करता था। नीचे सिंधु सभ्यता के कुछ मुख्य स्थलों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

बलूचिस्तान

सुत्कगेनडोर- यह कराची से लगभग 300 मील पश्चिम में और बलूच-मकरान समुद्र-तट से 56.32 किलोमीटर उत्तर में दाश्त नदी के पूर्व किनारे पर स्थित है। स्टाइन ने इसे 1927 में खोजा था और यहाँ पर परीक्षण-गर्त खोदे। 1962 में जार्ज डेल्स ने इस स्थल का सर्वेक्षण किया और उन्हें यहाँ पर बन्दरगाह, दुर्ग और निचले नगर की रूपरेखा मिली। दुर्ग एक प्राकृतिक चट्टान के ऊपर और उसके इर्द-गिर्द था और उसके अन्दर हड़प्पा सभ्यता के कुछ स्थलों की भांति कच्ची ईंटों का चबूतरा बना था किन्तु इसका आधार किंचित् तराशे पत्थरों की दीवार थी, जो एक स्थान पर लगभग 8 मीटर चौड़ी पायी गयी है। दुर्ग की दीवार में बुर्ज और द्वार भी थे। डेल्स ने दुर्ग (गढ़ी) में सिंधु सभ्यता के तीन चरणों की पहिचान की। उसके अनुसार मूलतः समुद्र सुत्कगेनडोर के बहुत समीप था और इस स्थल ने एक बन्दरगाह के रूप में सिंधु सभ्यता और बेबीलोन के मध्य होने वाले व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। आज कुछ प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण यह स्थान समुद्र से काफी दूर हो गया है।

सोत्काकोह- यह स्थान पस्नि से लगभग 8 मील, शादी-कौर नदी की घाटी में सुत्कगेनडोर से पूर्व में स्थित है। इसे डेल्स ने 1962 में खोजा था। यहाँ पर भी दो टीले मिले हैं। पूर्वी टीले के पूर्वी किनारे पर लगभग 488 मीटर लम्बी दीवार होने के साक्ष्य मिले हैं। अनुमानतः सोत्काकोह भी आकार-प्रकार में सुत्कगेनडोर की तरह था। यहाँ पर प्राप्त भाण्ड सिंधु सभ्यता के प्रकार के हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सोत्काकोह बन्दरगाह न होकर समुद्र तट और समुद्र से दूरवर्ती भू-भाग के मध्य व्यापार का केन्द्र रहा होगा।

डाबरकोट- उत्तरी बलूचिस्तान के पहाड़ी क्षेत्र में भी सिंधु-संस्कृति के

स्थल मिले हैं। यहीं पर सिंधु नदी से लगभग 200 किलोमीटर दूर लोरालाई के दक्षिण में झोब घाटी में डाबरकोट स्थित है। सिंधु-संस्कृति का यह स्थल अपनी स्थिति एवं स्वरूप के कारण पुरातत्त्व की दृष्टि से यथेष्ट महत्त्व का है। यहाँ का टीला 34.4 मीटर ऊँचा है और लगभग 365 मीटर की परिधि में फैला है। सिंधु घाटी में कंधार जाने वाले मार्ग पर स्थित इस महत्त्वपूर्ण स्थल पर अभी तक विस्तृत उत्खनन नहीं हो सका है। किंतु ऐसी सम्भावना है कि इसके उत्खनन से सिंधु संस्कृति के मूल पर प्रकाश पड़ेगा क्योंकि सतह के सर्वेक्षण के दौरान यहाँ सिंधु संस्कृति के साथ ही उससे पूर्वकालीन और उत्तरकालीन संस्कृतियों के अवशेष भी मिले हैं। यह भी पता चला है कि सिंधु सभ्यता के अवशेष टीले के अपेक्षाकृत ऊपर वाले भाग में हैं और इसलिए आशा की जाती है कि टीले के निचले भाग के उत्खनन से सिंधु सभ्यता के मूल और प्रारंभिक चरण के बारे में महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

सिंधु

कोटदीजी- कोटदीजी सिंध प्रांत के खैरपुर नगर से 24 किलोमीटर दक्षिण और मोहेंजोदड़ो से 40.24 किलोमीटर पूर्व में है। 1935 में घुर्ये ने इस स्थल के कुछ मिट्टी के बर्तन प्राप्त किये थे जो प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में संग्रहीत हैं। पाकिस्तान पुरातत्त्व विभाग के निदेशक फजल अहमद खाँ ने 1955 और 1957 में उस स्थल पर अपेक्षाकृत छोटे पैमाने का उत्खनन कराया। उत्खनन से हड़प्पा सभ्यता के नीचे एक और सभ्यता के अवशेष मिले जिसे 'कोटदीजी' संस्कृति का नाम दिया गया। यहाँ पर प्राप्त कुल सोलह परतों में से नीचे की बारह परतें 'कोटदीजी संस्कृति' की हैं। उसके ऊपर की तीन परतें सिंधु-सभ्यता के उपकरणों से युक्त हैं। कोटदीजी संस्कृति के भाण्ड हड़प्पा में रक्षा-दुर्ग के निर्माण से पहले वाले चरण में प्राप्त भाण्डों से मिलते-जुलते हैं। इस संस्कृति में सिंधु सभ्यता की तरह चार्ट के फलक और पक्की मिट्टी के पिंड मिले हैं, किंतु इस काल में ताम्र और कांस्य का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ। उपलब्ध पुरातत्त्विक साक्ष्यों से ऐसा लगता है कि कोटदीजी की प्राक् सिंधु बस्ती अग्निकांड से नष्ट हुई और फिर सिंधु सभ्यता के लोग इस स्थल पर आकर बसे। नवागंतुकों ने भवनों की नींव पत्थर की बनाई, और दीवारें कच्ची ईंटों ताम्र और कांस्य का पर्याप्त प्रयोग हुआ। यहाँ पर सिंधु सभ्यता काले के संदर्भ में बाणाग्रों का मिलना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस तरह के बाणाग्र सिंधु सभ्यता के अन्य स्थलों पर नहीं मिलते। सिंधु सभ्यता कालीन नगर-निर्माण सुनियोजित था। घरों की नींव में पत्थर का प्रयोग किया गया है। भवनों में नालियों का समुचित प्रबंध न था।

अलीमुराद- अलीमुराद सिंध में दादू से लगभग 32 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह तीन से पांच फुट मोटी लापरवाही से तराशे पाषाण खंडों से निर्मित प्राचीर से रक्षित छोटा सा लगभग वर्गाकार क्षेत्र है जो 76 मीटर लम्बा और इतना ही चौड़ा है। इस दीवार के अन्दर और बाहर इमारतों के अवशेष हैं। एक कुआं भी मिला है। मण्मूर्ति, चर्ट-फलक तथा सेलखड़ी, कार्निलियन आदि के मनके मिले हैं। यह एक ग्रामीण स्थल था।

मोहेंजोदड़ो- यह सिंधु नदी के पूर्वी किनारे पर है और सिंधु के मुख्य प्रवाह तथा पश्चिमी धारा के मध्य ऐसे क्षेत्र में है जो यदाकदा बाढ़ से क्षतिग्रस्त होता रहा है और आज भी होता रहता है। यह दक्षिण में लगभग 6 मीटर ऊँचा है और उत्तर में लगभग 12 मीटर। मोहेंजोदड़ों का अर्थ सिंधी भाषा में "मृतकों का टीला" है। यद्यपि यह एक प्राचीन स्थल के रूप में कुछ समय पहले से ही ज्ञात था, तथापि इसके पुरैतिहासिक स्वरूप का प्रथम परिचय दिलाने का श्रेय सन् 1922 में राखालदास बनर्जी को मिला। यह उत्खनित सिंधु नगरों में से सबसे महत्त्वपूर्ण और सम्पन्न नगर है। राखालदास बनर्जी इस ध्वस्त नगर के शीर्ष पर बने कुषाण-कालीन स्तूप का उत्खनन करा रहे थे तो उन्हें स्तूप के नीचे कुछ विशिष्ट प्रकार की मुद्राएं और अन्य सामग्री प्राप्त हुई। चूँकि इस तरह की वस्तुएं हड़प्पा में पहले ही मिल चुकी थीं और एक वर्ष पूर्व 1921 में वहाँ पर प्रारंभ किये गये उत्खनन से वस्तुओं का पुरैतिहासिक काल का होना सिद्ध हो चुका था, अतः बनर्जी ने तुरंत ही यह निष्कर्ष निकाल लिया कि मोहेंजोदड़ों में भी पुरैतिहासिक अवशेष छुपे पड़े हैं। सिंधु सभ्यता के इस महत्त्वपूर्ण नगर के सांस्कृतिक कोष का उद्घाटन करने के लिए मार्शल के नेतृत्त में 1922 से 1930 तक खुदाई कराई गई। जिन पुराविदों के निरीक्षण में उत्खनन कार्य सम्पन्न हुआ उनमें राखलदास बनर्जी, मकाइ, काशीनाथ दीक्षित, हारग्रीव्ज, दयाराम साहनी और माधोसरूप वत्स के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, यहाँ नगर निर्माण के कम से कम नौ चरण मिले। नगर-निर्माण योजना, भवन, मृद्भाण्ड, मुहरें तथा अन्य कलाकृतियाँ सभी अत्यन्त विकसित सभ्यता की सूचक थीं। कुछ साल बाद मकाइ के नेतृत्व में इस स्थल पर फिर खुदाई हुई। फिर सर मार्टिमर व्हीलर ने, मुख्य रूप से इस बात का पता लगाने के लिए कि मोहेंजोदड़ों के जलमग्न स्तरों में किस तरह की सामग्री छिपी पड़ी है, 1950 में यहाँ पर सीमित उत्खनन कराया। व्हीलर ने जल-तल के नीचे भी लगभग तीन मीटर खुदाई कराई, किन्तु अप्रयुक्ता धरती तक वे भी नहीं पहुँच सके। 1964 और 1966 में अमेरिका के पुराविद् डेल्स ने अप्रयुक्ता धरती तक पहुँचने के उद्देश्य से मोहेंजोदड़ो में उत्खनन कराया। खोदी हुई खाई में बार-बार जल एकत्र हो जाने से उत्खनन कार्य में बाधा

पहुँची, तथापि डेल्स को वेधन (ड्रिलिंग) द्वारा नीचे के स्तरों के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं संकलित करने में सफलता मिली, और अप्रयुक्ता धरती तक उत्खनन किया जा सका। इस क्षेत्र में आवास स्तरों की मोटाई लगभग 6. 8 मीटर पायी गयी। इसमें से नीचे का भाग, जो लगभग पूरे का तिहाई है, जलमग्न है। इन जलमग्न स्तरों से जो मृद्भाण्ड व अन्य वस्तुएं मिली हैं वे पुराविदों के अनुसार बलूचिस्तान की संस्कृतियों के मृद्भाण्डों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। वे उसी तरह की हैं जैसी की हड़प्पा में सुरक्षात्मक प्राचीर के निर्माण से पूर्व काल में पाई गयी हैं।

चन्हुदड़ो- चन्हुदड़ो नामक स्थल मोहेंजोदड़ों से दक्षिण-पूर्व दिशा में लगभग 128.75 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। सिंधु नदी यहाँ से अब 21 कि.मी. दूरी पर बहती है, किन्तु सिंधु सभ्यता के काल में वह इसके बिल्कुल समीप बहती थी। इस स्थान पर मूलतः एक ही बड़ा टीला था, किन्तु वर्षा, आतप और वात ने मिलकर इसे तीन खंडों में बांट दिया है। ननी गोपाल मजुमदार ने इस स्थल को 1931 में ढूँढा था और तीन सप्ताह तक इसका उत्खनन कराया। फिर मकाइ ने 1935 में इसका उत्खनन किया। चन्हुदड़ो में जलस्तर प्रारंभ होने तक ही उत्खनन किया जा सका। उसके नीचे जो अवशेष हैं उनके बारे में कुछ भी पता नहीं है। उत्खनन में सबसे नीचे सिंधु संस्कृति, उसके बाद झूकर संस्कृति और उसके बाद झांगर संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इन तीनों संस्कृतियों के बीच कितना काल-व्यवधान रहा, यह कहना कठिन है। सिंधु संस्कृति के तीन निर्माण-चरण पाये गये और एक निर्माण-चरण व दूसरे निर्माण-चरण के मध्य एक बाढ़-सूचक स्तर मिला है। प्रत्येक चरण में जो पुनर्निर्माण हुआ उसमें पूर्व-चरण में अपनायी गयी भवन-निर्माण शैली व रूपरेखा का अनुसरण नहीं किया गया। सिंधु सभ्यता के संदर्भ में प्राप्त बर्तन, मुद्रा, ताम्र उपकरण, मनके, बाट-बटखरे आदि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों से प्राप्त इसी तरह की वस्तुओं से मिलते-जुलते हैं।

पंजाब

हड़प्पा- हड़प्पा का टीला मोण्टगोमरी जिले (पाकिस्तान) में इसी नाम के कस्बे से पंद्रह मील पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम में रावी नदी के बायें किनारे पर स्थित है। आज नदी इस स्थल से लगभग साढ़े नौ किलोमीटर दूर बहती है, किन्तु सिंधु सभ्यता के काल में नदी तट अधिक निकट रहा होगा और अधिक वर्षा होने पर यह क्षेत्र बाढ़ग्रस्त हो जाता रहा होगा। 1856 ई. में लाहौर और

मुल्तान के बीच रेलवे लाइन बिछाने के लिए रोड़ी की आवश्यकता हुई। जान ब्रंटन और विलियम ब्रंटन, जिन्होंने रेलवे लाइन बिछाने का ठेका लिया था, को रोड़ियों की आवश्यकता थी। इन्हें भला रोड़ियों के लिए समीप स्थित हड़प्पा के भग्नावशेषों की ईंटों से अच्छा और क्या साधन मिल सकता था। आज लगभग डेढ़ सौ किलोमीटर की दूरी तक रेलगाड़ी इन प्राचीन ईंटों की रोड़ियों के ऊपर चलती है। वैसे इसके पहले भी आस-पास के निवासियों ने अज्ञात मात्रा में प्राचीन ईंटों को खोद कर मकान बनाने में उनका प्रयोग कर लिया था। लगातार ईंटों के निकालने से इमारतों की रूपरेखा तो पहले ही बिगड़ चुकी थी, जो रूपरेखा बची थी वह भी रेलवे लाइन की रोड़ी बिछाने के लिए ईंटे निकालने के कारण और नष्ट हो गई।

हड़प्पा के टीले के बारे में प्रथम उल्लेख चार्ल्स मैस्सन ने 1826 में किया था। उसके बाद जनरल कनिंघम ने 1853 ओर 1873 में इस टीले का सर्वेक्षण किया। उन्होंने इस टीले से कुछ प्राचीन वस्तुएं उपलब्ध कीं और 1875 में कुछ मुद्राएं और अन्य उपकरणों को आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट में छपवाया। 1912 में जे.एफ. फ्लीट ने भी ब्रिटिश संग्रहालय द्वारा इस स्थल से उपलब्ध की गई सिंधु सभ्यता की कुछ वस्तुओं पर रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में एक लेख लिखा। किन्तु कनिंघम और फ्लीट इस स्थल के पुरातात्त्विक महत्त्व को भलीभाँति नहीं आंक सके। 1921 में, जब सर जान मार्शल पुरातत्त्व विभाग के महानिदेशक थे, रायबहादुर दयाराम साहनी ने इसका पुनरन्वेषण किया और 1923-24 तथा 1924-25 में खुदाई करवाई। इसके बाद 1926-27 से 1933-34 में यहाँ पर माधोसरूप वत्स के निदेशन में उत्खनन हुए जिनकी रिपोर्ट उन्होंने दो जिल्दों में छपवायीं। इन उत्खननों से यह स्पष्ट हो गया कि हड़प्पा सिंधु सभ्यता का अत्यन्त महान केन्द्र था। 1946 में व्हीलर के निर्देशन में यहाँ उत्खनन किया गया जिससे महत्त्वपूर्ण नये तथ्यों की जानकारी प्राप्त हुई जिनमें एक टीले की पहचान गढ़ी के रूप में किया जाना विशेष उल्लेखनीय है। अनुमानतः हड़प्पा का प्राचीन नगर मूल रूप में 5 किलोमीटर के क्षेत्र में बसा था।

रोपड़- रोपड़ पंजाब में शिवालिक पहाड़ी की उपत्यका में स्थित है। यज्ञदत्त शर्मा के निर्देशन में इस स्थल की खुदाई 1953 से 1956 तक हुई थी। यह टीला लगभग 15 मीटर ऊँचा है। भौगोलिक दृष्टि से यह सामरिक महत्त्व की जगह पर स्थित है। यहाँ पर हिमालय की तलहटी और मैदान का मिलन स्थल है। सतलज नदी यहीं पर पंजाब की उपजाऊ भूमि में प्रवेश करती है।

रोपड़ में उत्खनन से छह संस्कृतियों के अवशेष मिले हैं। इसके दो चरण हैं - नीचे के स्तरों में विकसित हड़प्पा सभ्यता के उपकरण मिले; ऊपरी सतह पर सिंधु सभ्यता के सामान्य उपकरणों के साथ कुछ नये प्रकार के बर्तन भी मिले। उत्खनन सीमित क्षेत्र में किये जाने के कारण नगर-निर्माण की रूपरेखा पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका। मुद्रा केवल एक ही मिली। मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में प्राप्त हड़प्पा संस्कृति के समान अनेक विशिष्ट बर्तन मिले हैं। किन्तु अन्य स्थलों पर प्राप्त इस संस्कृति के बर्तनों के कुछ प्रकार यहाँ नहीं मिलते और कुछ बर्तन ऐसे मिले हैं जिन पर नये प्रकार के डिजाइन हैं। घर साधारण कच्ची ईंट और नदी से प्राप्त उपल से बने थे। कांचली मिट्टी एवं अन्य पदार्थों के आभूषण, ताम्र कुल्हाड़ी, चार्ट फलक हड़प्पा प्रकार के ही मिले हैं। एक कब्रिस्तान भी मिला है। हड़प्पा संस्कृति के स्तरों के बाद कुछ अंतराल से एक नई संस्कृति के अवशेष मिले हैं जिसके मृद्भाण्डों में चित्रित धूसर भाण्ड मुख्य हैं।

बाड़ा- रोपण के पास ही स्थित बाड़ा की खुदाइयों से प्राप्त मृद्भाण्ड ह्रासोन्मुख हड़प्पा संस्कृति के द्योतक हैं, किन्तु उनमें से कुछ भाण्डों पर चित्रित अभिप्राय बलूचिस्तान तथा कोटदीजी और कालीबंगा के पूर्व-हड़प्पा संस्कृतिकालीन अभिप्रायों से भी कुछ समानता रखते हैं।

संघोल- पंजाब के लुधियाना जिले में, चंडीगढ़ से 40 किलोमीटर दूरी पर स्थित संघोल टीले की खुदाई पंजाब पुरातत्त्व विभाग की ओर से एस.एस. तलवार तथा रबीन्द्र सिंह बिष्ट ने कराई। निम्नतम स्तरों में सिंधु सभ्यता के अंतिम प्रकाल के अवशेष पाये गये हैं। इनके ऊपर अंतराल के साथ चित्रित धूसर भाण्ड तथा ऐतिहासिक काल के अवशेष मिले। निम्नतम स्तरों में दीवारें कुटी मिट्टी और कच्ची ईंटों की थीं। तांबे की दो छेनियाँ, कांचली मिट्टी की चूड़ियाँ, बाली और मनके पाये गये हैं। कुछ वृत्ताकार गर्त मिले जो अग्निस्थल के रूप में प्रयुक्त लगते हैं। संघोल की इस प्रथम संस्कृति में बाड़ा और रोपड़ की सिंधु सभ्यता और हड़प्पा की कब्रिस्तान एच संस्कृति के कुछ तत्त्वों का समन्वय पाया गया। चित्रण की विधा कालीबंगा के पूर्व सिंधु सभ्यता कालीन मृद्भाण्डों से मिलती-जुलती है।

हरियाणा

राखीगढ़ी- हरियाणा में भी सिंधु-संस्कृति के कई स्थल खोज लिए गये

हैं। इनमें राखीगढ़ी, मीत्ताथल और बणावली उल्लेखनीय हैं। जींद जिले में जींद नगर से 11 किलोमीटर दक्षिण में स्थित राखीगढ़ी सिंधु सभ्यता का एक विशाल स्थल है। इसकी खोज सूरजभान और आचार्य भगवानदेव ने की थी। यहाँ पर प्राक् सिंधु और सिंधु सभ्यता कालीन अवशेष मिले हैं। कुछ वर्ष पूर्व इस स्थल से कई तांबे के उपकरण भी उपलबध हुए थे। यहाँ से सिंधु लिपि युक्त एक लघु मुद्रा थी उपलब्ध हुई।

बणावली- बणावली हिस्सार जिले के फतेहाबाद तहसील में प्राचीन सरस्वती, जो अब सूख चुकी है, की घाटी में स्थित है। हरियाणा राज्य के पुरातत्त्व विभाग के तत्त्वावधान में रवीन्द्र सिंह बिष्ट ने 1973-74 में यहाँ उत्खनन कराया। टीला लगभग ग्यारह मीटर ऊँचा है और उत्तर-दक्षिण की ओर 600 मीटर तथा पूर्व-पश्चिम की ओर 400 मीटर के क्षेत्र में फैला है। यहाँ पर सिंधु संस्कृति से पहले की संस्कृति के अवशेष मिले। प्रथम काल के मृद्भाण्ड कई आकार-प्रकार के हैं। इनमें कुछ चित्रित तथा कुछ सादे हैं और बहुत कुछ कालीबंगा के प्रथम काल के संदर्भ में प्राप्त मृद्भाण्डों के समान हैं। इस काल में भी नगर नियोजन का साक्ष्य मिलता है जिसमें सड़कें चौराहें पर एक दूसरे को काटती हुई मिलती हैं। इस काल में कुछ पक्की ईंटें भी मिली हैं। प्रथम काल की सतहों के ऊपर सिंधु संस्कृति के अवेशष मिलते हैं। इस स्थल पर जो सीमित उत्खनन हुए हैं, उनसे इतना तो स्पष्ट हो गया है कि बणावली सिंधु संस्कृति का एक सुनियोजित और महत्त्वपूर्ण नगर था। आकार-प्रकार और चित्रण की दृष्टि से यहाँ के मृद्भाण्ड अन्यत्र सिंधु सभ्यता के संदर्भ में प्राप्त मृद्भाण्डों के समान हैं। तांबे के बाणाग्र, उस्तरे, मनके, चर्ट फलक, कार्नीलियन, गोमेद और कांचली मिट्टी के मनके, पशु और मानव मृण्मूर्तियों, बाट-बटखरे, मिट्टी की गोफन गोलियां, सिंधु लिपि में अंकित लेख वाली एक मुद्रा और कुछ मुद्रा छापें भी पायी गयी हैं। कुछ मृद्भाण्ड खण्डों पर भी सिंधु लिपि के अक्षर उत्कीर्ण हैं।

मीत्ताथल- मीत्ताथल हरियाणा प्रदेश के भिवानी जिले में भिवानी से उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यहाँ पर पहले सतह से कुछ ताम्र-निधि के उपकरण मिले थे। 1968 में पंजाब विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में सूरजभान ने यहाँ पर उत्खनन कराया। उनके मतानुसार टीले के पूर्व में जो लगभग 400 मीटर चौड़ी प्राकृतिक खाई है वह यमुना के प्राचीन प्रवाह मार्ग की द्योतक लगती है जो आगे चलकर राजस्थान में दृषद्वती-सरस्वती सरणि से मिलती थी। मीत्ताथल के प्रथम काल के मृद्भाण्ड कालीबंगा के प्रथम काल के बर्तनों से मिलते जुलते हैं।

इस काल में भवन-निर्माण कच्ची ईंटों से होता था। दूसरे काल की संस्कृति सिंधु-संस्कृति है जिसके अवशेषों को दो चरणों में बांटा गया है - प्रथम चरण विकासशील और दूसरा चरण ह्रासोन्मुख है। प्रथम चरण में सुनियोजित नगर-निर्माण की नींव डाली गयी और यहाँ पर भी नगर-निर्माण में गढ़ी और निचले नगर की परियोजना दिखाई देती है। सड़कें पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण दिशा को थीं। इस काल में सिंधु सभ्यता के सामान्य भाण्डों के साथ कुछ पहले काल (कालीबंगा प्रथम प्रकाल) की शैली में निर्मित बर्तन भी प्रचलित रहे। सिंधु सभ्यता के द्वितीय चरण में निश्चित रूप से ह्रास के लक्षण मिलते हैं। इमारतों का निर्माण निम्नकोटि का था और उसके लिये खण्डित ईंटों का प्रयोग होने लगा था। मृद्‌भाण्डों के आकार-प्रकार और चित्रण शैली भी पहले की अपेक्षा निम्नकोटि के हैं। कुछ ताम्र-उपकरण यथा चपटी कुल्हाड़ी तथा परशु ताम्रनिधि के उपकरणों से मिलते-जुलते हैं। पानपात्र और चंचुक, जो सिंधु सभ्यता के खास बर्तनों के प्रकारों में से हैं, का चलन शनैः-शनैः कम होता गया और अन्तिम चरण में उनका प्रचलन ही बन्द हो गया। अन्य उपकरणों में खिलौने गाड़ियों के पहिये, पशु आकृतियाँ, मृत्पिण्ड, गोफन गोलियाँ, पत्थर के बांट और फलक मिट्टी और शंख की चूड़ियां और पत्थर की अंगूठी उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान

कालीबंगा- पुरानी सरस्वती और दृषद्वती (जिनकी पहचान क्रमशः आज की घग्गर और चौतांग नदियों से की गई है) की घाटियों में, जो आज सूखी पड़ी हैं, किसी समय सिंधु संस्कृति फूली-फूली थी। इसके प्रमाण वे अनगिनत टीले हैं जो राजस्थान की रेतीली भूमि में अपने वक्ष में पुरा सामग्री छिपायें बैठे हैं। आरेल स्टाइन ने भूतपूर्व बहावलपुर रियासत में हक्रा नदी (घग्गर नदी का ही विस्तार) के सूखे मार्ग में प्राग्-हड़प्पा संस्कृति के करीब ग्यारह प्राचीन स्थल 1942 में ढूँढ निकाले थे और लगभग एक दशक बाद अमलानंद घोष ने 1953 में लगभग दो दर्जन हड़प्पा संस्कृति के स्थल राजस्थान के भूतपूर्व बीकानेर रियासत में खोज निकाले। इनमें गंगानगर जिले में घग्गर (प्राचीन सरस्वती) के किनारे पर स्थित कालीबंगा प्रमुख हैं। यहाँ पर सिंधु सभ्यता के अवशेषों के नीचे प्राग्-सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं। कालीबंगा में उत्खनन ब्रजवासी लाल और बालकृष्ण थापड़ के निर्देशन में 1961 में मुख्य रूप से हड़प्पा संस्कृति के उद्‌भव के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए और साथ

ही 'स्कूल आर आर्क्योलाजी' के विद्यार्थियों को महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल के उत्खनन का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से आरम्भ किया गया था। मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा की भाँति यहाँ भी मुख्य रूप से दो टीले मिले-एक छोटा पश्चिम में, और दूसरा बड़ा पूर्व में (यों यहाँ पर एक तीसरा टीला भी दिखता है पर वह अपेक्षाकृत बहुत छोटा है)। महत्त्व की बात यह है कि ये दोनों टीले सुरक्षा दीवार से घिरे थे। छोटे टीले पर पहले हड़प्पा संस्कृति से पूर्व की संस्कृति के लोग बसे हुए थे, फिर हड़प्पा संस्कृति के लोग अन्यत्र से आकर यहाँ पर बसे। बड़े टीले पर सिंधु सभ्यता और प्राग् सिंधु संस्कृति के अवशेष साथ-साथ मिले। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि सम्भवतः हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों और कालीबंगा हड़प्पा साम्राज्य (?) की तीन राजधानियाँ थीं (विस्तार के लिए देखिये परिशिष्ट 'सिंधु सभ्यता की सम्भावित राजधानियाँ')। गढ़ी ही नहीं बल्कि नीचे नगर की बस्ती का भी रक्षात्मक दीवार से घिरा होने के कारण कालीबंगा का सिंधु सभ्यता के स्थलों में विशिष्ट स्थान है।

उत्तर प्रदेश

आलमगीरपुर- सन् 1958 तक हड़प्पा-संस्कृति के अवशेष गंगा-यमुना दोआब में नहीं मिले थे। किन्तु इसी साल यमुना की सहायक हिण्डन नदी के बायें तट पर उससे 3.21 किलोमीटर की दूरी पर इस संस्कृति के अवशेष मिले। यह मेरठ से साढ़े तीस किलोमीटर पश्चिम और दिल्ली से लगभग 45 किलोमीटर उत्तर पूर्व में है। यहाँ पर भारत सेवक समाज का शिविर लगाया जा रहा था तो अचानक कुछ पुराकालीन सामग्री प्रकाश में आयी। भारतीय पुरातत्त्व विभाग के अधिकारियों द्वारा परीक्षित होने पर यह सिंधु संस्कृति-कालीन प्रतीत हुई। कालांतर में किये गये उत्खननों से इसकी पुष्टि हुई। यहाँ उत्खनन करने पर सिंधु प्रकार के मृद्भाण्ड, मृत्पिण्ड और मनके मिले। आलमगीर से प्राप्त सामग्री ह्रासोन्मुखी हड़प्पा सभ्यता की द्योतक है। यहाँ पर एक भी मुद्रा नहीं मिली और सिंधु सभ्यता के कुछ भाण्डों के प्रकार भी यहाँ पर अनुपलब्ध हैं।

गुजरात

शि. रंगनाथ राव ने सुझाया है कि सिंधु सभ्यता के लोगों का सौराष्ट्र में पदार्पण सम्भवतः व्यापारिक कारणों से हुआ। अनुमानतः लोथल में इस

सभ्यता का पदार्पण मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा नगरों की नींव पड़ने के अल्पकाल (लगभग अर्द्ध-शताब्दी) के भीतर ही हो गया था। रंगपुर की नींव लोथल के कुछ समय बाद पड़ी (देखिये नीचे)। राव का मत है कि सौराष्ट्र के और उसके समीप के सिंधु सभ्यता के कुछ स्थल प्राचीन समुद्रतट पर स्थित हैं और वे इसके द्योतक हैं कि सिंधु सभ्यता के लोग सौराष्ट्र में समुद्री मार्ग से आये होंगे। जो स्थल समुद्र तट से कुछ दूर हैं वे व्यापारिक लाभ के लिए अथवा आर्थिक परिस्थितियों के कारण बसाये गये होंगे। लेकिन जगतपति जोशी ने हाल ही में कच्छ में किये सर्वेक्षणों एवं उत्खननों के आधार पर मत व्यक्त किया है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने सौराष्ट्र आने के लिए भूमि-मार्ग का प्रयोग किया। लेकिन इस संबंध में सांकलिया की धारणा कि कुछ लोग भूमि-मार्ग और कुछ समुद्री मार्ग से सौराष्ट्र में आये होंगे, अधिक समीचीन लगती है।

रंगपुर- रंगपुर लोथल से लगभग 50 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में और अहमदाबाद के दक्षिण-पश्चिम में, भूतपूर्व लिम्बिडि राज्य में, भादर नदी के तट पर, धुन्धुका रेलवे स्टेशन से करीब 5 किमी. की दूरी पर है। 1934 में रंगपुर के टीले को सड़क-निर्माण के सिलसिले में खोदने पर कुछ मृद्भाण्ड मिले जिन्हें हड़प्पा सभ्यता का करार दिया गया। माधोसरूप वत्स ने 1931-34 में, मोरेश्वर दीक्षित ने 1947 में शि. रंगनाथ राव ने 1953-54 में इस टीले का उत्खनन कराया। वत्स और धुर्ये ने इसे हड़प्पा संस्कृति का स्थल घोषित किया था, किन्तु दीक्षित ने इसमें संदेह व्यक्त किया। राव द्वारा अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र पर उत्खनन किये जाने पर न केवल यह हड़प्पा संस्कृति का केंद्र निश्चित रूप से सिद्ध हुआ बल्कि इसमें हड़प्पा संस्कृति के ह्रास के काल के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। राव का अनुमान है कि सिंधु सभ्यता का प्रारंभ रंगपुर में लोथल से आगे बाढ़ पीड़ित लोगों द्वारा हुआ और इसलिए रंगपुर में सिंधु सभ्यता का उदय लोथल से बाद में हुआ। लेकिन सांकलिया के मतानुसार इस बात की पूरी संभावना है कि रंगपुर और लोथल दोनों ही स्थलों में इस सभ्यता का प्रारंभ लगभग एक ही समय में हुआ।

रंगपुर की खोदाई में सबसे नीचे लघु अश्म मिले। इनके साथ कोई भाण्ड नहीं पाये गये। इसके बाद यहाँ पर सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृति के अवशेष मिले जिसके केवल भाण्ड ही ज्ञात हैं। इसमें (1) लाल अभ्रकी – जिसमें हत्थेदार कटोरा और बाहर की ओर फैले रिम वाला छोटा बर्तन (2) पाण्डु रंग का बर्तन जिसमें घड़े और तश्तरियाँ हैं और (3) खुरदरे घूसर बर्तन मुख्य हैं। इसके बाद सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं जो विकसित

सिंधु-संस्कृति के चरण के द्योतक हैं। रंगपुर में सिंधु सभ्यता के विशिष्ट स्मारक, नालियाँ, कच्ची ईंटों के सुरक्षा दुर्ग, मृद्भाण्ड, आभूषण, और बांट और मृत्पिण्ड मिले हैं; किन्तु 'मातृदेवी' की मूर्तियाँ और मुद्राएं नहीं मिलीं। हड़प्पा संस्कृति के मृद्भाण्डों से भिन्न कुछ नये आकार-प्रकार के मृद्भाण्ड मिले हैं। यहाँ पर प्राप्त फलक चकमक पत्थर की जगह जैस्पर से बने थे। ऊपरी स्तरों में चमकीले लाल मृद्भाण्ड की संस्कृति के अवशेष मिले जो ह्रासोन्मुखी सिंधु सभ्यता से ही विकसित हुई थी। सिंधु सभ्यता के उपकरणों के साथ ही काले-लाल भाण्ड भी मिले। मृद्भाण्डों तथा अन्य पुरातात्त्विक वस्तुओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यहाँ पर सिंधु सभ्यता का अंत अचानक नहीं हुआ अपितु वह मध्य भारतीय ताम्र-पाषाण संस्कृति के सम्पर्क में आकर परिवर्तित हुई और अंततः अपना अस्तित्व विलीन कर बैठी।

लोथल- लोथल सौराष्ट्र क्षेत्र में सिंधु सभ्यता का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थल है। यह टीला अहमदाबाद जिले में इसी नाम के नगर से लगभग 16 कि.मी. दक्षिण में सरगवाला गांव की सीमा में स्थित है। संभवतः प्राचीन काल में यह साबरमती और भीगावा नदियों के संगम पर स्थित था, किन्तु आज यह संगम टीले से लगभग सवा तीन किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में है। यहाँ पर किये गये उत्खनन से सिंधु सभ्यता के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा है।

लोथल का टीला आज लगभग 3.22 किमी की परिधि में फैला है। उत्खाता शि. रंगनाथ राव के मतानुसार आज यह अपने मूल आकार का आधा ही रह गया है। टीला तो बहुत ऊँचा नहीं (यह लगभग 3.5 मीटर ही ऊँचा है) परन्तु खुदाई में 6.7 मीटर गहराई तक प्राचीन अवशेषों की प्राप्ति हुई है। सबसे नीचे अभ्रकी लाल रंग के मृद्भाण्ड मिले हैं जो राव मतानुसार सिंधु सभ्यता के लोगों के आने से पहले के लोगों के हैं। ये लोग ताम्र से परिचित थे। वे उल्टे रखकर बर्तन पकाने की विधि (inverted firing) से काले-लाल प्रकार के भाण्ड बनाते थे। यह कहना कठिन है कि इस संस्कृति का उद्गम भारतीय भूमि में हुआ अथवा विदेश में। सिंधु सभ्यता काल में भी लोथल में इस तरह के भाण्ड बनते रहे थे।[1] इसके बाद नगर के पूरे जीवन-काल में एक ही सभ्यता-सिंधु सभ्यता रही। नगर सुनियोजित था। और सीधी सड़कों द्वारा खण्डों में विभक्त था। नालियों का सुदर प्रबंध था। कब्रिस्तान बस्ती से

---

1. अभ्रकी भाण्डों के साथ अन्य निम्न उपकरण मिले हैं - मिट्टी के तकुए, पत्थर के मनके, शंख की चूड़ी, हाथी दांत और ताँबे के उपकरण। विशेषतया ताम्र का प्रयोग इस संस्कृति के लोगों का पर्याप्त उन्नत होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

थोड़ी दूर पर था। प्रायः सिंधु सभ्यता के सभी प्रकार के विशिष्ट उपकरण, बर्तन, मुद्राएं, बाट-बटखरे, आभूषण, ताम्र तथा पाषाण उपकरण आदि यहाँ मिले हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि सिंधु सभ्यता के काल में समुद्र भी इसके नजदीक ही लगभग 5 किलोमीटर के भीतर था। यहाँ पर एक गोदी मिली है जो समुद्री आवागमन तथा व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण थी। पश्चिमी एशिया के साथ सिंधु सभ्यता के व्यापारिक सम्पर्क में लोथल का महत्त्वपूर्ण योगदान था। राव के मतानुसार लोथल में सिंधु-सभ्यता के लोग 2400 ई. पू. में आये। यहाँ पर संस्कृति के पाँच प्रकाल मिले हैं। एक से चार प्रकाल हड़प्पा संस्कृति के हैं जिन्हें 'ए' चरण की संज्ञा दी गई है। पांचवे प्रकाल को 'बी' चरण नाम दिया गया है। 'बी' चरण में हड़प्पा संस्कृति के साथ नये तत्त्वों का सम्मिश्रण पाया गया है। लोथल कई बार भीषण बाढ़ से क्षतिग्रस्त हुआ। लोथल में इस विकसित सिंधु सभ्यता के बाद ह्रासोन्मुखी और किंचित परिवर्तित सिंधु सभ्यता के दर्शन भी होते हैं। राव ने लोथल को नगर माना है जिसकी जनसंख्या विकसित काल में 10 से 15 हजार रही होगी। पोस्सेहल का मत है कि इसकी जनसंख्या एक-दो हजार रही होगी और इसके लिए नगर से कस्बा शब्द अधिक उपयुक्त रहेगा। लोथल में कच्चा माल काफी मिला। मनकों का तो कारखाना ही मिला है। समूचे हाथी दाँत भी मिले हैं। ऐसी धारणा है कि लोथल में निर्मित वस्तुएं उस क्षेत्र के लोगों के लिए ही पर्याप्त नहीं रही होंगी, बाहर भी भेजी जाती रही होंगी। और साथ ही बाहर से कच्चा माल भी प्राप्त किया जाता रहा होगा। ताँबा और सेलखड़ी राजस्थान से लाये गये होंगे, सीप अरब सागर के तटीय क्षेत्र से। लाँघनाज में ताम्बे का चाकू, चपटे वृत्ताकार मनके, काले लाल भाण्ड लोथल की तरह के पाये गये हैं। पोस्सेहल की धारणा है कि लोथल, समीपस्थ आखेट, वासीर कन्दमूल और फल-फूल पर निर्भर रहने वाले लोगों से व्यापारिक संपर्क बनाये हुए थे। वे उनसे कच्चा माल, प्राप्त करते थे और उन्हें बदले में निर्मित वस्तुएं देते थे। उनके अनुसार वास्तव में लोथल की स्थिति इन शिकार और जंगली फलमूल एकत्र करने वाले लोगों और मोहेंजोदड़ों, हड़प्पा, आदि सिंधु सभ्यता के केन्द्रों के बीच तालमेल बिठाने की थी। ये सिंधु-सभ्यता के नगर लोथल के माध्यम से इन यायावर लोगों का कच्चा माल प्राप्त करते थे। लोथल के लोगों का संपर्क इस तरह एक ओर विकसित सिंधु सभ्यता के लोगों और दूसरी ओर इन यायावर लोगों से होने से उसकी सामाजिक दशा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। पोस्सेहल का तो कहना है कि ये परिस्थितियाँ जाति व्यवस्था के पनपने के लिए उपयुक्त लगती हैं।

रोजदि- रोजदि भादर नदी के तट पर राजकोट से लगभग 55 किमी. दक्षिण में स्थिति है। यहाँ पर आवासित स्थल को बड़े-बड़े पत्थरों की दीवार से घेर कर सुरक्षित किया गया था। सुरक्षा के लिए इस प्रकार की व्यवस्था हड़प्पा सभ्यता में अपने ढंग की है। घर लगभग दो फुट ऊँचे कच्ची ईंटों के चबूतरे पर बने थे जिन पर मिट्टी कूट कर ऊपर से चूना बिछाया गया था। रोजदि की संस्कृत को तीन चरणों में बांटा गया है। 'ए' चरण में हड़प्पा प्रकार के बर्तन, आभूषण, ताम्र उपकरण तथा लघुपाषाण उपकरण मिले जिनके निर्माण में फ्लिट के स्थान पर जैस्पर का प्रयोग हुआ है। इस काल का अंत अग्निकांड से हुआ। 'बी' चरण भी हड़प्पा 'ए' की ही तरह का था, पर इसमें कुछ पांडु मृद्भाण्ड और कुछ काले-लाल मृद्भाण्ड भी मिले हैं। 'सी' चरण में बिना तराशें पत्थरों की इमारतों के अवशेषों के साथ 'प्रभास' प्रकार के बर्तन भी मिलते हैं।

सुरकोटड़ा- कच्छ जिले में अदेसर से 12 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित सुरकोटड़ा की खोज श्री जगतपति जोशी ने 1964 ई. में की और इसका उत्खनन भी उन्हीं के निदेशन में किया। 1 ए (प्रथम काल के प्रथम चरण) में यहाँ पर गढ़ी और आवास क्षेत्र मिला है। गढ़ी के बाहर परकोटा से घिरा बड़ा क्षेत्र था। परकोटा कच्ची ईंटों और मिट्टी के लोंदों से बना था और 5 से 8 रद्दे तक पत्थर से आच्छादित था। आवास स्थल भी कच्ची ईंटों की रक्षा दीवार से सुरक्षित था। रक्षा दीवार नींव के पास लगभग सात मीटर चौड़ी थी। इस काल के अधिकांश मृद्भाण्ड अन्यत्र प्राप्त सिंधु सभ्यता के बर्तनों से मिलते-जुलते हैं यद्यपि कुछ पूर्ववर्ती संस्कृति के संपर्क के भी द्योतक हैं। शवाधान के उदाहरण मुख्यतः अस्थि-कलशों के रूप में मिले हैं। यहाँ पर बढ़ी चट्टान से ढकी एक कब्र मिली है जो सिंधु सभ्यता में अपने ढंग की एक ही है। प्रथम काल के द्वितीय चरण में, जिसका अंत एक भीषण अग्निकांड से हुआ था, सिंधु सभ्यता के बर्तनों के साथ ही एक नयी तरह का लाल भाण्ड भी मिला है। तृतीय चरण में भी यहाँ सिधु सभ्यता के तत्त्व विद्यमान रहे, किन्तु इस चरण में सफेद रंग के चित्रित काले और लाल भाण्ड काफी संख्या में पाये गये। घोड़े की हड्डियां इस चरण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं।

मालवण- यह काठियावाड़ के सूरत जिले में ताप्ती नदी के निचले मुहाने पर स्थित है। संभवतः यह सिंधु सभ्यता का एक बंदरगाह था। आल्चिन तथा जोशी ने 1967 में इस स्थल का पता लगाया और 1970 में यहाँ पर सीमित उत्खनन किया। यहाँ पर उपलब्ध साँस्कृतिक सामग्री दो काल की है -

प्रथम काल में सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण के द्योतक तथा सैन्धवोत्तर संस्कृति सम्बन्धी ताम्राश्म उपकरण मिले, और द्वितीय काल के उपकरण ऐतिहासिक काल के हैं। प्रथम काल में पूर्व-पश्चिम जाती हुई एक खाई मिली जो 1.50 मीटर चौड़ी थी और 18.30 मीटर तक लम्बाई में मिल चुकी है। संभवतः यह सिंचाई के लिए नहर थी। उत्तर की ओर कच्ची ईंटों का चबूतरा मिला। इस काल में लाल, पाण्डु, चमकीले लाल, काले और लाल इत्यादि प्रकार के मृद्भाण्ड मिले हैं। ये मृद्भाण्ड इस बात के द्योतक हैं कि मालवण में मध्य भारतीय, (मालवा), दक्कनी और सौराष्ट्र के ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृति का संगम रहा। यही नहीं, यह भी संभावना है कि आन्ध्र कर्नूल क्षेत्र का प्रभाव भी इस स्थल की संस्कृति पर पड़ा। यहाँ पर विभिन्न प्रकार के पत्थरों के बने शल्क और क्रोड, ताँबे और काँसे के उपकरण, सांड की मृण्मूर्तियाँ, कार्नीलियन के मनके, कई जंगली तथा पालतू पशुओं की हड्डियाँ भी पायी गयी हैं।

●●●

अध्याय 2

सिंधु सभ्यता का उद्भव

सिंधु सभ्यता जिस रूप में मिली है वह एक विकसित संस्कृति का रूप है। इसके प्रारम्भिक चरण और क्रमिक विकास के बारे में निश्चित जानकारी नहीं है। सिंधु सभ्यता के जनक कौन थे? वे स्थानीय थे अथवा विदेशी? यदि वे बाहर से आये तो कहाँ से आये, वे किस जाति से संबंधित थे, और शाँतिपूर्वक आये अथवा आक्रमणकारी के रूप में? और यदि भारतीय भूमि के लोग ही इस संस्कृति के निर्माता थे तो एक लघु ग्रामीण संस्कृति से उस महान् नागरिक संस्कृति के क्रमिक विकास के निश्चित सूत्र क्यों नहीं मिलते? इन सब समस्याओं का निश्चित उत्तर देना कठिन है।

इन समस्याओं पर विचार करने के पूर्व इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि मार्शल के उत्खननों और उनके विवरण के अनुसार मोहेंजोदड़ों में भवन निर्माण के सात स्तर उद्घाटित हुए हैं। इन स्तरों को तीन कालों में बाँटा गया है – तीन स्तर अंतिम, तीन मध्य और एक प्रारम्भिक काल का। किन्तु यहाँ पर उनके द्वारा उत्खनित निम्नतम स्तरों के नीचे भी पुरावशेषों के साक्ष्य पाये गये जो जल-स्तर के आ जाने से खोदे नहीं जा सके। निम्नतम खोदे गये स्तरों के अवशेष भी सुविकसित नगर सभ्यता का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। नगर-जीवन की जटिलता, भवनों का सुनियोजित होना, कला एवं उद्योग धन्धों का उत्कर्ष, इन सबके विकास में कई पीढ़ियों का संचित और क्रमिक विकासशील ज्ञान अपेक्षित होता है। उनकी चित्रलिपि के अक्षर चिह्नों का विकास साधारण चित्रों से हुआ होगा जो दीर्घावधि तक कुशलतापूर्वक विकास करने के पश्चात् ही एक निश्चित रूप धारण कर सके होंगे। इतर देशों से व्यापार-वाणिज्य का विशेष विकास नगर-संस्कृति के विकासकाल में ही सम्भव हुआ होगा। किन्तु विकास के प्रथम चरणों के द्योतक साक्ष्य अप्राप्य हैं। विद्वानों का यह सोचना सही लगता है कि क्या पता मोहेंजोदड़ों में जलीय स्तर के नीचे ही सैंधव सभ्यता के मूल की कुंजी छुपी हो? डेल्स के 1964-65 में वे धन (ड्रिलिंग) द्वारा अप्रयुक्ता धरती तक अवशेष निकाले पर इससे भी समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हुआ। अब तक जो तथ्य उपलब्ध हैं उन्हीं के आधार पर यहाँ सिंधु सभ्यता के मूल पर विचार किया जायेगा। एक मत सिन्धु संस्कृति के उद्भव का श्रेय मेसोपोटामिया की संस्कृति को देता है, दूसरा

ईरानी-बलूचीसिध संस्कृतियों और भारत की ग्रामीण संस्कृतियों से इसे विकसित मानता है।

मेसोपोटामिया में संस्कृति का विकास कालक्रम की दृष्टि से सिंधु संस्कृति से पहले हुआ था। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि सम्भवतः सभ्यता का विचार यहीं पर सबसे पहले उद्भासित हुआ था, अतः कुछ विद्वान मेसोपोटामिया की संस्कृति को सिंधु संस्कृति का प्रेरक मानते हैं। उनके अनुसार सभ्यता की भावना सर्वप्रथम मेसोपोटामिया से थल मार्ग द्वारा मिस्र पहुँची, और मिस्र वासियों ने वहाँ की वस्तुकला तथा लिपि को कुछ परिवर्तनों एवं परिवर्धनों सहित अपना लिया। कालान्तर में सभ्यता की यह भावना भारत भी पहुँची और सिंधु सभ्यता की प्रेरक बनी। कतिपय अन्य विद्वानों का कथन है कि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इस अनुमान की गुँजाइश नहीं कि भारतीय धरती पर इस सभ्यता का विकास क्रमिक व धैर्यपूर्ण प्रयासों द्वारा हुआ था। क्रेमर की यह निश्चित धारणा है कि सिंधु सभ्यता से पूर्व की जो संस्कृतियां भारत में मिली हैं उनसे यह नहीं लगता कि उन्हीं से सिंधु सभ्यता का विकास हुआ था। वे मानते हैं कि लगभग 2400 ई. में यहाँ मेसोपोटामिया से लोग आये और उन्होंने यहाँ की परिस्थितियों के अनुकूल अपनी संस्कृति में परिवर्तन कर उस सभ्यता का विकास किया जिसे हम सिंधु सभ्यता के नाम से जानते हैं।[1]

मेसोपोटामिया से इस सभ्यता के अनुप्राणित होने के पक्ष में व्हीलर ने एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह प्रस्तुत किया कि मोहेंजोदड़ों के राजकीय अन्नागार और गढ़ी तथा दक्षिणी पूर्वी बुर्ज की जो प्राप्त अवशेषों में सबसे पहले के निर्माण कार्यों में हैं, चिनाई में लकड़ी के शहतीरों का प्रयोग हुआ है। उनके अनुसार इनके निर्माता कच्ची ईंटों से भवन निर्माण करने के अभ्यस्त थे और चूँकि इस तरह की निर्माण प्रक्रिया मेसोपोटामिया में विशेष रूप से लोकप्रिय थी, अतएव ऐसा लगता है कि मेसोपोटामिया के लोग ही सिंधु सभ्यता के जनक थे।

गार्डन का तर्क है कि मेसोपोटामिया के लोगों ने संभवता के मूल तत्त्वों को लेकर नये वातावरण के अनुरूप उन्हें ढाल कर एक शताब्दी के भीतर ही अपनी दूरदर्शिता और अध्यवसाय से संस्कृति का ऐसा प्रतिरूप तैयार किया जो कि दीर्घकाल तक चला। उनके अनुसार यह सम्भव नहीं लगता कि मोहेंजोदड़ों

---

1. इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि क्रेमर यह मानते हैं कि जो लोग सुमेर से आये वे स्वयं सुमेरी नहीं थे बल्कि वहाँ के मूल वासी (उबेदी) थे जिन्हें सुमेरी लोगों ने पराजित कर उनके क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था।

जैसे नगर का विकास हड़प्पा संस्कृति के ग्रामों से हुआ, अतः ऐसी संभावना अधिक है कि बाहर से आये लोगों ने विकसित सभ्यता के तत्त्वों को यहाँ पर नवीन पृष्ठभूमि में आरोपित कर आमरी संस्कृति के ग्रामों को प्रभावित किया और हड़प्पा संस्कृति पर विकास द्रुतगति से होने के फलस्वरूप इस संस्कृति ने आमरी की खेतिहर अर्थ व्यवस्था को अपने प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत कर लिया। गार्डन का अनुमान है कि मेसोपोटामिया के लोग समुद्री मार्ग से, समुद्र के किनारे-किनारे होकर आये। वे टायनबी की इस धारणा को इस संदर्भ में उद्धृत करते हैं कि समुद्र से यात्रा के समय लोग कुछ चुने हुए उपकरण ही अपने साथ ले जाते हैं। इन चुने हुए उपकरणों को भी छोटे-टुकड़ों में ही ले जाया जाता है और नये स्थल में पहुंचने पर उन्हें नये ढंग से जोड़ा जाता है जिससे वे मूल से भिन्न लगने लगते हैं। समुद्री मार्ग से आने के पश्चात् नये वातावरण में नये सिरे से नयी चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करने के फलस्वरूप ये लोग नई संस्कृति का विकास कर सके।

गार्डन का कहना है कि हड़प्पा संस्कृति के नगरों में निर्माण कार्य के लिये कच्ची ईंटों का प्रयोग थोड़ा बहुत सभी चरणों में मिलता है (मुख्य रूप से चिनाई में भराई के लिए)। ऐसी भी संभावना है कि इस संस्कृति के आदि निर्माता कच्ची ईंटों से मकान बनाते रहे हों और कालांतर पक्की ईंटों का उपयोग करने लगे हों - जो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के भवन-निर्माण की मुख्य विशेषता है। यह भी लगता है कि बाहर से आने वालों को यहाँ पर जो लोग मिले वे भी उन्नतिशील थे और नागरिकता का कुछ सबक सीख चुके थे। शायद नवागन्तुकों ने इन्हें प्रभावित करने के लिए ही गढ़ियाँ बनायी हों।

सांकलिया ने बलूचिस्तान के कुछ स्थलों पर पाये गये वर्गाकार या आयताकार चबूतरों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ये ऊपर की ओर क्रमशः संकरे होते हुए सीढ़ियों की तरह बने हैं। कुछ तो 10 मीटर से भी अधिक ऊँचे हैं और उनके सिरे पर पक्की और कच्ची ईंटों से निर्माण किया गया है। उन्होंने मत व्यक्त किया है कि यदि ये जिगुरेट के अवशेष हैं तो ये बलूचिस्तान में मेसोपोटामिया के प्रभाव के द्योतक हो सकते हैं। व्हीलर तो सिंधु सभ्यता के कृत्रिम चबूतरों और मेसोपोटामिया के कृत्रिम जिगुरेट के टीलों को एक ही प्रकार के राजतंत्र की प्रेरणा से निर्मित होने की भी संभावना मानते हैं। उनके अनुसार हड़प्पा के बैरक जैसे भवन सुमेर के समान पुरोहित-नियंत्रित उद्योग से संबंधित लगते हैं। लेकिन वे मानते हैं कि ये समानताएं मेसोपोटामिया से सीधे ही सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा सीखने के निश्चित प्रमाण नहीं माने

जा सकते और सामाजिक प्रगति के समान स्तर पर पहुंचने के उपरांत सिंधु सभ्यता के लोग स्वतः भी उनका विकास कर सकते थे।

मेसोपोटामिया को सिंधु संस्कृति के उद्भव का श्रेय देने के मत के विरोध में कुछ प्रबल तर्क दिये गये हैं। एक तर्क यह है कि मेसोपोटामिया वाले इस सभ्यता के जनक थे तो उनकी लिपि और सिंधु सभ्यता की लिपि में इतनी भिन्नता क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में गॉर्डन का कहना है कि इसका सही कारण बताना तो कठिन है पर कदाचित् या तो उन्होंने मूल स्थान से अपनी अलग राष्ट्रीय विशेषता बनाये रखने के उद्देश्य से लिपि में भिन्नता रखी अथवा ऐसा इसलिए किया कि यहाँ के मूल निवासियों की वाणी को व्यक्त करने के लिए मेसोपोटामिया में प्रचलित लिपि पर्याप्त नहीं थी। ज्ञातव्य है कि हड़प्पा लिपि में तीन सौ या उससे कुछ अधिक चिह्न हैं। वे विद्वान इस बात की भी संभावना मानते हैं कि यह जान-बूझकर सुधारात्मक परिवर्तन किये जाने का उदाहरण भी हो सकता है। पर इस सुधार किये जाने में अधिक समय नहीं लगा। उनका कहना है कि मोहेंजोदड़ों में मुद्राएं वहाँ के नीचे के स्तरों में नहीं मिलती, और द्रवी-मोम विधि से मूर्तियों का निर्माण भी वहाँ पर दूसरे चरण से ही शुरू हुआ, जबकि यहाँ पर बसने वाले लोगों का मेसोपोटामिया के लोगों से संपर्क हुआ।

व्हीलर के कथनानुसार विचार प्रबल होते हैं और अनुकूल परिस्थितियों में बहुत शीघ्र फैलते हैं और नागरिकता के भाव को नये परिप्रेक्ष में कुशलतापूर्वक क्रियात्मक रूप देने से नगर निर्माण कला के क्षेत्र में सिधु सभ्यता के निर्माता प्रारम्भ से ही मेसोपोटामिया से आगे बढ़ गये होंगे। कुछ ऐसे मेधावी लोग रहे होंगे जिन्होंने नदियों की बाढ़ की चुनौती स्वीकार की और एक निश्चित योजना के आधार पर नगर-निर्माण किया जिसकी प्रमुख विशेषता थी नदी से सुरक्षा की व्यवस्था उन्होंने लोगों को संगठित किया होगा क्योंकि ऐसे कार्यों में सामूहिक सहयोग अपेक्षित है। बांध बनाये गये, नहरें निकाली गयीं और कृषिकर्म का विकास हुआ। संक्षेप में, वातावरण पर विजय प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया गया और एक औद्योगिक तथा व्यापारिक समाज का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त समय-समय पर नगर क्षतिग्रस्त हुए तो उनका जीर्णोद्धार भी किया गया। प्रारंभ से ही संस्कृति विस्तार बिना किसी विशेष दीर्घकालीन चिंतन के एकाएक तीव्र गति से हुआ।

किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि सिंधु संस्कृति और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों में कई आधारभूत भिन्नताएं हैं। यह सच है कि मेसोपोटामिया में,

पुरातत्त्व के साक्ष्यों के अनुसार, सिंधु सभ्यता से भी पूर्व नागरिक सजगता के प्रमाण मिलते हैं, किन्तु सिंधु सभ्यता में नगर का नियोजन एवं सार्वजनिक स्वच्छता की व्यवस्था को मेसोपोटामिया ही नहीं वरन् विश्व की समस्त प्राचीन सभ्यताओं में श्रेष्ठ पाया गया है। मेसोपोटामिया में मन्दिर महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, किन्तु सिंधु सभ्यता के किसी भी स्थान पर किसी ऐसे भवन के अवशेष नहीं मिले हैं जिन्हें बिना किसी संदेह के मन्दिर की संज्ञा दी जा सके। मेसोपोटामिया और मिस्र के समान भव्य कब्रें भी हड़प्पा संस्कृति में नहीं मिली हैं। शासक वर्ग के लिए हड़प्पा सभ्यता में दुर्ग बनाये गये थे जो विशिष्ट प्रकार के हैं। दोनों सभ्यताओं की भौतिक वस्तुओं यथा आयुध, मृद्भाण्ड, पाषाण मूर्तियाँ, मृण्मूर्तियाँ और मुहरों में महत्त्वपूर्ण असमानताएं हैं। दोनों की लिपि में भी पर्याप्त अंतर है। ये एक दूसरे से अपनी विशिष्टता के कारण आसानी से अलग पहचाने जा सकते हैं।

दूसरे मत के अनुसार हड़प्पा सभ्यता की जो वस्तुएं मेसोपोटामिया के स्थलों में और मेसोपोटामिया की सभ्यता की जो कुछ वस्तुएं हड़प्पा संस्कृति के स्थलों में उत्खननों से प्राप्त हुई हैं वे केवल परस्पर आदान-प्रदान, व्यापार-वाणिज्य की ही सूचक लगती हैं; और इन्हें एक ही क्षेत्र को संस्कृति का उद्गम स्थल सिद्ध करने के लिए निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही सिंधु संस्कृति में भारतीयता के तत्त्व मिलते हैं जो परवर्ती सभ्यता में भी पाये जाते हैं। इन तर्कों के बावजूद व्हीलर, जो सिंधु सभ्यता के विकास में मेसोपोटामिया के योगदान को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते हैं, का कहना है कि नागरिक भावना का मूल स्रोत मेसोपोटामिया ही है, वहीं से इस भावना का प्रचार-प्रसार दूसरे देशों में हुआ, किन्तु उस भावना की विभिन्न क्षेत्रों में भौतिक उपकरणों के निर्माण में जो रूप दिया गया वह पर्याप्त भिन्न हो सकता है। उन्होंने ऐतिहासिक काल से अपने मत की पुष्टि में कुछ साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं।[1]

---

1. व्हीलर कहते हैं कि इस्लामी मस्जिद, गुम्बद वाले मकबरे और दीवार बनाने की प्रेरणा भारतीयों ने फारस से ली। लेकिन शाह अब्बास के इस्फहान की अकबर की फतेहपुर सीकरी से तुलना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि एक ही विचार, उस समय भी जबकि भारत एवं फारस के बीच पर्याप्त राजनैतिक आदान-प्रदान था, दो क्षेत्रों में कितनी भिन्नता के साथ मूर्त रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

कुछ विद्वान सिंधु सभ्यता का मूल ईरानी-बलूची संस्कृतियों को मानते हैं। बलूचिस्तान में पिछले कुछ वर्षों में किये अपने सर्वेक्षण के पश्चात् फेयर-सर्विस इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बलूचिस्तान में चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पूर्व में संस्कृतियों का प्रादुर्भाव हुआ और इनके ईरानी संस्कृतियों का (और अप्रत्यक्ष रूप से ईरानी संस्कृति के माध्यम से ही मेसोपोटामिया की संस्कृति का) पर्याप्त योगदान था।[1] किन्तु इन बलूच संस्कृतियों का निरन्तर भारतीयकरण होता रहा। सिंधु और बलूचिस्तान में हड़प्पा से पूर्व काल की संस्कृतियों का विकास होता गया। उत्खनन के दौरान सिंधु में आमरी और कोटदीजी संस्कृति, दक्षिण-मध्य बलूचिस्तान में नाल और कुल्ली संस्कृति, पंजाब में हड़प्पा में सिंधु सभ्यता से पहले की संस्कृति, और राजस्थान में कालीबंगा में सिंधु सभ्यता के स्तरों के नीचे पूर्ववर्ती संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इन संस्कृतियों के संदर्भ में ऐसे मृद्भाण्ड मिले हैं जो उत्तरी बलूचिस्तान के रानाघुण्डाई नामक स्थल के तृतीय चरण और पेरिआनों-घुण्डाई में प्राप्त मृद्भाण्डों से काफी मिलते-जुलते हैं। कालांतर में शनैः शनैः बलूच संस्कृतियों को भारतीयता ने प्रभावित किया जिसका प्रमाण वहाँ से प्राप्त कूबड़वाला बैल, पीपल की पत्ती का अलंकरण, ईंटों के प्रयोग और नालियों के निर्माण में परिलक्षित होता है। फेयर-सर्विस और कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार सिंधु में हड़प्पा सभ्यता बलूच संस्कृतियों के भारतीयकरण के फलस्वरूप हुए विकास का चरमोत्कर्ष है। बलूचिस्तान के कुल्ली संस्कृति इसके कुछ निकट आती है।[2]

---

1. इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कालीबंगा के प्रथम काल से ही साधारण चूल्हों के साथ तंदूरी चूल्हे भी मिले हैं। तंदूरी चूल्हों का रिवाज आज भारत में पश्चिमी एशिया की अपेक्षा काफी कम हैं। सांकलिया ने सुझाव दिया है कि कालीबंगा प्रथम काल में तंदूरी चूल्हों का मिलना पश्चिमी राजस्थान का ईरान तथा पश्चिमी एशिया से सम्पर्क का द्योतक है।

2. सांकलिया का अनुमान है कि इस बात की पर्याप्त संभावना है कि उत्तरी बलूचिस्तान में डाबर कोट में या सिंधु के मैदान में जैकोबाद से लगभग 22 किमी. दूर स्थित जुडेईरोजोदड़ों के उत्खनन से सिंधु सभ्यता के मूल के बारे में कोई जानकारी मिल जाए। डाबरकोट के टीले में तो सिंधु सभ्यता के अवशेष इससे पूर्वकालिक और परवर्ती संस्कृतियों के बीच बिखरे मिले हैं। उनका यह भी सुझाव है कि मूल के संबंध में जानकारी प्राप्ति के लिए कुछ ग्रामीण स्थलों का विस्तृत उत्खनन करना ठीक होगा।

फेयरसर्विस के अनुसार इस सभ्यता का उद्भव और विस्तार बलूची (ईरानी) संस्कृतियों का सिंधु प्रदेश की आखेट पर निर्भर करने वाली किन्हीं वन्य और कृषक संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव के फलस्वरूप हुआ। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि बहुत पहले पैटरसन ने यह मत व्यक्त किया था कि सुक्कर और रोहरी की पाषाण कर्मशाला लगभग सिंधु सभ्यता के प्रारम्भिक चरण के समय की है। डिर्राटे का मत है कि इस क्षेत्रीय संस्कृति से सिंधु सभ्यता का विकास हुआ होगा। फेयरसर्विस के अनुसार धर्म इस संस्कृति का प्रमुख आधार था जिसके कारण इस संस्कृति के नागरीकरण की दिशा में तीव्र विकास हुआ और कालांतर में इसी अत्यधिक धार्मिकता के कारण इसमें गत्यावरोध भी हुआ। पर्वतीय क्षेत्र से लोग उत्तम भूमि और पर्याप्त जल के लिए पंजाब और सिंधु के मैदान में आये होंगे। पर्वतीय प्रदेश पर आर्थिक रूप से उतना निर्भर नहीं रहा जा सकता जितना कि मैदानी प्रदेश पर। जनसंख्या और मवेशियों के बढ़ने से और शायद पैतृक सम्पत्ति के बटवारे से भी परिवार के भरण-पोषण के लिए कृषि के उपयुक्त भूमि की कमी हो गई होगी। यह भी हो सकता है कि किसी वर्ष फसल खराब हो जाने के कारण वे लोग काफी संख्या में मैदानी अंचल की ओर चल पड़े हों। लेकिन ऐसा नहीं है कि वे पहाड़ी क्षेत्र को छोड़कर सीधे मैदानी क्षेत्र में आ गये हों। वे धीरे-धीरे पड़ावों में आये होंगे और कुछ समय तक पहाड़ी अंचल और मैदानी अंचल के बीच पड़ावों की एक शृंखला सी बन गई होगी। इस संस्कृति के निर्माता जब पर्वतीय क्षेत्र से नदी के तट पर मैदान में आये होंगे तो उनके विचारों में महान परिवर्तन हुआ होगा। नदियों से यातायात व सिंचाई की सुविधा, आहार के लिए मछलियों की सुलभता और निरंतर अपने साथ लायी मिट्‌टी से भूमि को उपजाऊ बनाने की क्षमता संस्कृति के तीव्र विकास व विस्तार में सहायक हुई। किसी महान सभ्यता के विकास के लिए ऐसा वातावरण अत्यंत उपयुक्त और अपेक्षित है। उपजाऊ मिट्‌टी से इतना अन्न सुगमता से पैदा किया जा सकता था जिससे अपनी आवश्यकता पूरी हो जाय और साथ ही उन लोगों का भी भरण-पोषण हो सके जो स्वयं तो कृषि उत्पादन नहीं करते थे और धातु व अन्य प्रकार के विभिन्न उपकरण बनाते थे तथा प्रशासन कार्य चलाते थे। जब धातुकर्म करने वाले तथा अन्य धन्धे करने वाले बिना स्वयं कृषि किए अपने उपकरणों के बदले पर्याप्त खाद्यान्न प्राप्त करने लगे तो वे कहीं अधिक दत्तचित्तता से अपना कार्य करने लगे और नयी विकसित लाभदायक तकनीकों का प्रयोग करने लगे। इससे नागरीकरण का मार्ग तीव्रता से प्रशस्त हुआ। भौगोलिक परिस्थितियों एवं

वातावरण की कठिनाइयों के कारण पर्वतीय क्षेत्र में थोड़ी-थोड़ी दूर पर भी अलग-अलग संस्कृतियों का विकास हुआ, किन्तु मैदानी क्षेत्र में तीव्रगति से विकास और विस्तार की पूरी संभावनाएँ थी।[1] विभिन्न प्रकार की वस्तुएं जिनका अभाव रहा हो, विकसित यातायात के साधनों के कारण व्यापार द्वारा आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। किन्तु नदियों की घाटियों के मैदानों में संस्कृति के लिए जहाँ ये लाभ थे वहीं महान चुनौतियाँ भी थीं जहाँ नदियाँ लाभकारी थीं, वहीं हानिकारक भी थीं। समय-समय पर भयंकर बाढ़ आने के कारण नगर का क्षतिग्रस्त होना स्वाभाविक था। अल्प काल में ही यहाँ पर संस्कृति के प्रथम निर्माताओं को मैदानी क्षेत्र में नदी के तट पर सभ्यता के निर्माण के लाभ और हानि का पूरा परिचय मिल गया होगा और उन्होंने सामूहिक रूप से संगठित एवं अनुशासित होकर कार्य करने की आवश्यकता को भी भली तरह महसूस किया होगा। विकास के क्रमशः होने के साक्ष्यों के अभाव में ऐसी कल्पना की गयी है कि इस सभ्यता का शनैः-शनैः विकास न होकर किसी महान् प्रबुद्ध नेता या नेताओं के सुयोग्य निदेशन में स्फुटन हुआ। यह उल्लेखनीय है कि सिंधु सभ्यता के अन्तर्गत नगरों का ही निर्माण नहीं हुआ बल्कि गाँव भी बसे। वास्तविकता तो यह है कि ग्रामों की संख्या नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक है। बलूचिस्तान और सिंध की ग्रामीण संस्कृतियों के लोगों को इन ग्रामों के बसाने में कठिनाई की गुंजाइश कम ही थी। फेयरसर्विस का कहना है कि जिस प्रक्रिया से सिंधु सभ्यता का निर्माण हुआ वह उस प्रक्रिया का ही तर्कसंगत परिणाम लगता है जो उस समय उसके निकटवर्ती अंचलों में चल रही थी। हाल ही में टेपे याह्या (दक्षिणा ईरान के केरमन प्राँत) के उत्खनन में चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पूर्व के प्रारम्भ की ऐसी संस्कृति का उद्घाटन हुआ है जिसके लोग लेखन कला से परिचित थे। और इस बात की सम्भावना है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने लेखन कला की प्रेरणा इस संस्कृति से ही ली हो।

कुछ विद्वान सिंधु सभ्यता का उद्भव एवं क्रमिक विकास भारत की धरती पर ही होना मानते हैं। राजस्थान के कुछ स्थलों, और कुछ अन्य क्षेत्रों

---

1. फेयरसर्विस का कहना है कि भारत पाक उपमहाद्वीप के सीमावर्ती क्षेत्रों में भेड़ बकरियों के विशाल पैमाने पर पाले जाने का साक्ष्य है; सिंधु सभ्यता में भेड़ बकरी पालने का साक्ष्य तो मिलता है, पर गाय, बैल, भैंस जैसे पालतू पशुओं का विशेष महत्त्व रहा था। यह अन्तर भी यायावर चरवाहे और मैदान में स्थायी रूप से बसे कृषकों के भेद का द्योतक है।

से भी ऐसे मृद्भाण्ड मिले हैं जो प्राग्-हड़प्पा-कालीन मृद्भाण्डों से समानता लिए हैं। इस तरह के मृद्भाण्ड श्री अमलानंद घोष को 1953 में सर्वप्रथम लोथी (बीकानेर क्षेत्र) नामक स्थान पर प्राप्त हुये और बाद में अब लुप्तप्राय सरस्वती-द्वषद्वती नदियों की घाँटियों में उत्तरी राजस्थान के गंगा नगर जिले में अन्य अनेक स्थानों पर भी मिले हैं। कुछ समय पूर्व तक इस तरह के बर्तनों को (जो तब केवल सर्वेक्षण से प्राप्त हुए थे, उत्खनन से नहीं) सिंधु सभ्यता के बाद का समझा जाता था। किन्तु अब कालीबंगा (गंगा नगर जिला) की खुदाई से इस तरह के भाण्ड हड़प्पा संस्कृति से पहले की संस्कृति के सिद्ध हुए हैं। इस संस्कृति को कुछ ने 'सोथी' संस्कृति और कुछ ने 'कालीबंगा प्रथम' नाम दिया है। कुछ विद्वानों ने, जिनमें अमलानंद घोष मुख्य हैं, इस (सोथी) संस्कृति का हड़प्पा संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान की संभावना व्यक्त की है। इस सिलसिले में घोष इस बात पर बल देते हैं कि सोथी और सिंधु सभ्यता के भाण्ड कुछ स्थलों में साथ-साथ मिलते हैं जिसका अर्थ हुआ कि दोनों संस्कृतियाँ कुछ काल तक समकालीन भी रहीं। जगतपति जोशी द्वारा हाल ही में सुरकोटड़ा (कच्च) में किये गये उत्खनन से भी सोथी (कालीबंगा प्रथम) प्रकार के बर्तन और सिंधु सभ्यता के बर्तन प्रारम्भिक चरण से ही साथ-साथ प्राप्त हुये हैं। घोष का मत है कि इस धारणा के बजाय कि बाहर से लोगों ने सिंधु घाटी और अन्य सिंधु सभ्यता के क्षेत्र में आकर उपनिवेश बसाये, यह अधिक तर्क संगत मालूम देता है कि भारत के ही लोगों ने, जिनका मस्तिष्क ग्रहणशील था और जिन्होंने मेसोपोटामिया से नागरिक जीवन का भाव ग्रहण किया था, मेसोपोटामिया के लोगों से अधिक योजनाबद्ध निर्माणकार्यों के द्वारा, शायद उनसे अधिक अच्छे बनाने की होड़ में, सिंधु सभ्यता के नगरों का निर्माण किया था। सम्पन्नता के लिए उन्होंने मेसोपोटामिया से व्यापारिक संबंध स्थापित किये और विभिन्न क्षेत्रों में मानकीकरण किया। निश्चित अधिकारवाद से नदियों की घाटी में स्थित नगरों का शीघ्र चरमोत्कर्ष होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनका कहना है कि सीमित जनसंख्या और एक कुशल बहुमुखी नेतृत्व के द्वारा इस तरह की उपलब्धि एक-दो पीढ़ी में भी हो सकती थी। इनकी इस उपलब्धि को देखकर हो सकता है उनके अन्य क्षेत्रों के लोगों ने भी प्रगति की दिशा में उनका अनुसरण किया हो।[1] सिंधु सभ्यता के ग्रामीण स्थलों, जिनकी संख्या इस

1. वे सिंधु सभ्यता के नरकंकालों पर किए सरकार के शोधकार्यों के परिणामस्वरूप उपलब्ध साक्ष्य का उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार मोहेंजोदड़ों के सैंधव सभ्यता के लोग आधुनिक सिंध के वासियों, हड़प्पा के निवासी आधुनिक पंजाबियों और लोथल के लोग आधुनिक गुजरात के लोगों से मिलते-जुलते हैं, जिससे सिंधु सभ्यता के सभी स्थलों के लोगों का एक ही जाति का न होना सिद्ध होता है।

सभ्यता के नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक है, के लोगों ने पूर्ववर्ती कृषक समुदाय के आर्थिक ढाँचे तथा उनके बर्तन बनाने आदि की परम्परा को काफी हद तक बनाये रखा होगा और इसके साथ ही नये तत्त्वों को भी ग्रहण किया होगा।

मेसोपोटामिया की प्रेरणा से सिंधु सभ्यता के विकास मानने वाले मत के विरुद्ध विद्वानों ने प्रभावशाली तर्क दिये हैं। उनका कहना है कि यदि इस संस्कृति के आदि निर्माताओं ने मेसोपोटामिया से प्रेरणा ली होती तो कम से कम प्रारम्भिक चरण में नगर-योजना की रूपरेखा सुमेरीय रूपरेखा के अनुरूप होती, जो बात नहीं है। साथ ही अगर ये पश्चिमी एशिया से व्यापार द्वारा बहुत जल्दी मानक स्थापित करना चाहते तो उनके माप-तौल पश्चिमी एशिया के नगरों के प्रयुक्त माप-तौल पर आधारित होते, पर ऐसा भी नहीं है। राव के अनुसार सिंधु सभ्यता के विकास का श्रेय उसी संस्कृति को दिया जा सकता है जो कालक्रम की दृष्टि से सिंधु सभ्यता से पूर्व की हो और सिंधु सभ्यता की साथ-साथ उसके विद्यमान होने के साक्ष्य हों, उनमें परिवर्तन के क्रमिक चरण स्पष्ट हों और उनमें वे तत्त्व, सूत्र रूप में ही सही, हों जो सिंधु सभ्यता को विशिष्टता है, यथा नगर-नियोजन, नागरिक स्वच्छता का प्रबन्ध, लेखन कला का ज्ञान, मुद्रा और बांट का ज्ञान, धातु-कला का ज्ञान और ऐसे मृद्भाण्डों का निर्माण उन्हें सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों का पूर्व रूप माना जा सके। उनके अनुसार इस सभ्यता का विकास सिंधु को स्थानीय संस्कृतियों द्वारा शनैः-शनैः दीर्घावधि में हुआ। उनके अनुसार लोथल में इस बात के साक्ष्य मिले हैं कि सिंधु-संस्कृति के लोगों का ही साधारण संस्कृति से विकसित सभ्यता में परिणित होने में पर्याप्त समय लगा।

सिंधु सभ्यता और सोथी (कालीबंगा प्रथम) संस्कृति के मृद्भाण्डों में कुछ समानताएं हैं, यथा मत्स्य शल्क और पीपल की पत्ती का चित्रण, रस्सी के निशान का अलंकरण, साधारण तश्तरी, उथले नांद और बर्तनों के छल्लेदार, आधार, यह साक्ष्य महत्त्वपूर्ण हैं। धर्मपाल अग्रवाल, ब्रिजेट आल्चिन, रेमण्ड आल्चिन आदि विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की है कि सोथी संस्कृति सिंधु सभ्यता से पूर्व की अलग संस्कृति नहीं थी बल्कि वह सिंधु सभ्यता का प्रारम्भिक रूप थी। अग्रवाल के अनुसार ग्रामीण सोथी संस्कृति का ही नागरिक रूप सिंधु सभ्यता है, और यह ग्रामीण स्वरूप उसके नागरिक रूप के साथ कुछ काल तक सम-कालीन रहा। सिंधु सभ्यता के ग्रामीण स्थलों में सोथी का प्रभाव अधिक समय तक रहा यद्यपि उस पर सिंधु सभ्यता का भी प्रभाव

पड़ता रहा। ब्रिजेट और रेमण्ड आल्चिन, कोटदीजी तथा कालीबंगा में 'तथाकथित' प्राग् सिंधु संस्कृति और सिंधु संस्कृति के मध्य निरंतरता मानते हैं। इनके अनुसार मोहेंजोदड़ों में 1932 में 'डी के' क्षेत्र के सातवें खण्ड में निम्नतम अनावतरित स्तरों से उसी प्रकार के भाण्ड मिले जिस तरह के हड़प्पा के गढ़ी वाले टीले में निम्नतम स्तरों से मिले हैं। आल्चिन युगल के अनुसार मोहेंजोदड़ों के वे स्तर आमरी, हड़प्पा और कोटदीजी के प्राग् सिंधु सभ्यता से सिंधु सभ्यता में परिवर्तन के चरण के समकालिक हैं। अब तो व्हीलर ने भी, जो इस सभ्यता के उद्गम के लिए मेसोपोटामिया को मुख्य श्रेय देने के पक्ष में हैं, चेतावनी दी है कि इस सभ्यता के मूल के लिए बाहरी स्रोत ढूँढने में कहीं 'दिया तले अंधेरा' की उक्ति चरितार्थ न हो। यह सही है कि जैसे-जैसे नये साक्ष्य मिलते जा रहे हैं वैसे-वैसे विद्वान सिंधु सभ्यता का मूल भारत में ही होने के विषय में गहराई से सोचने लगे हैं। लेकिन यह भी स्वीकारना होगा कि सोथी संस्कृति और सिंधु सभ्यता में कुछ स्थलों पर निश्चित स्तर भेद और पर्याप्त सांस्कृतिक भिन्नता है। जिन स्थलों में सोथी संस्कृति के बाद सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं उनमें ऐसा लगता है मानों सिंधु सभ्यता उस स्थल पर क्रमशः विकसित न होकर अन्यत्र से अध्यारोपित की गई हो और एक साथ छा गई हो।

●●●

अध्याय 3

नगर-विन्यास एवं स्थापत्य

विस्तृत क्षेत्र में फैली सिंधु सभ्यता के कुछ टीले नगरों के द्योतक हैं और कुछ छोटे कस्बों और गांवों के। ग्रामीण संस्कृति के टीले संख्या में अधिक हैं, किन्तु पुराविद् स्वाभाविक रूप से विस्तृत, वैभवपूर्ण और विकसित नागरिक जीवन की संस्कृति वाले टीलों के प्रति अधिक आकर्षित हुए हैं और ग्रामीण संस्कृति के टीले अपेक्षाकृत उपेक्षित रहे हैं। यही कारण है कि हमें सिंधु सभ्यता के नागरिक जीवन के बारे में उसके ग्रामीण जीवन से कहीं अधिक जानकारी उपलब्ध है। इस अध्याय में हम पहले नगर-विन्यास और भवन-निर्माण संबंधी विशिष्टताओं का उल्लेख करेंगे और फिर कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों के विन्यास और विशिष्ट स्मारकों का विवरण देंगे।

मोहेंजोदड़ों के विशेष संदर्भ में सिंधु सभ्यता के नगर-विन्यास तथा स्थापत्य की सामान्य विशेषताएं[1]

सिंधु सभ्यता के नगर विश्व के प्राचीनतम सुनियोजित नगर हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों तथा सिंधु सभ्यता के कुछ दूसरे स्थलों में जिस तरह का नगर विन्यास हमें मिलता है वह इस बात का साक्षी है कि विधिवत् नक्शा बनाकर और आज-कल की नगरपालिका की तरह की किसी तत्कालीन संस्था द्वारा उसे स्वीकृत कराके ही भवन-निर्माण किया गया होगा। प्रायः सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काटती हैं और नगर को आयताकार खण्डों में विभाजित करती हैं। यही बात लोथल, कालीबंगा, सुरकोटड़ा आदि नगरों में भी दिखायी पड़ती है। मोहेंजोदड़ों में जो सबसे चौड़ी सड़क मिली है वह 10 मीटर से कुछ अधिक चौड़ी है, जिसे पुराविदों ने राजपथ नाम दिया है। सड़कों के निर्माण में हवा के रुख का भी ध्यान रखा गया था। हवा के झोंकों से सड़कों के दोनों ओर के मकानों की वायु शुद्ध हो जाती थी। चौड़ी सड़कों पर कई बैलगाड़ियाँ, एक साथ समानान्तर चल सकती थीं। मोहेंजोदड़ों, हड़प्पा, लोथल

---

1. इस शीर्षक के अंतर्गत यदि किसी स्थल विशेष का उल्लेख नहीं है तो विवरण मोहेंजोदड़ों के साक्ष्य पर आधारित है।

आदि स्थलों में सिंधु सभ्यता काल की सड़कों के बारे में जो जानकारी मिली है उससे पता चलता है कि उस काल की किसी भी सड़क को ईंट आदि बिछाकर पक्का नहीं बनाया गया था। केवल मोहेंजोदड़ों की एक सड़क पर टूटे बर्तन और खण्डित ईंटें मिली हैं जिससे ऐसा लगता है कि इस सड़क को पक्का बनाने की दिशा में प्रयोग किया जा रहा था। न जाने क्यों यह ठीक नहीं समझा गया। कच्ची सड़क के कारण गर्मी में धूल उड़ती रही होगी धूल से निवारण के लिए शायद नगर-पालिका ने पानी छिड़कने का प्रबंध किया रहा होगा; किन्तु वर्षा के कारण इन सड़कों में कीचड़ भर जाता रहा होगा। ऐसी परिस्थिति में बैलगाड़ियाँ कैसे चलती रही होंगी और लोग पैदल कैसे यात्रा करते रहे होंगे, यह आसानी से समझ में नहीं आता। सड़कों की सफाई का प्रबंध अवश्य उत्तम लगता है।

भवन विभिन्न आकार-प्रकार के हैं। इनकी पहचान धनाढ्यों के विशाल भवन, सामान्य जनों के साधारण घर, दुकानें, सार्वजनिक भवन इत्यादि से की जा सकती है। साधारणतया घर पर्याप्त बड़े थे और उनके मध्य में आंगन होता था। आंगन के एक कोने में ही भोजन बनाने का प्रबंध रहता था और इर्द-गिर्द चार या पाँच कमरे बने थे। प्रत्येक घर में स्नानागार और घर के गंदे पानी की निकासी के लिए नालियों का प्रबंध था। कई घरों में कुएं भी थे गलियां 1 मीटर से 2.2 मीटर तक चौड़ी थीं। ये गलियां चक्करदार या भूल-भुलैया जैसी नहीं हैं, जैसा कि भारत की अन्य कई एशियाई देशों के नगरों में अधिकतर होती हैं; वे सीधी हैं, और निश्चय ही उनका निर्माण योजनाबद्ध तरीके से किया गया था।

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों दोनों नगर लगभग 5 किलोमीटर के घेरे में बसे थे। इन दोनों नगरों तथा कालीबंगा, सुरकोटड़ा आदि की नगर-निर्माण योजना में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है। इनमें प्रत्येक स्थान पर दो मुख्य टीले हैं - एक छोटा किन्तु ऊँचा और दूसरा बड़ा किन्तु अपेक्षाकृत नीचा। इतना ही नहीं, सभी में छोटा ऊँचा टीला बड़े नीचे टीले के पश्चिम स्थित है और गढ़ी का द्योतक है। कालीबंगा और हड़प्पा में गढ़ी और निचले नगर के बीच खाली जगह है। मोहेंजोदड़ों में इस बात के साक्ष्य दिखते हैं कि गढ़ी और निचले नगर के मध्य नहर या सिंधु नदी की एक शाखा बहती थी। लोथल और सुरकोटड़ा में गढ़ी और निचला नगर दोनों एक ही सुरक्षा दीवार से रक्षित थे।

सिंधु संस्कृति के नागरिक भवनों के निर्माण में सजावट और बाहरी आडम्बर के विशेष प्रेमी नहीं थे। उनके भवनों में न अलंकरण ही दिखता है

और न विविधता ही। यह उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक काल में अलंकरण भारतीय स्थापत्य का आवश्यक अंग रहा है। नगरों के ध्वंसावशेषों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे आधुनिक व्यवसायिक नगरों के अवशेष हों। संभवतः सिंधु सभ्यता के लोगों की व्यवसायिक बुद्धि ने उन्हें स्थापत्य में सुन्दरता से कहीं अधिक उपयोगिता की ओर ध्यान देने को प्रेरित किया हो। कई विद्वानों, विशेषतः पिगट ने भवन-निर्माण शैली में एकरूपता की आलोचना की है, जो उनके अनुसार लोगों के अत्यधिक परंपरावादी दृष्टिकोण का फल है। सिंधु सभ्यता में न तो सुमेर की भाँति विशाल मन्दिरों के अवशेष मिले हैं और न मिस्र की जैसी प्रभावशाली कब्रें। इस सभ्यता की ईंटों में वह चित्ताकर्षक कारीगरी नहीं है जो हमें परवर्ती कालीन सारनाथ, भीतरगांव और पहाड़पुर के स्मारकों में प्रयुक्त ईंटों में दिखलाई पड़ती है। कालीबंगा का एक फर्श का उदाहरण एकमात्र अपवाद है जिसके निर्माण में अलंकृत ईंटों का प्रयोग हुआ है।

यों काष्ठ-कला के विकास में प्राचीन भारत अग्रणी रहा है, यहाँ तक कि हमें चट्टान से काटकर बनाये गये चैत्यों में भी, जहाँ काष्ठ का प्रयोग आवश्यक नहीं था, काष्ठ प्रयुक्त मिलता है। अतः यह भी संभव है कि परवर्ती काल की भाँति सिंधु सभ्यता की इमारतों में स्थापत्य तथा सजावट के लिए काष्ठ का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता रहा हो, किन्तु उसके अवशेष अब नहीं बचे हैं।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा जैसे नगरों का भवन-निर्माण सादा होते हुए भी उच्च कोटि का है। इन दोनों नगरों में भवन निर्माण के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि सिंधु सभ्यता के समकालीन मेसोपोटामिया में पक्की ईंटों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। सिंधु सभ्यता के ही कई स्थलों, यथा लोथल, रंगपुर आदि में भवनों का निर्माण प्रायः कच्ची ईंटों से हुआ था। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की इमारतों के उस भाग के निर्माण में, जो बाहर दिखाई देता था, कहीं भी खण्डित ईंटों का प्रयोग नहीं किया गया। केवल भराव के लिए ही खण्डित ईंटों का उपयोग हुआ है। ईंटें नदियों से लायी गयी मिट्टी से बनायी जाती थी। खुले भट्ठों में पकाने के कारण इनका रंग लाल हो गया है। इनके पकाने में पर्याप्त मात्रा में ईंधन जलाया गया होगा। गीली ईंटों को आज की भाँति समतल मैदान में बिछाकर सुखाया जाता था। इसी कारण कुछ ईंटों पर पशुओं के पद-छाप हैं। चन्हुदड़ों की एक ईंट पर पड़े बिल्ली और कुत्ते के पद-चिह्नों के निरीक्षण से स्पष्ट है कि किसी कुत्ते ने बिल्ली की पीछा किया था और इसी भागा-दौड़ में वे दोनों सुखाने के लिए बिछायी गयी गीली ईंटों के ऊपर से गुजरे थे।
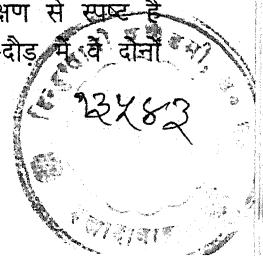
सिंधु सभ्यता में प्रयोग की गई ईंटें अलग-अलग आकार-प्रकार की हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त सबसे बड़ी ईंट 51.43 सेमी x 26.27 सेमी x 6.35 सेमी की हैं। कुछ ईंटों 36.83 सेमी x 18.41 सेमी x 10.16 सेमी की मिली हैं। सबसे छोटी ईंटें 24.13 सेमी x 11.05 सेमी x 5.08 सेमी की हैं। सामान्यतया व्यवहार में लाई गयी ईंटें 27.94 सेमी x 13.97 सेमी x 6.35 सेमी की हैं। सिंधु सभ्यता के प्रायः सभी स्थलों पर, जहाँ भी ईंटों का व्यवहार भवनों के निर्माण में हुआ है, लगभग इसी माप की ईंटें अधिकांशतः प्रयुक्त हुई हैं। इमारतों के कोनों की चिनाई अंग्रेजी के अक्षर एल (L) जैसी समकोणाकार बनी ईंटों से की गयी है। फन्नीदार ईंटों का प्रयोग कुओं की दीवार और मेहराब बनाने में किया गया है।

इमारत की नींव उसके आकार-प्रकार को ध्यान में रखकर कम या ज्यादा गहरी रखी जाती थी। मोहेंजोदड़ों नगर के मध्य प्रकाल के निवासियों ने इमारतों की नींव गहरी रखने का विशेष ध्यान रखा। छोटी-छोटी इमारतों की नीवें अपेक्षाकृत कम गहरी थीं। नींव की भराई में खण्डित ईंटों का प्रयोग हुआ है। नगर के अंतिम प्रकाल में संभवतः निर्धन व्यक्तियों ने अपने मकानों की नींव को गहरा करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने पूर्वकालीन खण्डहरों के मलबे के ऊपर ही, नींव की गहराई की परवाह किये बिना ही इमारत बना दी। मोहेंजोदड़ों में अगल-बगल के घर आपस में संयुक्त दीवार से संबद्ध नहीं थे। उनके मध्य साधारणतः बहुत थोड़ा, लगभग एक फुट का फासला छोड़ दिया जाता था, जिसे दोनों तरफ से ईंटों से बन्द कर दिया जाता था। स्पष्ट है कि ऐसा चोरों से बचाव के लिए किया जाता था। मोहेंजोदड़ों, हड़प्पा, लोथल इत्यादि नगर नदियों के किनारे पर बसे थे। चूँकि उन्हें बाढ़ से नुकसान पहुंचने का लगातार खतरा रहता रहा होगा, अतः उन लोगों ने भवनों को ऊँचाई पर बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया था।

मोहेंजोदड़ों की इमारतों में ईंटें चपटी या खड़ी लगाई गई हैं। स्नानागारों में प्रयुक्त ईंटें प्रायः खड़ी जमा दी गयी हैं जिससे सीलन कम रहे। मकानों के फर्श तीन तरह से बनाये जाते थे - मिट्टी की कुटाई करके समतल बनाकर या कच्ची ईंटें बिछाकर या पक्की ईंटों, का प्रयोग करके। अधिकांशतः फर्श मिट्टी को ठोंक-पीट कर बनाये गये हैं। इस विधि से फर्श बनाना आसान भी होता है और सस्ता भी। महत्त्वपूर्ण इमारतों के फर्श प्रायः पक्की ईंटों से निर्मित हैं। इस तरह के फर्शों की मोटाई एक ईंट से लेकर पाँच ईंट तक पायी गयी हैं। कालीबंगा का एक फर्श अलंकृत ईंटों से बना है जिन पर प्रतिच्छेदी वृत्त

का अलंकरण है (फ. VIII, 1) यह सिंधु सभ्यता के संदर्भ में अलंकृत फर्श का एकमात्र उदाहरण है।

मोहेंजोदड़ों के अधिकांश घरों में स्नानागार थे, जो कि गली की ओर स्थित होते थे जिससे पानी के निकास में आसानी रहे। स्नानागार के फर्श के निर्माण में विशेष सावधानी बरती गयी है। इसके लिए सदैव अच्छी तरह पकाई गई ईंटों का प्रयोग किया गया है। ईंटों के किनारे घिस दिये जाते थे ताकि वे फर्श पर ठीक-ठीक बैठाए जा सकें। मकाइ का कहना है कि कुछ ईंटें आरे से काटकर बिठाई गई हैं। कुछ स्नानागारों में फर्श पर लाल रंग के धब्बे मिलते हैं जो कुछ चमक लिए हैं। हो सकता है कि यह चमक मनुष्यों के बार-बार चलने के कारण घिसने से पैदा हुई हो। फर्श के किनारे पर एक छोटा सा निकास छोड़ा जाता था जिससे गंदा पानी आसानी से बाहर निकल सके। स्नान के लिए प्रायः अलग से एक कमरा होता थां, किन्तु कभी-कभी एक बड़े कमरे के कोने में ही स्नान का प्रबंध कर लिया जाता था। स्नान करते समय लोग झांवे से शरीर को साफ करते थे। सिंधु सभ्यता में झांवे बड़ी संख्या में मिले हैं। कुछ तो इतने इस्तेमाल किये गये थे कि वे पूरी तरह घिस गए और बेकार हो गये थे। स्वच्छता के उद्देश्य के अतिरिक्त, 'धार्मिक अनुष्ठान के रूप में भी लोग स्नान करते थे।'

भीतर की ओर तो मकानों की छोटी-बड़ी सभी दीवारें लगभग सीधी हैं। छोटे भवनों की दीवारों का बाहरी हिस्सा या तो सीधा है या थोड़ा ढाल लिए हैं, किन्तु बड़ी इमारतों की दीवारें प्रायः बाहर की ओर ढाल लिए हैं। मकाइ ने सुझाया है कि दीवारों को ढालू बनाने की मूल प्रेरणा मिट्टी की बनी दीवारों में ढूँढा जा सकता है, किन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि मिट्टी की बनी दीवारें दोनों ओर से ढालू होती हैं जबकि सिंधु सभ्यता की ईंट की दीवारें बाहर की ओर ढालू हैं। कुछ इमारतों में मिट्टी के पलस्तर लगाये जाने के साक्ष्य मिले हैं। संभवतः उस पर पुताई भी की जाती थी। दीवारें आजकल की तुलना में काफी मोटी हैं। मोहेंजोदड़ों व हड़प्पा जैसे नगरों में धनी सम्पन्न लोगों की कमी नहीं रही होगी सुरक्षा की दृष्टि से ही दीवारों को पक्की बनाने का विशेष यत्न रहा होगा। मोटी दीवारों से इमारत की मजबूती तो रहती ही है, साथ ही कमरे ठंडे भी रहते हैं। गरम जलवायु वाले स्थलों में गर्मी से राहत पाने के लिए ऐसी दीवारें विशेष उपयुक्त होती हैं। संभवतः एक से अधिक मंजिल वाले मकान भी थे और कुछ दीवारों को इसलिए भी मोटा बनाया गया होगा ताकि वे ऊपरी मंजिल (या मंजिलों) के भार को भली-भाँति

वहन कर सकें। दीवारों का अनुलम्ब संरेखण अत्यंत सही है जिससे स्पष्ट है कि राज लोगों ने दीवारों को सीधा बनाने में साहुल की सहायता ली होगी।[1]

दीवारों की चिनाई में एक तह लम्बाई में, फिर एक चौड़ाई में, फिर लम्बाई में, इस क्रम से ईंटों को रखा जाता था। इस तरह की जुड़ाई में ईंटों के किनारे एक सीध में नहीं पड़ते अतः दीवार अधिक मजबूत होती हैं। कुछ थोड़े से ऐसे भी दृष्टान्त मिले हैं जिनमें ईंटों के चपटे हिस्से को खड़ा करके रखा गया है। चिनाई की मजबूती की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं, शायद विविधता लाने के लिए ऐसा किया गया होगा। संभवतः ऐसी दीवारों पर पलस्तर नहीं लगाया जाता था ताकि ईंटों की यह विशिष्ट प्रकार की चिनाई दिखाई देती रहे। वास्तव में दीवार की चिनाई में ईंटों को विभिन्न रूप से रखने के जो थोड़े से उदाहरण सिंधु-सभ्यता में मिले हैं, वे ही दीवारों के अलंकरण का आभास देते हैं, अन्यथा दीवारें एक जैसी सपाट हैं।

बेबीलोन में इमारतों की जुड़ाई में गारे के लिए गीली मिट्टी अथवा गिरि पुष्पक (बिटूमिन) का व्यवहार होता था। वहाँ पर चूने से जुड़ाई का प्रचलन सिंधु सभ्यता के बाद में प्रारंभ हुआ। सिंधु संस्कृति में गारे के रूप में मिट्टी का ही मुख्य रूप में प्रयोग हुआ; जिप्सम का मिश्रण ईंटों की चुनाई में गारे के रूप में बहुत कम किया गया। मोहेंजोदड़ों की केवल एक ही इमारत, विशाल स्नानागार, के निर्माण में गिरिपुष्पक का प्रयोग मिला है। यह उल्लेखनीय है कि मोहेंजोदड़ों नगर से लगभग 112 किलोमीटर की दूरी पर चूना पत्थर उपलब्ध था, किन्तु फिर भी वहाँ कि निवासियों द्वारा चूने का प्रयोग मकान की चिनाई में नहीं किया गया। चूने और जिप्सम के मिश्रण का प्रयोग केवल नालियों की जुड़ाई में मिलता है, जहाँ निरन्तर पानी के बहाव के कारण चिनाई को अधिक मजबूत बनाना आवश्यक था। प्राचीन मिस्र में चूने का प्रयोग गारे के रूप में तथा रोमन काल में प्लास्टर के लिए किया जाता था।

जिन इमारतों के निचले खण्ड बच रहे हैं उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि इमारतों में अधिकांशतः वायु प्रवेश और निकास के लिए मार्ग मात्र दरवाजा ही होता था। दरवाजे लकड़ी के बने होते थे और उनके अवशेष प्राप्त नहीं हैं। ये दरवाजे दीवार के मध्य में न होकर एक किनारे पर होते थे। सामान्य द्वार की चौड़ाई लगभग एक मीटर थी, किन्तु कुछ काफी चौड़े भी थे। एक 2.35 मीटर चौड़ा दरवाजा था। संभवतः पशुओं के आवागमन की सुविधा के

1. मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक चूना-पत्थर के उपकरण की पहचान मकाइ (फ. ई. 1, 408) ने साहुल से की है।

लिए इसे इतना चौड़ा बनाया गया था। दरवाजों के चूल के लिए ईंटों के द्वार विवर मिले हैं। खिड़कियों के होने के अत्यल्प साक्ष्य उपलबध (फ. V, 1) हैं। संभवतः नागरिक अपनी धन-सम्पदा को सुरक्षित और गुप्त रखने के लिए बाहर की दीवारों में खिड़कियाँ नहीं बनवाते थे। यह भी संभव है कि खिड़कियाँ कमरे की दीवारों के ऊपरी भागों में रही हों जो अब शेष नहीं रहे। शायद इस क्षेत्र में गर्मी काफी पड़ने के कारण धूप और लू से बचाव के लिए खिड़कियाँ बहुत कम बनाई गयी थीं। अलाबास्टर पत्थर की कुछ खण्डित जालियाँ प्राप्त हुई हैं। हो सकता है कि इनका प्रयोग खिड़की के लिए किया गया हो। कुछ पकाई मिट्टी की जालियाँ भी मिली हैं।

दुर्भाग्य से उत्खात वस्तुओं में, एक अपर्याप्त और धुंधली रूपरेखा अंकित मुद्रा को छोड़कर, किसी वस्तु पर भी किसी भवन का आरेख नहीं मिलता जिससे तत्कालीन भवनों की पूरी रूपरेखा का ज्ञान प्राप्त हो सके। कुछ घरों में सीढ़ियाँ (फ. V, 2) मिली हैं जो दीवारों की खड़ी नालियों के साक्ष्य की भाँति भवन में ऊपरी मंजिल होने का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। अधिकांशतः सीढ़ियों की पैड़ बहुत संकरी थीं और दो पैड़ों के बीच की ऊँचाई काफी थी। मकाइ को केवल एक सीढ़ी ही अपवाद-स्वरूप ऐसी मिली जिसमें पैड़ों की चौड़ाई काफी थी (फ. इ., 168) जिन घरों में सीढ़ियाँ नहीं मिली हैं वहाँ कुछ में हो सकता है लकड़ी की सीढ़ियाँ रही हों जो अब नष्ट हो गई हैं। मोहेंजोदड़ों की तुलना में हड़प्पा में सीढ़ियाँ बहुत कम मिली हैं।

शायद इमारतों की छतें समतल थीं। छतों पर सरकंडों को चटाई की तरह बिछाकर उन्हें रस्सी से गूथ दिया जाता था और उसे कड़ियों के बीच रखकर उसके ऊपर मिट्टी की मोटी तह बिछा दी जाती थी। इमारतों के मलबे से खपरैल और कांसे या तांबे की बनी सरियों जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं हुई। एक अधजली लकड़ी की कड़ी के साथ तांबे का उपकरण पाया गया है जिसके बारे में अनुमान है कि इसका प्रयोग कड़ियों को जोड़ने में कील की तरह किया गया होगा। इसकी कम संभावना है कि भवनों का ऊपर भाग चपटा न होकर शिखरनुमा रहा हो।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में कुछ ऐसे कमरों की रूपरेखा भी मिली हैं जिसमें प्रवेश के लिए कोई दरवाजा नहीं था। संभवतः ऐसे कमरों में ऊपर से सीढ़ी द्वारा पहुँचा जाता था। यह मानना युक्तिसंगत नहीं लगता कि उनका उपयोग निद्रा कक्ष के रूप में किया जाता था। वे या तो किसी धार्मिक अनुष्ठान से संबंधित थे, या इनका प्रयोग गोदामों की तरह अन्न रखने के लिए किया जाता था।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में भवनों में स्तम्भों का प्रयोग कम हुआ है। हो

सकता है कि लोग लकड़ी के स्तम्भों का प्रयोग करते रहे हों जो अब नष्ट हो गये हैं। स्तम्भों के जो अवशेष मिले हैं वे या तो चतुर्भुजाकार हैं या वर्गाकार। गोल स्तम्भ सिंधु सभ्यता में अनुपलब्ध हैं, जबकि इस तरह के स्तम्भ तत्कालीन मेसोपोटामिया की सभ्यता में लोकप्रिय थे, जहाँ संभवतः इस तरह के स्तम्भ बनाने की प्रेरणा खजूर के पेड़ों से मिली थी। सुमेर में अर्धवृत्ताकार अर्ध-स्तम्भों का निर्माण होता था, किन्तु सभ्यता में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। लेकिन वृत्ताकार अथवा अर्धवृत्ताकार स्तम्भों के अभाव का कारण यह नहीं कि सिंधु संस्कृति के लोग गोल स्तम्भ के निर्माण करने में सक्षम नहीं थे, क्योंकि उन्होंने फन्नीदार ईंटों का प्रयोग करके गोल कुएं बनाये थे। गोल स्तम्भ बनाने के लिए भी ऐसी ही ईंटों की आवश्यकता होती है।

उत्खननों से पत्थर के अनेक वृत्ताकार चक्के उपलब्ध हुए हैं। इनमें से कुछ 42.67 सेमी. से 48.51 सेमी व्यास वाले हैं और 24.89 सेमी से 27.45 सेमी. ऊँचे हैं। विद्वानों का विचार है कि इनका प्रयोग लकड़ी के स्तम्भों के शीर्ष भाग की सजावट के लिए किया गया था। पत्थर के अन्य अधिकांश छल्ले काफी छोटे हैं और उनके भीतर भाग का व्यास इतना कम है कि स्तम्भ के शीर्ष भाग की मोटाई कम करके भी इनका प्रयोग स्तम्भ के शीर्ष के रूप में किया जाना कठिन लगता है।

हड़प्पा सभ्यता में टोडा मेहराब (फ. III, 2) का प्रयोग मिलता है। बेबीलोन और मिस्र की संस्कृति में पुराकाल में गोल मेहराब का प्रचलन था, किन्तु मोहेंजोदड़ों नगर में उसे नहीं अपनाया गया। लोथल में अत्यल्प उदाहरण ऐसे हैं जिनसे गोल मेहराब से सिंधु सभ्यता के लोगों का परिचय होने का प्रमाण मिलता है, लेकिन ये अपवाद स्वरूप हैं। सामान्यतः दन्तक मेहराब का ही प्रयोग होता रहा है। सुमेरी और सिंधु संस्कृति के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क था, अतः हड़प्पा एवं मोहेंजोदड़ों के लोग गोल मेहराब से अपरिचित रहे हों इसकी संभावना कम ही है। यदि वे इस तरह की मेहराब बनाना चाहते तो बना सकते थे क्योंकि ये लोग फन्नीदार ईंटें बनाना जानते थे।

मोहेंजोदड़ों के निचले नगर के कुछ मकानों में संडास ढंग से बनाये गये थे। इनकी तुलना पश्चिमी जगत के शौचालयों से की जा सकती है। इन्हें कुछ ढलुआँ बनाया गया था। कहीं-कहीं इनमें सीढ़ीदार नाली की व्यवस्था की गई है जो दीवार से होकर सड़क की नाली से मिलती है। दीवार में जिस स्थान से नाली निकाली गयी है इसकी जुड़ाई में कुशलता दिखलायी गयी है। इस कार्य के लिये ईंटों को घिसकर (या आरी से काट कर?) लगाया गया है।

सड़कों के किनारे स्थित कुछ इमारतों के कोने घिसे मिले हैं। इन स्थानों से बोझ लादे हुए पशु निकलने से यह घिसावट हुई होगी। हड़प्पा

संस्कृति के नगरों की कुछ इमारतों के कोने कुछ गोलाई लिए हुए बनाये गये थे ताकि सामान-लदे जानवर बिना कठिनाई के गुजर सकें।

मोहेंजोदड़ों में इस बात के स्पष्ट साक्ष्य हैं कि समय बीतने पर जनसंख्या बढ़ने के साथ ही ऐसी जगहों पर भी मकान बनने लगे थे जहाँ साधारणतः उनके होने की संभावना नहीं थी। स्पष्ट है कि भवन-निर्माण संबंधी नियमों का पालन कराने में तत्कालीन नगरपालिका जैसी संस्था असमर्थ थी। जैसे-जैसे परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ी, मकान को छोटे-छोटे कमरों में बांटा जाने लगा जिससे भवनों की गरिमा नष्ट हो गई। कुम्हारों के भट्टे जो पहले नगर से बाहर ही बनते थे वे अब नगर के अंदर बनने लगे और उन्होंने प्रमुख सड़कों पर भी अड्डा जमा लिया था।

प्राचीन सभ्यताओं में निकास नालियों का इतना सुन्दर प्रबन्ध और कहीं नहीं मिलता जितना कि सिंधु सभ्यता में। भारत में भी सिंधु सभ्यता के बाद शताब्दियों तक इस तरह का प्रबन्ध नहीं मिलता। ये नालियाँ (फ. III, 1, 2; VII, 1) इस बात की साक्षी हैं कि सिंधु सभ्यता के लोग सफाई के प्रति अत्यन्त सजग थे। कुछ नालियाँ तो थोड़ी ही गहरी हैं लेकिन कुछ आधे मीटर से भी अधिक गहरी हैं। साधारणतया बड़ी नालियों को पत्थर के खण्डों से ढक दिया गया था और छोटी नालियों को बड़ी ईंटों से। पत्थर आसानी से उपलब्ध नहीं था, अतः आशा की जाती थी कि वे नालियों को ढकने के लिए पक्की ईंटों का ही प्रयोग करते। किन्तु, जैसा कि मकाइ ने सुझाया है, नालियों के ऊपर से जहाँ यातायात मार्ग था वहाँ ईंटों के जल्दी टूट जाने की संभावना थी और इसीलिए वहाँ पत्थर का प्रयोग किया गया होगा। घर के कमरों, रसोई, स्नानागार और शौचगृह की निकास-नालियाँ एक बड़ी नाली में मिलती थीं और विभिन्न घरों से निकली ये बड़ी नालियाँ अन्ततः एक बड़ी सार्वजनिक नाली में मिलती थीं। जिस स्थान पर ऊँची सतह से आती कोई नाली किसी दूसरी नाली से मिलती थी वहाँ पर चिनाई कर एक गड्ढा बना देते थे और जहाँ नाली किसी कोण पर मुड़ती थी वहाँ उसे गोलाई लिये बना देते थे। इस गोलाई को लाने के लिए फन्नीदार ईंटों का प्रयोग होता था। नरमोखा (मैनहोल) को बड़ी-बड़ी ईंटों से ढका जाता था जिन्हें हटाकर सफाई की जाती थी। ऊपर की मंजिलों में पानी निकालने के लिए भी नालियाँ होती थीं जो कहीं तो दीवारों में ही ईंटों की जगह खाली छोड़कर बनी होती थीं। कुछ ईंटों पर नाली कटी हुई मिली है। कहीं-कहीं पकाई मिट्टी के बने पाइप की आकृति के परनाले लगाये जाते थे। पक्की मिट्टी के पाइप वाली नालियों के उदाहरण चन्हुदड़ों से विशेष रूप से मिले हैं। मोहेंजोदड़ों में भी इसी तरह के पाइप मिले हैं। ये अलग-अलग हिस्सों में बनाये गये थे और प्रत्येक पाइप का एक

किनारे का व्यास दूसरे से कम होता था जिसको एक दूसरे पाइप के चौड़े हिस्से के भीतर बैठाया जाता था। प्राचीन क्नौलोस और मिस्र में भी इस तरह के मिट्टी के पाइप मिले हैं। कालीबंगा में लकड़ी की नाली के प्रयोग किये जाने के भी प्रमाण मिले हैं। वहाँ पर पेड़ के तने को अन्दर से खोखला करके उसका नाली के रूप में प्रयोग हुआ है। नाली में प्रयुक्त कुछ ईंटों को तो केवल नारे से जोड़ा गया है। किन्तु कुछ पर जिप्सम के चूर्ण का प्रयोग हुआ है। नालियों को ढकने में टोडा मेहराब का प्रयोग भी मिलता है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण विशाल स्नानागार के जलाशय की नाली है। (फ. III, 2) यह 1.87 से 2.59 मीटर तक गहरी है और इसे टोडा मेहराब से ढका गया है। नालियों में बीच-बीच में गड्ढे (चहबच्चे) भी बनाये जाते थे जिनमें कूड़ा-करकट रुक जाता था और नाली में पानी बहता रहता था, फिर इनकी सफाई करके कूड़ा-करकट निकाल दिया जाता था। सड़क की नालियों के किनारे रेत के ढेर मिले हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि नालियों की नियमित रूप से सफाई की जाती थी। किन्तु ये ढेर इस बात के भी द्योतक हैं कि सड़क पर पड़े कचरे को हटाने में कभी-कभी लापरवाही बरती जाती थी। कहीं-कहीं नालियों में बनाये ऐसे गड्डों में उतरने के लिए सीढ़ियाँ भी बनी होती थीं। इन गड्ढों को ढकने के लिए कदाचित लकड़ी के ढक्कन रहे होंगे जो अब नष्ट हो गये हैं। मोहेंजोदड़ों और सिंधु संस्कृति के कई स्थलों में ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जिनमें घर के परनाले या छोटी नालियाँ किसी बड़ी नाली से नहीं जुड़ी हैं; उनमें बहता पानी मिट्टी के वृहदाकार घड़ों में गिरता था जिनके पेंदों में छिद्र कर दिये गये थे। पानी घड़ों के पेंदों से होकर जमीन रिस जाता था, और इकट्ठा हुए कूड़े कचरे की सफाई कर दी जाती थी। कुछ पक्की ईंटों के नाबदान भी मिले हैं। मोहेंजोदड़ों में कुछ नालियाँ ऐसी भी मिली हैं जो कुएं के बिल्कुल पास से जाती थीं। ऐसी दशा में उनका गन्दा पानी रिस कर कुएं में पहुँच सकता था और उसका जल दूषित हो सकता था।

नालियों के निर्माण में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उनसे बहते पानी की छीटें राहगीरों पर न पड़े। वे ढाल पर नालियों को प्रायः सीढ़ीदार बना देते थे जिससे उनमें बहते पानी का वेग कम हो जाए। लोथल की खुदाई से सार्वजनिक नाली का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण मिला है जिसमें घरों की नालियाँ मिलती थीं। इनमें ईंटों को चूने से बहुत ही सफाई से जोड़ा गया है। ईंटें एक दूसरे से बिल्कुल सटाकर जोड़ी गई हैं। ढाल पर इस नाली को सीढ़ादार बनाया गया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता नाली में द्वार का बनाया जाना है। यह द्वार काष्ठ का होने के कारण आज उपलब्ध नहीं है किन्तु द्वार के लिए बनी चूल विद्यमान है जिससे दरवाजा लगे होने का साक्ष्य मिलता है। इस दरवाजे को जालीदार बनाया गया होगा ताकि पानी

उससे छन-छन कर बहता रहे और कूड़ा वहीं रुक जाय। कूड़े की सफाई नियमित रूप से होती रही होगी।

मोहेंजोदड़ों में निर्माण-पुनर्निर्माण के फलस्वरूप भूमि की सतह उठती गयी और उसके साथ ही नालियों को भी ऊँचा करने की आवश्यकता पड़ी। पहले तो वहाँ के निवासियों ने नाली की दीवारों को ही ऊँचा करके आसानी से समस्या सुलझानी चाही, पर जैसे-जैसे सड़क की ऊँचाई उठती गई और इतने से काम नहीं बना तो फिर उन्होंने पुरानी नालियों के ऊपर नई नाली का निर्माण किया और इसके लिए अक्सर पुरानी नाली के ही गड्ढों का पुनः प्रयोग किया। अन्तिम प्रकाल में नगर-निर्माण के विभिन्न पहलुओं में ह्रास के चिह्न मिलते हैं और नालियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं। इस प्रकाल में नालियों के निर्माण, उनकी सफाई और उनके अनुरक्षण की व्यवस्था में शिथिलता आ गई थी।

सिंधु सभ्यता के कुएं (फ. V, 3) वृत्ताकार अथवा अण्डाकार थे। मोहेंजोदड़ों की अपेक्षा हड़प्पा में बहुत कम कुएं मिले हैं। मोहेंजोदड़ों में प्राप्त कतिपय उदाहरणों के साक्ष्य से ऐसा पता लगता है कि यहाँ पर सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक काल में कुल कुएँ सार्वजनिक प्रयोग के लिए न होकर केवल व्यक्तिगत प्रयोग के लिए थे, क्योंकि उन तक पहुँचने के लिए सड़क से कोई मार्ग नहीं था। पर समय बीतने पर और जनसंख्या बढ़ने के कारण कुछ व्यक्तिगत कुओं को जनता के प्रयोग के लिए भी खोल देना पड़ा। मोहेंजोदड़ों में अन्तिम काल में जब सभ्यता ह्रासोन्मुखी थी, नये कुएं बनाये जाने के साक्ष्य नहीं मिलते, वे पुराने कुओं से ही काम चलाते रहे। एक तो कुएं खोदने में ध ान का व्यय बहुत होता ओर दूसरे पिछले काल की ईंटों को खोदकर नीचे कुएं खोदना कठिन भी था। जिन कमरों में कुएं हैं उनकी फर्श भली-भाँति ईंटें बिछाकर बनायी गयी थी और उनमें घड़े रखने के लिए गहरी जगहें बनी थीं। कभी-कभी ईंटें चिनकर बैठने के लिए थोड़ी ऊँची जगह बना दी गई थी, लोग वहीं बैठकर जल भरने के लिये अपनी बारी की प्रतीक्षा करते रहते होंगे और न जाने कौन से गीत गुनगुनाते रहते होंगे, कौन से दुखड़े रोते रहे होंगे, क्या हंसी ठिठोली होती रही होगी। अधिकांश कुएँ लगभग .91 मीटर व्यास वाले हैं पर .61 मीटर व्यास वाले छोटे कुएं और 2.13 मीटर व्यास वाले बड़े कुएं भी मिले हैं। नगर की सतह ऊँची होने से समय-समय पर कुएं की जगत की सतह को भी ऊपर उठाना पड़ा था। कुछ अपवादों को छोड़कर कुओं की जगतें बहुत नीची होती थीं और निश्चय ही उनमें बच्चों के गिरने का खतरा रहा होगा। ऐसे भी कुएं मिले हैं जो ठीक स्थिति में हैं किन्तु फिर भी लोगों ने निर्माण के थोड़े समय पश्चात् ही उनका उपयोग त्याग दिया था, शायद इस कारण कि उसमें कोई गिर गया था।

सिंधु सभ्यता के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों भवन के एवं अन्य निर्माण-कार्य
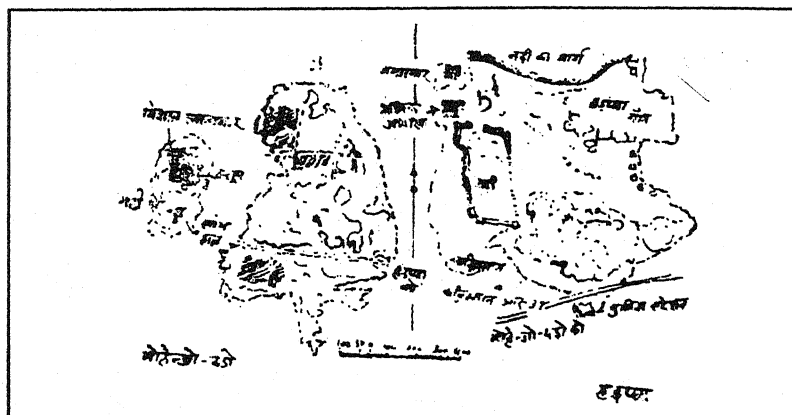
आरेख 2

हड़प्पा

(आरेख 2-3)

लाहौर-मुल्तान रेलवे लाइन पर गिट्टी बिछाने के लिए और मकान बनाने के लिए लोगों ने हड़प्पा के टीले की पुरानी ईंटों को खोद-खोद कर प्रयोग किया, जिस कारण यहाँ पर भवनों की रूपरेखा उतनी अच्छी दशा में नहीं मिली जितनी कि मोहेंजोदड़ों में मिली है।

हड़प्पा का पश्चिमी टीला गढ़ी थी और पूर्वी टीला निचला नगर। गढ़ी आकार में लगभग समानांतर चतुर्भुज है जो उत्तर से दक्षिण दिशा में 420 मीटर और पूर्व से पश्चिम 196 मीटर परिमाप में है। इसका धरातल दक्षिण की अपेक्षा उत्तर की ओर अधिक ऊँचा है। इसकी सर्वाधिक ऊँचाई लगभग 12 से 15 मीटर के बीच में है और इसके निर्माण में मिट्टी और कच्ची ईंटों का प्रयोग हुआ है।

हड़प्पा की गढ़ी के दक्षिण में किये उत्खनन से पता चला है कि सिंधु संस्कृति के पूर्व इस स्थान पर पूर्वगामी लोग कभी निवास करते थे। इनके मृद्भाण्ड, जो सिंधु संस्कृति के मृत्पात्रों से भिन्न हैं, बलूचिस्तान में विशेषकर

राना घुंडई तृतीय काल के तृतीय (C) चरण से प्राप्त मृद्भाण्डों से सादृश्य रखते हैं। कालांतर में नदी की बाढ़ से सम्पूर्ण आवास-भूमि पर रेत की तह
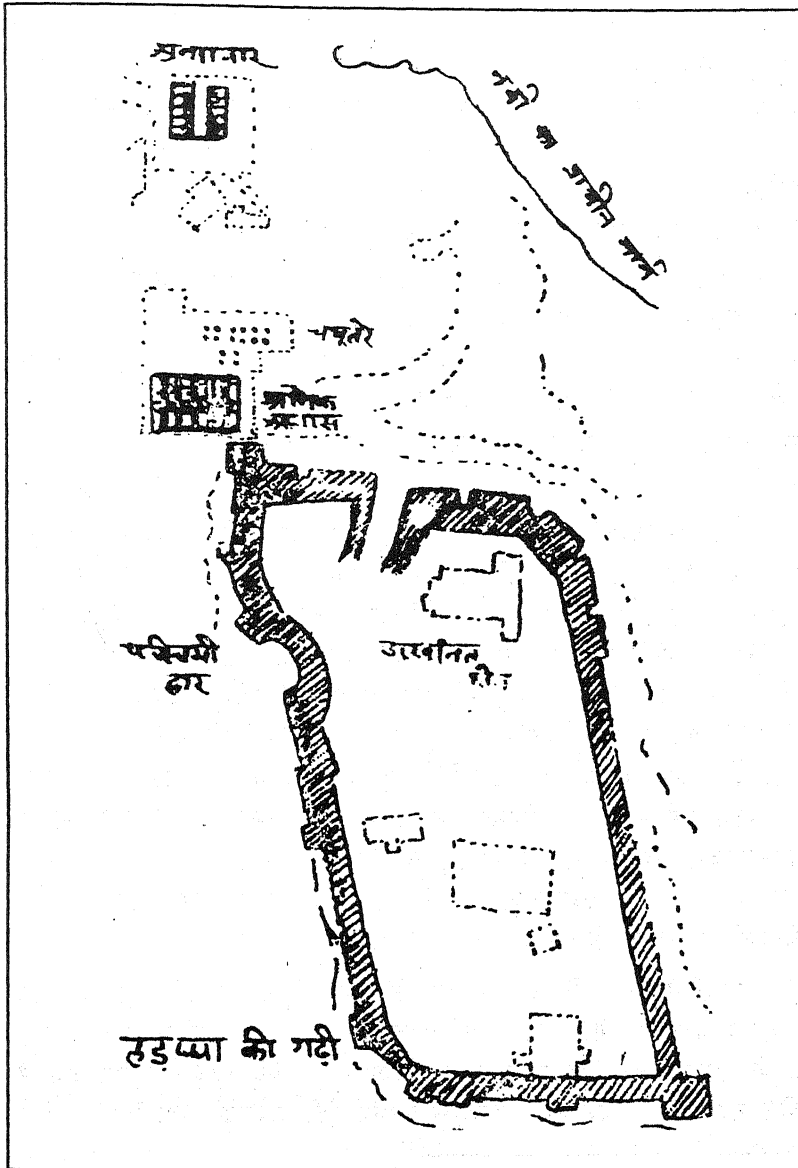
आरेख 3

जम गई और फिर इसके ऊपर सिंधु संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। इस संस्कृति के प्रथम चरण में ही गढ़ी (दुर्ग) बनाये जाने के साक्ष्य हैं। सर्वप्रथम सुरक्षा के लिए एक सुदृढ़ दीवार (फ. 1, 1) का निर्माण किया गया। यह दीवार आधार पर 12.19 मीटर चौड़ी थी और उसकी ऊँचाई 10.66 मीटर थी और वह शनैः शनैः ढलुआं होती गई थी। इसका निर्माण तो कच्ची ईंटों तथा मिट्टी से हुआ था, किन्तु बाहरी भाग पर पक्की ईंटें लगाई गई थीं। प्रारंभिक अवस्था में ईंटों की दीवार की पीठ सीधी बनायी गयी थी, किन्तु बाद में असुरक्षा की आशंका से उसे तिर्यक कर दिया गया था।

सुरक्षा प्राचीर के अन्दर लगभग 6 मीटर से 7.6 मीटर तक ऊँचा कच्ची ईंटों का एक चबूतरा बनाया गया था जिसकी बाहरी सतह पर पक्की ईंटें लगाई गई थीं। निर्माण की दृष्टि से यह रक्षा दीवार से अलग था किन्तु कालक्रम के संदर्भ में यह समकालीन सिद्ध हुआ है। इसी चबूतरे पर 6 बार इमारतें बनायी गयीं जो बनावट की दृष्टि से अलग-अलग चरणों की प्रतीत होती हैं।

गढ़ी की बाहरी दीवार पर कुछ दूरी पर बुर्ज बने थे जिनमें से कुछ दीवार से अधिक ऊँचे थे। गढ़ी के भीतर मुख्य प्रवेश-द्वार उत्तर की ओर था अनुमान है कि इस द्वार से जो पथ निकलता था वह विशिष्ट प्रकार का था और शायद किसी अनुष्ठान से संबद्ध था। द्वार की रक्षा के लिए रक्षकों के कमरे भी बनाये गये थे। दक्षिण सिरे पर भी गढ़ी में प्रवेश के लिए एक सीढ़ी का प्रबंध था। गढ़ी के प्राचीर को मूलतः खण्डित ईंटों से बनाया गया था। प्राचीर क्षतिग्रस्त हो जाने पर उसकी जगह पर नींव के थोड़े ऊपर से अच्छी और पकाई गई ईंटों से पुनर्निर्मित किया गया। गढ़ी निर्माण के दूसरे प्रकाल में उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर पश्चिमी द्वार बंद कर दिया गया। ऐसा संभवतः सुरक्षा की दृष्टि से किया गया होगा।[1] रक्षा-दीवार का निर्माण आक्रमण और बाढ़ दोनों से बचाव के निमित्त किया गया था।

आधुनिक काल में निर्माण-कार्यों के लिए ईंटें खोदकर निकाल ली जाने के कारण गढ़ी के भीतर तो किसी महत्त्वपूर्ण भवन की रूपरेखा नहीं मिली। गढ़ी के बाहर उत्तर में 6.1 मीटर ऊँचे 'एफ' टीले पर 275 वर्गमीटर क्षेत्र में प्राचीन नदी के तट पर कुछ महत्त्वपूर्ण इमारतों की रूपरेखा मिली हैं।

---

1. शि. रंगनाथ राव इस बात की भी संभावना मानते हैं कि ऐसा बाढ़ से सुरक्षा की दृष्टि से किया गया था।

उत्खनन से छोटे-छोटे घरों की एक बस्ती का उद्घाटन हुआ है। कुल मिलाकर सात घर उत्तर में तथा आठ घर दक्षिणी पंक्ति में थे। ये घर एक दूसरे से लगभग एक मीटर की दूरी पर बने थे। इस बस्ती के चारों ओर दीवार थी। प्रत्येक घर का आकार लगभग 17 x 7.5 मीटर है। इनका निर्माण एक जैसी योजना पर हुआ था। कुछ विद्वानों ने इन मकानों की तुलना तेलएल-अमर्ना के श्रमिकों की बस्ती से की है, किन्तु वे बस्तियाँ नगर का अंग न होकर उससे अलग थीं, जबकि हड़प्पा के ये मकान गढ़ी से बाहर होते हुए भी उससे सीधे संबद्ध लगते हैं। संभवतः ये प्रशासन की ओर से निर्मित श्रमिकों के आवास थे। इन्हीं भवनों के समीप सोलह भट्टियाँ मिली हैं और उनके पास ही मिट्टी का मूषा। मूषा का प्रयोग तांबा गलाने के लिए किया गया होगा। भट्ठी में कंडे और कोयले का प्रयोग हुआ था। यह तांबे के उपकरण बनाने का कारखाना लगता है। शि. रंगनाथ राव का सुझाव है कि इन छोटे-छोटे घरों में शायद ताम्रकार ही रहते थे।

इस श्रमिक आवास में उत्तर दिशा में ईंटों के 18 वृत्ताकार चबूतरे (फ. 11, 12) पाये गये हैं। 1946 में व्हीलर द्वारा किये गये उत्खनन में जो चबूतरा मिला उसका व्यास 3.2 मीटर है। इनमें ईंटों को खड़े रूप में रखा गया है। इनमें से प्रत्येक के मध्य में एक गड्ढा है। इनके बीच राख और जले गेहूँ व जौ की भूसी के अवशेष मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत था कि ये यज्ञ की बेदियाँ थीं, किन्तु व्हीलर का यह मत कि इनका उपयोग अनाज कूटने के लिए होता था, अधिक समीचीन लगता है। उनके अनुसार इनमें लकड़ी की ओखली लगायी गयी होगी जो अब नष्ट हो गई है। इस तरह से अनाज कूटने की प्रथा कश्मीर में आज भी प्रचलित है।

इन चबूतरों और रावी नदी के मध्य में, दोनों ही से लगभग 32 मीटर की दूरी पर, एक ऐसी इमारत के अवशेष (फ. IV, 2) मिले हैं जिसे अन्नागार माना गया है। इस विशाल भवन का निर्माण खण्डों में किया गया था। ऐसे बारह खण्ड मिले हैं जो छः-छः की दो कतारों में हैं। इन दो कतारों के मध्य 7 मीटर का फासला है। प्रत्येक खण्ड का क्षेत्रफल लगभग 15.24 x 6.10 मीटर है। इनकी नींव लगभग 1.22 मीटर ऊँची कुटी हुई भूमि पर रखी गयी थी। पश्चिमी में दक्षिणी किनारा पक्की ईंटों से सीढ़ीदार बनाया गया था। इस प्रकार दीवार तिर्यक हो गयी। दक्षिण किनारे पर पूरे हिस्से में पुश्ता बनाया गया था और पूर्वी-दक्षिणी ओर जगह की कमी है, अतः अन्नागार में अन्न उत्तर में नदी की ओर से ही लाया ले जाया जाता रहा होगा और अन्न लाने

में नदी मार्ग का विशेष उपयोग रहा होगा। अन्नागार के फर्शों में लकड़ी के शहतीर लगाये गये थे। इनके बीच में खाली जगह थी जिससे हवा आ जा सके और जमीन की नमी से अनाज बचा रहे। रोमन युग में अन्नागार कुछ इसी तरह बनाये जाते थे। हड़प्पा के इन 12 अन्नागार-भवनों का पूरा क्षेत्र 2745 वर्ग मीटर से अधिक था जो मोहेंजोदड़ों के मूलतः आयोजित अन्नागार के क्षेत्र के लगभग बराबर ही था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अन्न से आगमन-निगमन को निरंतर बनाये रखने के लिए अन्नागार शासन द्वारा नियंत्रित थे। यहीं से संभवतः अन्न का वितरण वेतनभोगियों में जिनमें शासकीय अधिकारी, लेखाकर्मी तथा श्रमिक वर्ग सम्मिलित थे, किया जाता था। बैरक जैसे भवनों में रहने वाले लोग संभवतः राजकीय श्रमिक थे जो मुख्यतः विशाल अन्नागार से संबद्ध थे। इनका कार्य अन्नागार में अन्न पहुँचाना, वहाँ से अनाज निकालना, उसे कूटना और फिर शासन के आदेशानुसार उसको यथास्थान पहुँचाना था। कुछ श्रमिक समीपस्थ भंट्ठियों पर भी काम करते रहे होंगे। राव का कहना है कि ये बैरक ठठेरों के रहने के लिए भी हो सकते थे। मोहेंजोदड़ों नगर में तो अन्नागार का निर्माण गढ़ी के अन्दर ही किया गया था। तत्कालीन अर्थव्यवस्था में (देखिये अध्याय 'आर्थिक जीवन') और अन्ततः शासन प्रबन्ध में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। दजला-फरात की घाटी के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में अन्नागारों की व्यवस्था थी, जैसा कि वहाँ से प्राप्त लेखों से ज्ञात होता है। निर्माण-विशिष्टता एवं वैज्ञानिकता की दृष्टि से सिंधु संस्कृति के अन्नागार अपना सानी नहीं रखते। यूनान के 'क्लासिकल युग' से पहले ऐसे विशिष्ट अन्नागार विश्व भर में कहीं नहीं मिलते।

मोहेंजोदड़ों

(आरेख 2)

मोहेंजोदड़ों में गढ़ी होने का ज्ञान सर्वप्रथम 1950 में व्हीलर द्वारा की गई खुदाइयों से हुआ। हड़प्पा की भाँति यहाँ भी गढ़ी कच्ची ईंटों द्वारा निर्मित काफी ऊँचे चबूतरे पर बनायी गयी थी। इसकी ऊँचाई दक्षिण में 6.1 मीटर और 'उत्तर की ओर 12.19 मीटर तक है। उत्तर-दिशा में गढ़ी के ऊपर द्वितीय शती ईसवी में निर्मित बौद्ध स्तूप है। नगर जीवन के मध्य प्रकाल के समय, जब यह सभ्यता चरम विकास पर थी, गढ़ी का निर्माण हुआ था। नगर

की सार्वजनिक इमारतें, जैसे विशाल स्नानागार, इसी समय बनायी गयीं। इससे भी पूर्व के स्तरों में सिंधु संस्कृति की जो इमारतों के अवशेष होंगे उन्हें जलस्तर के 9.15 मीटर तक ऊपर उठने के कारण अनावृत्त नहीं किया जा सका है। 1964-65 में गहरी ड्रिलिंग करने से अप्रयुक्ता धरती तक (मैदान से 11.9 मीटर की गहराई तक) पहुँच सम्भव हो पायी, किन्तु वहाँ तक वैज्ञानिक विधि से उत्खनन से नहीं हो पाया। 1950 में वहाँ तक खोदने का प्रयास मोटर पम्प से किया गया जो पूरी तरह सफल नहीं हो पाया। हाँ इतना अवश्य स्पष्ट हो गया कि गढ़ी के निर्माण और पहले की संस्कृति के मध्य काल-व्यवधान नहीं है।

नदी में जलस्तर का हर वर्ष ऊँचा हो जाना सिंधु संस्कृति के लिए विकट समस्या थी। इसी कारण आरम्भ से ही गढ़ी की सुरक्षा के लिए ईंट और मिट्टी की सहायता से 13.1 मीटर चौड़े एक पुश्ते का निर्माण कर दिया गया था। उसी समय प्लेटफार्म के साथ-साथ जाने वाली एक पक्की ईंट की नाली का बाद में 4.27 मीटर की ऊँचाई पर पुनर्निर्माण किया गया। बाद में पुश्ते को बाहर से भी मजबूत बनाया गया।

मोहेंजोदड़ों की गढ़ी के दक्षिण-पूर्वी किनारे पर पक्की ईंटों का बना एक ठोस बुर्ज मिला है। चबूतरे का समकालीन बुर्ज 9.15 x 6.71 मीटर का था। इसकी नींव विशाल थी। इसकी ईंटों की दीवार की चिनाई में उसे दृढ़ बनाने के लिए लकड़ी का भी प्रयोग किया गया था। लकड़ी का प्रयोग अन्नागार में भी हुआ है जो इसी काल में निर्मित हुआ था। भवनों को मजबूत करने हेतु लकड़ी का प्रयोग कच्ची ईंटों से बनाये जाने वाले भवनों की चिनाई में तो समझ में आता है किन्तु पक्की ईंटों के साथ इस तरह चिनाई में लकड़ी का प्रयोग मजबूती की दृष्टि से ठीक नहीं। इससे व्हीलर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस टीले के अवशेष और इमारतें यह प्रकट करती हैं कि इनके निर्माता वे थे जो पकाई हुई ईंटों की इमारतें बनाने की अपेक्षा कच्ची ईंटों की इमारतें बनाने की कला में प्रवीण थे, और चूँकि मेसोपोटामिया में निर्माण कच्ची ईंटों से ही प्रायः होता था, अतः वह इस बात की संभावना मानते हैं कि शायद वहीं से आये लोगों ने ही मोहेंजोदड़ों में इस तरह का निर्माण किया होगा। दक्षिण-पूर्वी कोने में और भी बुर्ज रहे थे जिनमें से दो तो मूलतः पृष्ठ द्वार के दोनों पार्श्व में थे। कालान्तर में द्वारा बन्द कर उस स्थान पर चबूतरा बना दिया गया। इस चबूतरे के मलबे में से उत्खनन के दौरान पकी मिट्टी की कई गाफन-गलियाँ मिलीं। गढ़ी के पश्चिमी क्षेत्र में भी एक बुर्ज मिला है जिसके उत्तर में एक द्वार था।

मोहेंजोदड़ों की सबसे महत्त्वपूर्ण इमारत स्नानागार (फ. 1, 2) है। वह स्तूप-क्षेत्र से लगभग 57.9 मीटर की दूरी पर स्थित है। इस महत्त्वूपर्ण नगर में, मार्शल के अनुसार, मध्य प्रकाल में इस भवन का निर्माण हुआ था। यह इमारत काफी बड़ी है। इसका विस्तार उत्तर से दक्षिण की ओर 54.86 मीटर और पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग 33 मीटर है। इसकी दीवारें आधार में 2.13 से 2.43 मीटर तक चौड़ी हैं और बाहर की ओर छह डिग्री का ढाल लिए हैं। इस भवन के प्रांगण में पूर्व में एक तालाब है जो लगभग 11.89 मीटर लम्बा, 7 मीटर चौड़ा और 2.44 मीटर गहरा था। इसके चारों ओर कुछ ऊँचा चबूतरा बना था। इस तालाब के अन्दर पहुँचने के लिए उत्तर और दक्षिण में लगभग 2.43 मीटर चौड़ी सीढ़ियाँ बनायी गयी थीं। उत्खनन के समय सीढ़ियाँ क्षतिग्रस्त मिलीं। उत्तर की ओर बनी 9 सीढ़ी के पैड़ों के अवशेष मिले। दक्षिण में बनी सीढ़ी नमक के प्रभाव से बिल्कुल नष्ट हो चुकी थी। मूलतः इसमें 10 पैड़ियाँ थीं। पैड़ियों का ईंटों को ऐसा लगाया था कि उनका लम्बान वाला भाग बाहर की ओर दिखे। कुछ साक्ष्यों के आधार पर मकाइ ने सुझाया है कि इन ईंटों के ऊपर लकड़ी लगायी थी, वे तो यह भी सुझाते हैं कि शायद लकड़ी के ऊपर तांबे की परत भी थी। अंतिम पैड़ी के साथ एक चबूतरा बना था जो बच्चों और उन लोगों के सुभीते के लिए था जिन्हें तैरना न आने के कारण पानी में डूँबने का डर था। सीढ़ी की अंतिम पैड़ी के नीचे नाली थी जो 23.5 सेमी. चौड़ी और 8.26 सेमी. गहरी थी।

तालाब का फर्श पूरी तरह समतल नहीं था, पर उसे काफी सतर्कता से बनाया गया था। तालाब के निर्माण में उसकी दीवारों को जलरोधी बनाने का और नींव को धंसने से बचाने का पूरा प्रयत्न किया गया था। इस हेतु उन लोगों ने इस तालाब के निर्माण में पहले अच्छी तरह तराशी गई ईंटों की लगभग एक मीटर मोटी दीवार का निर्माण किया था। इसमे प्रयुक्त ईंटें 25.78 x 12.95 x 5.59 सेमी. या 27.93 x 13.1 x 5.65 सेमी. आकार की हैं। जुड़ाई जिप्सम से की गई है और यह इस ढंग की है कि दो ईंटों के बीच कोई अंतर दिखता ही नहीं है। इस दीवार के पीछे की ओर 2.54 सेमी मोटी बिटूमेन लगाया गया और उसे मजबूती देने के लिए उसके पीछे एक पक्की ईंटों की दीवार बनायी गयी थी। इसके बाद अपरिशोधित ईंटों की भराई की गई थी और फिर पक्की ईंटों की दीवार थी जिसे छोटी-छोटी आड़ी दीवारों के द्वारा बरामदे की दीवार से जोड़ दिया गया था, जिसका उद्देश्य संभवतः बाहर की ओर के दबाव को रोकना था। मार्शल का कहना है कि उस उपलब्ध

निर्माण-सामग्री से इससे सुन्दर ओर मजबूत निर्माण की कल्पना करना कठिन है। इतने सालों तक भूमि के नीचे दबे होने पर भी उत्खनन के दौरान यह अच्छी दशा में मिला है।

इस विशाल स्नानागार भवन का दक्षिणी पश्चिमी छोर थोड़ा ढलुआं बनाया गया था। यहीं पर स्नानागार की पश्चिमी दीवार के साथ लगी एक नाली थी जिसके द्वारा पानी के निकास की व्यवस्था थी। तालाब के तीन ओर बरामदे थे और उनके पीछे कई कमरे और गैलरियाँ थीं। पूर्व की ओर एक कमरे में ईंटों की दोहरी पंक्ति से बना सुन्दर कुआं था। स्नानागार के लिए पानी की पूर्ति का यही मुख्य स्रोत था। यों अन्य कुओं से भी कुछ पानी भरा जा सकता था। दूसरे कमरे में ऊपर जाने के लिए जीना था जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ऊपर दूसरी मंजिल थी। कमरे में भारी मात्रा में जला हुआ कोयला और राख पायी गयी है जो निर्माण में काष्ठ के प्रयोग किये जाने का प्रमाण लगती है। उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस इमारत में बाद में बहुत से परिवर्तन और परिवर्धन किये गये थे।

स्नानागार के दक्षिण-पश्चिमी कोने में एक महत्त्वपूर्ण नाली थी। यह नाली स्नानागार के दक्षिण प्लेटफार्म से 12.7 सेमी. की दूरी पर थी। यह पश्चिमी दीवार, जिसकी चौड़ाई 1.4 मीटर है, में होकर जाती है, उसके बाद मिट्टी के भराव से और तत्पश्चात् दूसरी दीवार से। इसके बाद यह नाली एक कमरे से होकर निकलती थी। आगे यह फर्श खुली बनी है। इसके किनारे पर लंबाई में ईंटें बड़े ढंग से जिप्सम तथा बालू की सीमेंट से चिनी हैं। यह नाली आगे 69 सेमी. चौड़ी है और एक 71 सेमी. चौड़ी कड़ीदार छत से गुजरती है। यह छत इतनी ऊँची है कि एक लम्बा आदमी इसके भीतर होकर गुजर संकता है। जहाँ से नाली के ऊपर मेहराब प्रारंभ होती है वह स्थान नाली की सतह में 1.7 मीटर ऊँचा है और मेहराब की छत तक पूरी ऊँचाई लगभग 2 मीटर है।

विशाल स्नानागार की इमारत को वेष्ठित करने वाली बाहरी दीवार बाहर की ओर छह अंश तिर्यक बनी थी। पूर्व तथा दक्षिण दिशा में इस दीवार की मोटाई 1.9 मीटर और पश्चिम में 2.2 मीटर थी। उत्तर में कुछ जगह पर यह 2.34 मीटर मोटी थी। इसकी तथा अंदर के कमरों की दीवारों की नींव में भोंड़ी ईंटों का प्रयोग हुआ था। इसमें 6 प्रवेश स्थान थे - 2 दक्षिण में, 3 पूर्व में तथा एक उत्तर दिशा में। पश्चिम दिशा में शायद ऐसा ही कम से कम

एक प्रवेश-स्थान अवश्य रहा होगा जिसका अब दीवार के क्षतिग्रस्त हो जाने से मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है। दक्षिण की ओर वाली दीवार में 1.93 मीटर और 2.64 मीटर चौड़े प्रवेश-द्वार थे। उत्तर में 1.18 मीटर चौड़ा प्रवेश द्वार था जिसे किसी कारण बंद कर दिया गया था। प्रवेश द्वारों पर फर्श 1.93 मीटर मोटा था। इस विशाल स्नानागार की इमारत का मुख्य प्रवेश द्वार किस तरह का रहा होगा इसका निर्धारण करना कठिन है, किन्तु इसकी विशालता और विशिष्टता देखकर लगता है कि यह काफी प्रभावोत्पादक रहा होगा।[1]

इस विशाल स्नानागार की इमारत के उत्तर में दो पंक्तियों में छोटे-छोटे आठ स्नानकक्ष हैं। इन स्नानकक्षों की माप 2.9 x 1.8 मीटर हैं और उन्हें सावधानी से सुदृढ़ बनाया गया था। इनके दरवाजे आमने-सामने नहीं खुलते थे। कदाचित् गोपनीयता के लिए ही ऐसा प्रबंध किया गया होगा। स्नानकक्षों के बीच की खाली जगह में नाली का भी प्रबन्ध था। इनमें ऊपर जाने के लिए सीढ़ियों का होना और इनकी दीवारों की अत्यधिक मोटाई इस बात की द्योतक लगती है कि मकान दुमंजिले थे। मकाइ का सुझाव है कि इन मकानों में पुजारी रहते थे जो ऊपरी कक्ष में अनुष्ठान और नीचे के कक्ष में स्नान करते थे।

मोहेंजोदड़ों की विशाल स्नानागार की इमारत के पश्चिम की खुदाई में एक अन्य महत्त्वपूर्ण इमारत के अवशेष (फ. II, 1) मिले हैं। इसको 1.52 मीटर ऊँचे पक्की ईंटों से बनाये गये ठोस चबूतरों पर बनाया गया था। यह इमारत पूर्व से पश्चिम 45.72 मीटर लंबी और उत्तर से दक्षिण की ओर 22.86 मीटर चौड़ी है। इसका विस्तार दक्षिण की ओर होता रहा। संभवतः मूलतः इसमें 27 खंड (ब्लाक) थे। इन खण्डों के बीच में संकरी खाली जगह छोड़ी गई थी जिससे वायु का संचार होता रहे। मार्शल के समय यह भवन अंशतः उद्घाटित हो पाया था और उनका मत था कि इस भवन का इस विशिष्ट तरह का निर्माण इसके "धूप-स्नान" के लिये प्रयुक्त किये जाने के लिए किया गया होगा। किन्तु व्हीलर ने 1950 में इस पूरी इमारत के ऊपर से मलबा हटवाया और इसकी रूपरेखा का परीक्षण करके मत प्रकट किया कि यह भवन अन्नागार था, जो अधिक समीचीन लगता है। इस अन्नागार के विभिन्न खंडों में बीच में आड़े-तिरछे मार्ग हैं जिनसे वायु का आवागमन होता था। इमारत के ऊपरी भाग के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग हुआ था। इसकी दीवारें तिर्यक

1. मकाइ ने मार्शल द्वारा सम्पादित 'मोहेंजोदड़ों एण्ड दि इन्डस सिविलिजेशन' में विशाल स्नानागार का विस्तृत विवरण दिया है।

हैं। इमारत के उत्तर दिशा में बने चबूतरे की दीवारें भी तिर्यक बनायी गयी थीं। अन्न के भारी गट्ठर ऊपरी मंजिल के चढ़ाने में इस ढाल से सुविधा रहती थी। इसी स्थल की गढ़ी के दक्षिण-पश्चिमी बुर्ज की तरह इस उत्तरी चबूतरे के निर्माण में भी कच्ची ईंटों से भवन-निर्माण की परम्परा के अनुसार चिनाई में पक्की ईंटों के साथ लकड़ी का प्रयोग किया गया है।

इस अन्नागार की इमारत मूल रूप में उसके समीप स्थित विशाल स्नानागार की इमारत से पुरानी थी क्योंकि बाद में स्नानागार की टोड़ी नाली बनाये जाने से अन्नागार की इमारत के चबूतरे का पूर्वी किनारा कट गया था जिसके सहारे कभी सामान चढ़ाया जाता था। लेकिन अन्नागार में दक्षिण की ओर जो कुछ और जोड़ा गया वह विशाल स्नानागार की इमारत का समकालीन था।

प्राचीन समय में अन्नागारों के महत्त्व की चर्चा अन्यत्र की गई हैं। अन्नागार की विशाल रूपरेखा और उसमें वायु-संचरण की सुविधा तथा दुर्ग के बाहर के सामान चढ़ाने की व्यवस्था का होना महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा में, अन्नागार की इमारत दुर्ग के पास ही पायी गयी है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों दोनों नगरों के अन्नागारों का क्षेत्रफल लगभग बराबर हैं।

मोहेंजोदड़ों के अन्नागार की इमारत के दक्षिण में विशाल सीढ़ी की मात्र रूपरेखा अवशिष्ट पायी गयी है : जहाँ पर सीढ़ी आरंभ होती है वहाँ पर इसकी चौड़ाई 6.7 मीटर के लगभग है। सीढ़ी के तल पर एक कुआं है और आस-पास दो अन्य कुएँ। अंतिम सीढ़ी के पास एक छोटा स्नानकक्ष था। इस स्थान पर इतनी बड़ी सीढ़ी का क्या महत्त्व था, यह ठीक-ठाक अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु उसके समीप बनाये गये कुएं और स्नानकक्ष को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि उसका संबंध किसी ऐसे अनुष्ठान से था जिसमें स्नान करना आवश्यक था।

विशाल स्नानागार भवन के उत्तर-पूर्व में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथा विशाल इमारत की रूपरेखा मिली। इसका आकार 70.1 x 23.77 मीटर है। इसमें 10 मीटर वर्गाकार एक खुला हुआ आंगन था जिसके साथ ही तीन बरामदे और बैरक जैसे कुछ कमरे थे। कमरों का फर्श पक्की ईंटों से बनाया गया था। इसमें दो सीढ़ियाँ थीं। यह कोई महत्त्वपूर्ण इमारत लगती है। इसके साधारण निवास-गृह होने की संभावना कम है। मकाइ का अनुमान है कि यह इमारत पुरोहित जैसे विशिष्ट लोगों का आवास रही होगी।

जिस स्थान पर कुषाणकालीन स्तूप है उसके नीचे किस तरह की इमारत

के अवशेष हैं, अभी तक यह अज्ञात है क्योंकि वहाँ पर उत्खनन नहीं किया गया है। इस स्थान का अत्यधिक ऊँचा होना इसके महत्त्व का द्योतक लगता है। कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि कुषाणकाल में इस स्थान को स्तूप-निर्माण के लिए शायद इसलिए चुना गया हो कि उसके साथ धार्मिक स्थल होने की परम्परा चली आ रही थी। किन्तु इस संदर्भ में यह नहीं भूलना चाहिए कि सिंधु सभ्यता के अंत और कुषाणकाल के प्रारंभ होने के मध्य लगभग डेढ़ हजार वर्षों का अन्तराल है, और इस लम्बी अवधि में इस स्थल के धार्मिक होने के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

इसी स्तूप की उत्तर दिशा में सिंधु सभ्यता कालीन एक अन्य विशाल इमारत की पश्चिमी तथा दक्षिणी दीवार का खण्डित भाग है। प्राचीन उर में मन्दिर के पास स्थित इमारतों में मंदिर के कर के रूप में मिली वस्तुओं को संग्रहीत करके रखा जाता था। यदि स्तूप के नीचे मंदिर होने का अनुमान सही है तो इस इमारत का भी कदाचित् इसी तरह का उपयोग किया जाता रहा होगा।

मोहेंजोदड़ों की गढ़ी के दक्षिण में लगभग 27.43 मीटर वर्गाकार एक प्रशाल के अवशेष मिले हैं जो मूलतः 20 स्तंभों पर आधारित था। ये स्तंभ चार कतारों में हैं; प्रत्येक कतार में पाँच स्तंभ हैं। इमारत तक पहुँचने के लिए उत्तरी छोर के मध्य से रास्ता था। फर्श भली-भाँति बिछाई गई ईंटों द्वारा कई गलियारों में बंटा था। इनका उपयोग संभवतः बैठने के लिए किया जाता था। मूलतः इन गलियारों में काठ की लम्बी और कम ऊँचाई वाली बेंचें लगी थीं। मार्शल ने इस तरह के निर्माण की तुलना बौद्ध गुफा-मन्दिरों से की है जिनमें बौद्ध भिक्षु लंबी कतारों में बैठते थे। मकाइ के अनुसार यह बाजार का 'हाल' हो सकता है जहाँ पर दुकानें लगाने के लिए स्थायी रूप से स्थान (स्टाल) बनाये गये थे। व्हीलर ने इसके फारसी 'दरबारे आम' जैसी इमारत होने की ओर संकेत किया है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पाटलिपुत्र (पटना) में स्तंभों पर आधारित मौर्यकालीन भवनों के जो अवशेष मिले हैं उनके बारे में यह सुझाव दिया गया है कि वे स्तंभों पर आधारित ईरानी भवनों की नकल थे। यह सुझाव सही है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है, किन्तु सिंधु सभ्यता के संदर्भ में इस तरह स्तंभों पर आधारित भवन के मिलने से अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भारत में इस तरह के भवनों के निर्माण के उदाहरण ईरान में निर्मित ऐसे भवनों से भी काफी प्राचीन है। इस इमारत के पश्चिम में एक छोटी-सी इमारत भी मूलतः स्तंभों पर ही आधारित थी। इस इमारत का ठीक तरह से उद्घाटन नहीं हो पाया है।

मोहेंजोदड़ों के गढ़ी वाले टीले के भवनों के बारे में विस्तृत जानकारी की प्राप्ति हेतु उसका वैज्ञानिक विधि से विस्तृत रूप से उत्खनन आवश्यक है, तथापि जो जानकारी अब तक हुए उत्खननों से वहाँ के भवनों-विशाल स्नानागार विशाल अन्नागार, कालेज भवन, स्तंभों पर आधारित भवन, और बुर्ज आदि के रूप में उपलब्ध है, वह गढ़ी की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है।

मोहेंजोदड़ों का निचला नगर

मोहेंजोदड़ों में गढ़ी के पूर्व में स्थित टीले की खुदाई से निचले नगर के विषय में जानकारी मिली है। डेल्स द्वारा 1964-65 में किये गये उत्खननों में इस तरह के साक्ष्य मिले हैं जिनसे लगता है कि नगर के इस भाग को भी दीवारों से घेरा गया था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह दीवार बाढ़ से सुरक्षा के लिए थी अथवा आक्रमण से बचाव के लिए। डेल्स के उत्खननों से यह भी पता लगा है कि यहाँ पर नीचे के स्तरों में निर्माण कार्य के लिए ईंटों के साथ-साथ लकड़ी की चिनाई हुई थी। नगर का यह भाग-नियोजित रूप रेखा के अनुसार बसाया गया था और नगर समकोण पर काटती सड़कों द्वारा खंडों में विभक्त था। ये खण्ड लगभग समान आकार के हैं जो माप में पूर्व-पश्चिम में 243.84 मीटर और उत्तर-दक्षिण में 365.76 मीटर के लगभग हैं। खुदाई से 6 या 7 ऐसे खंड और दो मुख्य सड़कें, 'पूर्वी सड़क' और 'पहली सड़क' उद्घाटित हुए हैं। पिगट ने उपलब्ध साक्ष्यों से अनुमान लगाया है कि शायद मूलतः बारह खंड रहे होंगे जो पूर्व-पश्चिम की दिशा में तीन कतारों में थे, प्रत्येक कतार में चार खंड रहे होगें और नगर करीब-करीब डेढ़ किलोमीटर लम्बे और डेढ़ किलोमीटर चौड़े वर्ग में बसा रहा होगा तथा इनमें से गढ़ी वाला टीला पश्चिम की ओर का मध्यवर्ती टीला रहा होगा। मुख्य सड़कें लगभग 9.14 मीटर और गलियाँ लगभग 3 मीटर चौड़ी थी।

उत्खननों से कुछ महत्त्वपूर्ण इमारतों के अवशेष प्रकाश में आये हैं। 'एच आर' क्षेत्र में उत्खनन से साधारण निवास-गृह की रूपरेखा के विषय में पर्याप्त सूचना प्राप्त हुई। प्रवेश के लिए गली में होकर एक छोटा-सा द्वार था जो प्रवेश कक्ष में खुलता था जहाँ कुम्हारों का वास था। दीवारों पर मिट्टी के लेप के चिह्न मिलते हैं। दक्षिणी भाग में एक कुआं बना था। यहीं से एक रास्ता आंगन में पहुंचता था जो 10 मीटर वर्गाकार था। कुएं वाले कमरे से सटा हुआ एक स्नानकक्ष था। दूसरे कमरे में, जो पूर्व में स्थित था, मिट्टी के

पाइप की नाली थी जो सड़क की नाली से जुड़ी थी। ऊपरी मंजिल से आयी एक नाली पूर्वी आंगन में मिलती थी। दीवारें काफी मोटी हैं और इससे इस बात की पर्याप्त संभावना हैं कि यह इमारत दो मंजिली थी और और ऊपर की मंजिल तक सीढ़ियों द्वारा पहुँचा जाता था। अनुमानतः घर का अधिकाँश काम-काज आंगन में ही होता रहा होगा। पश्चिम की ओर अंग्रेजी अक्षर 'एल' (L) की आकृति के गलियारे में एक कमरा है। यह भवन आंगन, कुआं, स्नानागार, ऊपरी मंजिल तथा नालियों के प्रबंध का एक अच्छा उदाहरण है।

निचले नगर के 'डी' क्षेत्र दक्षिणी भाग में पूर्व-पश्चिम में बनी लगभग 76.2 मीटर लम्बी एक इमारत के भग्नावशेष प्रकाश में आये हैं। इसकी दीवारें अत्यन्त मोटी (1 से 2.13 मीटर तक) और ढलानदार हैं। मुख्यतः इसकी दीवारों की मोटाई के आधार पर मकाइ, इसे राजप्रासाद मानते हैं। राव का यह सुझाव उपयुक्त लगता है कि राजप्रासाद के मिलने की संभावना गढ़ी टीले पर है न कि निचले नगर में, और इसलिए यह इमारत किसी धनी नागरिक की हो सकती थी। इसके दो आंगन हैं जिनके बीच 1.52 मीटर चौड़ा गलियारा है जिसमें प्रवेश के लिए 2.43 मीटर चौड़ा द्वार है। जिस समय इसका निर्माण हुआ था उस समय उसमें तीन या चार प्रवेश-द्वार बनाये गये थे। किन्तु आगे चलकर किसी अज्ञात कारण से एक को छोड़कर शेष सभी बन्द कर दिये गये। आंगन के पास वाले कमरे में दो कुएं हैं। इसके साथ ही फन्नीदार ईंटों से बनाये गये कुछ वृत्ताकार गढ़े हैं। ईंटों के अत्यधिक ताप से पकी होने से ज्ञात होता है कि इन गढ़ों में कोई वस्तु तेज आँच देकर पकायी गयी थी। दक्षिण-पूर्वी कोने में जहाँ पर एक छोटा सा आंगन था, रोटी पकाने के लिए वृत्ताकार चूल्हे (तन्दूर) बने थे। इसमें ऊपरी मंजिल (या छत) में जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं।

इस क्षेत्र के उत्तर में उस स्थान पर जहाँ 'केन्द्रीय सड़क' और 'निचली गली' मिलती थीं, एक अन्य महत्त्वपूर्ण इमारत थी। मकाइ ने इसे यात्रियों के ठहरने के लिए होटल होने का संकेत किया है। वैसे यह धर्मशाला या सराय जैसी कोई इमारत हो सकती है। मोहेंजोदड़ों जैसे व्यावसायिक नगर में, जहाँ देश-विदेश से यात्रियों का आना-जाना लगा रहता था, इस तरह की इमारत का होना स्वाभाविक ही है। इस इमारत के मुख्य आवास की रूपरेखा अंग्रेजी के L अक्षर की भाँति बनायी गयी थी। इसमें कुआँ, नालियाँ और शौचालय की व्यवस्था थी। कालांतर से पहले के प्रवेशद्वार को बंद करके दीवार काटकर दूसरा प्रवेशद्वार बनाया गया था।

पहली सड़क (फर्स्ट स्ट्रीट) के समीप ही लगभग 26.51 x 19.65 मीटर के क्षेत्र में एक अन्य इमारत के भग्नावशेष मिले हैं। इस इमारत के बीच में आंगन था जिसके चारों ओर कोष्ठवलियाँ बनी थीं। सड़क की ओर कुछ ऐसे कक्ष थे जो उस स्थल के व्यावसायिक क्षेत्र होने की दिशा में संकेत करते हैं। तीन कमरों का फर्श पक्की खड़ी ईंटों से बनाया गया था। इसमें पाँच शंक्वाकार गढ़े मिले हैं जिन्हें फन्नीदार ईंटों से बनाया गया था। संभवतः इनमें नुकीले पेंदे वाले बर्तन रखे जाते थे। एक कमरे में कुआं और सीढ़ी पास-पास हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह भवन जलपानगृह था, जबकि कुछ के अनुसार इनमें रखे घड़ों का उपयोग वस्त्रों के रंगने के लिए किया जाता था।

'एच आर' क्षेत्र की दक्षिणी गली, और एक अन्य गली, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने 'मृतकों की गली', नाम दिया है, के मध्य 15.85 x 12.19 मीटर आकार की एक इमारत के अवशेष मिले हैं। इसकी दीवारों की मोटाई लगभग 1.21 मीटर है। दीवार की चिनाई में भराई के तौर पर कच्ची ईंटों का प्रयोग हुआ है। इस तक पहुँचने के लिए दक्षिणी किनारे पर दो सीढ़ियाँ एक दूसरे के समानान्तर बनाई गई थीं। एक द्वार था। इसके अन्दर की ओर 1.21 मीटर व्यास वाला ईंटों का एक चबूतरा था जो संभवतः पवित्र वृक्षों का बाड़ा रहा होगा। यहीं पास में सफेद चूना पत्थर का दाढ़ीयुक्त सिर जो आकार में 17.15 सेमी. है, तथा एक अलाबास्टर पत्थर की सिर रहित 41.9 सेमी ऊँची मनुष्याकृति मिली है। इस सिर रहित मूर्ति के दो टुकड़े बाद में कुछ दूरी पर मिले (देखिये 'कला-कौशल' अध्याय) मूर्तियों की प्राप्ति, निर्माण की सुदृढ़ता, उसमें दो सीढ़ियों की व्यवस्था और वृक्षों अथवा मूर्तियों के लिए ईंटों के बाड़े से व्हीलर ने इस इमारत के देवालय होने का अनुमान लगाया है। वैसे इस भवन में न तो प्रार्थना-सभा का कक्ष और न वेदी होने का ही साक्ष्य मिला है। 'डी के' क्षेत्र में मिली एक अधूरी इमारत के बारे में, जिसकी दीवारें काफी मोटी और दृढ़ थीं, मार्शल ने यह मत व्यक्त किया है कि कदाचित वह भी देवालय रहा होगा। लेकिन मकाइ इसकी पहचान 'खान' से करते हैं।

निचले नगर में लगभग 1.37 मीटर मोटी दीवार की एक और इमारत 'एच आर' क्षेत्र में अनावृत्त की गई है। इसके आस-पास 2.43 मीटर से 3 मीटर तक ऊँची एक दीवार है जो कच्ची ईंटों के चबूतरे को घेरे है। इन दीवारों पर संभवतः ऊपरी मंजिल भी बनी थी। इस इमारत के बीच में एक आंगन है जिसके उत्तर और दक्षिण की ओर स्कन्ध हैं। दक्षिणी स्कन्ध में एक कुँआ है। इसके भी धार्मिक इमारत होने का अनुमान लगाया गया है।

उपर्युक्त इमारत के सामने एक तंग गली है जिसे पार करने पर बैरकों का खण्ड मिलता है। इसमें 16 बैरकें हैं जो दो पंक्तियों में बनी हैं। उनके पिछवाड़े आमने-सामने हैं। प्रत्येक बैरक से एक बड़ा और एक छोटा कमरा है। अधिकांश बड़े कमरों के किनारे पर स्नान करने के लिए व्यवस्था थी। इन कमरों का पानी एक नाली से होकर बाहर रखे हुए मृद्भाण्ड में पहुंचता था। मृद्भाण्ड को टूटने से बचाने के लिए उसके चारों ओर ईंटों का एक घेरा बना दिया गया था। दक्षिणी किनारे के कमरे में एक कुआं भी था। एक कुआं तो बीच रास्ते में पड़ता था। मकाइ इन इमारतों को दुकानें मानते हैं, किन्तु जैसा कि पिगट ने सुझाया है, ये श्रमिकों के आवास भी हो सकते हैं। हड़प्पा नगर में इस तरह के आवास मिले भी हैं। यदि इसके सामने की इमारत देवालय थी तो मिस्र के साक्ष्य के आधार पर (जहाँ मन्दिरों से संबद्ध विभिन्न श्रम-कार्यों के लिए दास अथवा अर्द्ध-दास होते थे), पिगट के सुझाव का समर्थन होता है। व्हीलर यद्यपि पिगट के इस सुझाव को तर्कपूर्ण मानते हैं तथापि उन्होंने दो और संभावनाएं भी रखी हैं। उनके अनुसार ये पुलिस के बैरक अथवा किसी पुरोहित वर्ग के निवास भी हो सकते हैं।

चन्हुदड़ो

चन्हुदड़ो के उत्खननों से सबसे नीचे की सतह (जहाँ तक खोदा जा सका है) में ईंटों के बने तीन या चार घरों और एक कुएं के अवशेष मिले हैं। इसके ऊपर निर्जन स्तर होने से स्पष्ट है कि चन्हुदड़ो कुछ समय के लिए निर्जर रहा और फिर जब इसका पुनर्निर्माण हुआ तो भवनों को कच्ची ईंट के चबूतरे पर बनाया गया। एक 7.62 मीटर चौड़ी सड़क थी, तथा मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा के समान यहाँ पर भी मकान सड़क के दोनों ओर थे। इस मुख्य सड़क को समकोण पर काटती हुई गलियाँ थी जिनमें निकास-नालियों का सुन्दर प्रबंध था। विशाल संख्या में तांबे तथा कांसे की अधबनी गुरियां तथा गुरियों के पकाने की भट्ठी मिली है, साथ ही शंख और हड्डी का काम तथा मुद्रा-निर्माण के साक्ष्य भी मिले हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस स्थल पर मुख्य रूप से कुलिकों की बस्ती थी। सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में केवल कुछ ठूंठ सी दीवारें मिली हैं जो साधारण कोटि के घरों की परिचायक हैं। किन्तु इस काल की एक दीवार लगभग 1.52 मीटर मोटी और 24.38 मीटर से

अधिक लंबी है जिसे पूरा नहीं खोदा जा सका। ऐसा मत व्यक्त किया गया है कि ये दीवारें एक अन्नागार का अंग रही होंगी, किन्तु इसकी पुष्टि के लिए निश्चित साक्ष्य नहीं है। यहाँ पर सिंधु सभ्यता के बाद कुछ अंतर से झूकर नामक दूसरी संस्कृति के लोगों ने बस्ती बसाई।

लोथल

लोथल का नगर भी हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों के समान ही सुनियोजित था। सड़कें और गलियां एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। यहाँ की नगर-निर्माण योजना और उपकरणों को देखकर ही इसे 'लघु हड़प्पा' या 'लघु मोहेंजोदड़ों' कहा गया है।

राव का कहना है कि प्रारंभ में नगर उत्तर-दक्षिण में 300 मीटर चौड़े और पूर्व-पश्चिम में 400 मीटर लम्बे क्षेत्र में बसा था। कच्ची ईंटों की 13 मीटर चौड़ी एक सुरक्षा दीवार भी थी जो उत्तर की ओर पक्की ईंटों से मजबूत बनायी गयी थी। लेकिन तृतीय चरण में नगर इसके बाहर भी फैला, और दायरे में 2 किलोमीटर हो गया। सुरक्षा दीवार कदाचित् बाढ़ से रक्षा के लिए थी, क्योंकि उसमें कोई बुर्ज आदि नहीं थे। इस दीवार के भीतर कच्ची ईंटों के बने ऊँचे चबूतरों पर घर बनाये गये थे। चबूतरों के सात खण्ड खुदाई में मिले। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि मूलतः पाँच और खण्ड थे। कब्रिस्तान आवास क्षेत्र से अलग कुछ दूरी पर था। मुख्य रूप से नगर के दो भाग थे – गढ़ी और निचला नगर। भवन साधारणतया कच्ची ईंटों के बने हैं। केवल गोदी (?) और कुछ थोड़े से महत्त्वपूर्ण भवनों के निर्माण में ही पक्की ईंटों का प्रयोग होता था। हाँ, नालियाँ और स्नानागार के फर्शों के लिए पक्की ईंटों का ही प्रयोग होता था।

लोथल में गढ़ी समलंबक है। यह 117 मीटर पूर्व और पश्चिम में तथा 136 मीटर उत्तर में और 111 मीटर दक्षिण की ओर है। इसके खण्ड 'बी' में एक भवन 126 x 30 मीटर आकार का मिला है। यह भवन ऐसे स्थान पर स्थित था जहाँ से नौकाघाट, भाण्डागार तथा जहाजों के गमनागम की निगरानी भली भाँति की जा सकती थी। राव का मत है कि यह शासक का भवन था। यहाँ पर कुआं, अत्युत्तम नालियाँ एवं कतिपय अन्य मकान थे। साधारण लोगों

के घर ज्यादातर 9 x 5.5 मीटर के आकार के थे; कुछ बड़े आवास 13 x 6 मीटर के थे।

गढ़ी में ही एक इमारत (फ. VI, 1), जिसका वर्तमान क्षेत्रफल 42.67 x 18.28 मीटर है, 4 मीटर ऊँचे चबूतरे पर बनायी गयी थी। इस चबूतरे पर कच्ची ईंटों के बने 12 घनाकार खण्ड चार पंक्तियों में हैं। प्रत्येक पंक्ति में तीन खण्ड हैं। इन खण्डों के बीच लगभग 1.06 मीटर चौड़ी नालियाँ बनाई गई थीं। ये नालियाँ उत्तर दिशा में बनी पक्की नाली से मिलती थीं। नालियों और घनाकार खण्डों की ईंट आग के प्रभाव से लाल हो गयी हैं। इन नालियों में पक्की मिट्टी के खण्ड, त्रिभुजाकार मृत्पिण्ड, गोलियाँ, मिट्टी के चोंगे (सिलिण्डर) और पर्याप्त मात्रा में राख पाई गई है। दक्षिण की ओर पूर्वी छोर वाली नाली के भीतर सिंधु सभ्यता की मुहरों की लगभग 70 छापें मिली हैं। पहले लोथल-उत्खनन के निदेशक शि. रंगनाथ राव ने सुझाया था कि उपर्युक्त निर्माण-कार्य सिंधु सभ्यता कालीन भट्ठे के द्योतक हैं। व्हीलर ने उन्हें अन्नागार के भवन का अंग माना है। उनका कहना है कि अन्नागार भवन लकड़ी का बना था जो जल गया। अन्न के गट्ठरों में लगी मोहरें भी उनके जलने के कारण नीचे गिर गयीं। राव ने बाद में अपने मत में कुछ संशोधन किया और अब उनका विचार है कि यह मूलतः भाण्डागार की इमारत थी, किन्तु परवर्ती काल में इसका भट्ठे के रूप में उपयोग किया गया।[1] इस इमारत के अवशेषों के सामने ही एक चबूतरा था। इसके ऊपर निर्मित भवन अब नष्ट हो गये हैं, किन्तु अनुमान है कि वे भी महत्त्वपूर्ण रहे होंगे।

लोथल की तीन इमारतों में पशुओं की हड्डियाँ, ताँबा, कांचली मिट्टी के मनके, मिट्टी की चूड़ियाँ और कुछ मृद्भाण्ड पाये गये हैं। एक में तो जली हुई हड्डी सोने का एक आभूषण और कुछ मनके मिले हैं। हो सकता है इन इमारतों का कोई धार्मिक महत्त्व रहा हो। वहाँ के अनेक मकानों में वृत्ताकार या चतुर्भुजाकार 'अग्नि स्थान' पाये गये हैं जिनमें राख के साथ मृत्पिड भी मिले हैं। शायद इसका उपयोग यज्ञ जैसे अनुष्ठान के लिए था।

---

1. राव ने अपनी हाल में छपी पुस्तक 'लोथल एण्ड द इंडस सिविलिजेशन' में लिखा है कि मूलतः इस तरह के 64 ब्लाक थे जो 1930 वर्गमीटर के क्षेत्र में बने थे। उनके अनुसार यह भवन मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा के अन्नागारों से भी बड़ा था। यही नहीं उनके अनुसार सिंधु सभ्यता में यह अपने ढंग की सबसे बड़ी, इमारत थी, जिसका वहाँ के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान था।

निचला नगर

राव के अनुसार निम्न नगर विस्तार में गढ़ी से कम से कम तिगुना था। इसमें उत्तर की ओर बाजार, पश्चिम की ओर व्यावसायिक निर्माण, और उत्तर पश्चिम में मकानों के जो अवशेष मिले हैं उनके बारे में यह कहा जाता है कि वे निजी आवास-गृहों के अवशेष हैं। अभी इस निचले नगर में चार खण्डों का ही उत्खनन हुआ है, पर मूलतः कई और रहे होंगे। यह नगर कच्ची ईंटों के चबूतरे पर बना था। राव के अनुसार यह लगभग आयताकार रहा होगा। निचले नगर में चार खण्ड मिले हैं जो कि सड़कों द्वारा एक दूसरे से अलग थे। राव का मत है कि मूलतः कई और खण्ड भी थे खुदाई से चार सड़कों का पता चला है जिनमें से दो उत्तर-दक्षिण को और पूर्व-पश्चिम को जाती थीं। एक सड़क के एक ओर 12 मकानों की रूपरेखा की जानकारी मिली है। दूसरी सड़क के दोनों ओर दो-तीन कमरे वाले छोटे-छोटे मकान मिले हैं। इनमें से प्रत्येक में दो या तीन कमरे हैं। शायद ये दूकानें थीं। कुछ चार या पाँच कमरे वाले मकानों की रूपरेखा भी मिली है। दीवारें आधा मीटर या उससे भी कुछ अधिक मोटी थीं। कुछ के आगे बरामदा है जबकि कुछ अन्य के बीच में आंगन और चारों ओर कमरे थे। यों लोथल में घर बनाने के लिए कच्ची और पक्की दोनों ही तरह की ईंटों का उपयोग हुआ था। टमटों और मनके बनाने वालों के घर अपेक्षाकृत छोटे थे और वे कच्ची ईंटों के बने थे। कच्ची ईंटों की एक इमारत मिली है जिसके मध्य में आंगन और विभिन्न आकार के ग्यारह कमरे मिले हैं। साथ ही रक्षक का कमरा और भण्डार कक्ष भी था। दो मिट्टी के बर्तनों में कीमती पत्थरों के छः सौ अर्ध-निर्मित मनके मिले और दो बर्तनों में कच्चा माल (पत्थर) भी लगता हैं कि मनके बनाने वाले इन कमरों में रहते थे और आँगन में सामूहिक रूप से मनके बनाते थे। ताँबे का काम करने वालों के कारखाने का स्थल भी मिला है। एक मकान जिसकी दीवार एक मीटर मोटी थी धार्मिक कार्य के लिए थी क्योंकि उसमें अग्निपूजा के साक्ष्य मिलते हैं। एक मकान, जो किसी धनी व्यापारी का लगता है, में मूलतः तीन कमरे थे और तीन कमरे बाद में जोड़े गये। इस घर में नौ सोने के बड़े मनके, चार सेलखड़ी की मुद्राएं और कई कीमती पत्थर से बने मनके मिले। इस घर में अक्षीय नली वाले सोने के मनके तथा 'रिजर्व्ड स्लिप' वाले बर्तनों के पाये जाने के आधार पर राव इसके मालिक के मेसोपोटामिया से व्यापार करने वाला होने की संभावना व्यक्त की है। लोथल का सबसे महत्त्वपूर्ण स्मारक गोदी (फ. VI, 2) है। इसका विस्तृत विवरण इसी पुस्तक में परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

नालियों का बहुत सुन्दर प्रबंध था (फ. VII, 1)। घरों से छोटी-छोटी नालियों का निकलकर बड़ी-बड़ी नाली में मिलना, ढाल पर सीढ़ीदार होना, सफाई की दृष्टि से बीच में नरमोखों का होना, सार्वजनिक नाली में जालीदार किवाड़ की व्यवस्था जिससे पानी छन कर निकले और कचड़ा रुक जाय, लोथल की नालियों के अत्यन्त विकसित प्रकार के होने के प्रमाण हैं। लोथल के कुछ स्नानागारों की ईंटों को डामर से आच्छादित किया गया था। कुछ भवनों में शौचालय भी थे और उनके साथ शोष-गर्त भी बने थे।

मकानों का सीधी पंक्ति में होना, स्नानागार के जल के निकास के लिए सार्वजनिक नालियों की व्यवस्था, नालियों में बहने वाले कूड़े-करकट को एकत्र करने और हटाने के लिए नरमोखों का होना वहाँ के निवासियों की नियोजित योजना और सफाई के प्रति सजगता के प्रमाण हैं तथा इस तरह की व्यवस्था सशक्त नागरिक संगठन की परिचायक है। इतने सुनियोजित भवन और इतनी सीधी दीवार बनाना बिना दिशा-मापक यंत्र, साहुल और पैमाने के संभव न था। एक छोटा सा उपकरण मिला है जिसका संभवतः दिशा मापक की तरह उपयोग होता रहा होगा। पैमाने तथा मिट्टी के बने कई साहुल भी मिले हैं। अंतिम काल में भवन-निर्माण में ह्रास के चिह्न स्पष्ट दिखते हैं।

लोथल के प्रथम प्रकाल में नगर-निर्माण में काफी सतर्कता बरती गयी, किन्तु द्वितीय प्रकाल में इस दिशा में ह्रास दिखलाई देता है। बाढ़ से सुरक्षा के यथासंभव प्रयास किये जाने के बावजूद उसके प्रकोप से मुक्ति नहीं मिली और क्षतिग्रस्त भवनों का पुनर्निर्माण का सिलसिला चलता रहा। शि. रंगनाथ राव के अनुसार एक बाढ़ तो इतनी भयानक थी कि जनसंख्या का एक विशाल भाग लोथल छोड़कर रंगपुर में आकर बस गया।

कालीबंगां

(आरेख 4)

कुछ पुराविदों के अनुसार कालीबंगां संभवतः सिंधु साम्राज्य (?) की तीसरी राजधानी थी जहाँ से सरस्वती की घाटी का समीपवर्ती क्षेत्र शासित होता था। यहाँ का पश्चिमी टीला जिसे 'कालीबंगां-1' नाम दिया गया है, लगभग 12 मीटर ऊँचा है और समानान्तर चतुर्भुज के आकार में 250 मी. उत्तर-दक्षिण और 180 मी. पूर्व-पश्चिम में विस्तृत है। इसमें निचले स्तरों में प्राग् सिंधु सभ्यता कालीन अवशेष पाये गये हैं। यहाँ पर अप्रयुक्ता धरती के ऊपर औसतन 1.6 मीटर तक मोटे ये प्राग् सिंधु सभ्यता के अवशेष मिलते हैं। इस बात के साक्ष्य हैं कि प्राग् सिंधु सभ्यता के बाद कुछ काल तक यह स्थान

संभवतः भूकम्प जैसी किसी प्राकृतिक दुर्घटना से क्षति पहुँचने के कारण वीरान हो गया और ध्वंसावशेषों पर बालू की तह फैल कर जम गई जो संभवतः नदी की बाढ़ का परिणाम था। कुछ काल व्यवधान के पश्चात् यहाँ पर सिंधु सभ्यता के लोग बसे। उन्होंने मिट्टी तथा कच्ची ईंटों के चबूतरे बना कर उन पर इमारतों की नीवें रखीं। इस काल में आवास-भूमि के क्षेत्रफल में विस्तार हुआ। स्पष्ट है कि नावागंतुकों की जनसंख्या पहले काल की अपेक्षा अधिक थी।

सिंधु सभ्यता के लोगों के आवागमन से आवास की योजना में परिवर्तन आया और 'गढ़ी' और 'निचला नगर' के रूप में नगर को बसाया गया जो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की नगर-योजना से मिलता-जुलता है। गढ़ी को उसी स्थान के ऊपर बसाया गया जहाँ पर कि प्राक्-हड़प्पा अवशेष पाये गये हैं, ऐसा संभवतः उन्होंने इसलिए किया कि वह स्थल आवासित होने के कारण कुछ ऊँचा हो गया था और गढ़ी का ऊँचाई पर होना उसकी उपयोगिता को बढ़ा देता है। इसके चारों ओर रक्षा-प्राचीर बना दी गई जो 3 से 7 मीटर तक चौड़ी थी। इसमें प्रवेश के लिए चारों दिशाओं में द्वार बनाये गये थे। दक्षिणी द्वार के दोनों तरफ आरक्षक-कक्ष बने थे। गढ़ी को मध्य से एक लम्बी दीवार द्वारा जो पूर्व-पश्चिम जाती थी, दो भागों में बाँट दिया गया था। यह विभाजन
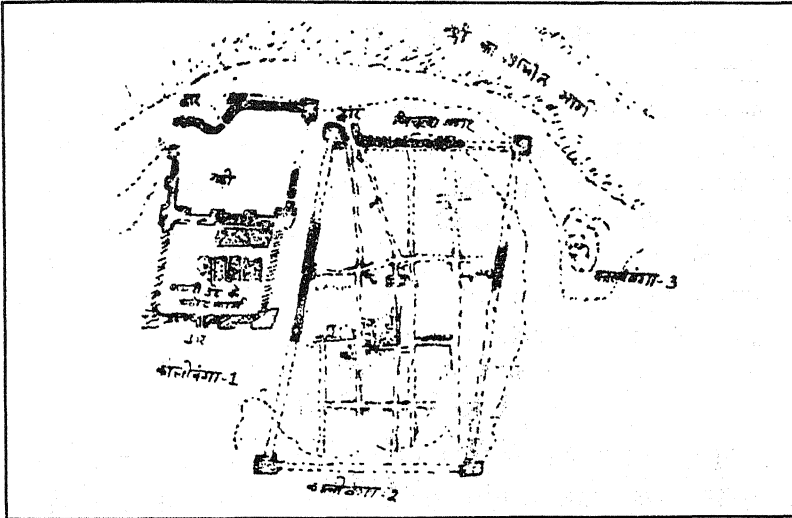
आरेख 4

किस उद्देश्य से किया गया था यह कहना कठिन है। गढ़ी का इस तरह विभाजन किये जाने का दृष्टान्त सिंधु सभ्यता के किसी अन्य स्थल पर नहीं

मिला है। गढ़ी की रक्षाप्राचीर मजबूत रहे इसका भी ध्यान रखा गया। इसीलिए उसमें स्थान-स्थान पर बुर्ज बनाये गये। गढ़ी की दीवार तथा बुर्ज कच्ची ईंटों से निर्मित किये गये थे। दीवार के निर्माण में दो आकार की ईंटें इस्तेमाल की गई हैं - 40 x 20 x 10 सेमी. की और 30 x 15 x 7.5 सेमी की ईंटों के आकार में अंतर निर्माण के दो चरणों की द्योतक हैं - पहले चरण में बड़ी ईंटों का और दूसरे में छोटी ईंटों का इस्तेमाल हुआ है। इसके चबूतरे कहीं भी दीवार के अभिन्न अंग नहीं थे। इसके भीतरी भाग पर लिपाई की गयी थी। आगे चलकर सिंधु सभ्यता काल में ही इस रक्षा-प्राचीर का महत्त्व कम हो गया और शायद बुर्ज बाद में बनी इमारत के नीचे दब गया।

कालीबंगां के गढ़ी वाले टीले के दक्षिण अर्धभाग में पाँच या छह मिट्टी और कच्ची ईंटों के चबूतरे थे जो एक दूसरे से अलग और कुछ भिन्न थे। उनके बीच के मार्ग में भी भिन्नता थी। ये चबूतरे कहीं भी रक्षा-दीवार का अभिन्न अंग नहीं थे। बाद के लोगों द्वारा ईंटें उखाड़ ली जाने के कारण इन चबूतरों के ऊपर निर्मित भवनों की रूपरेखा स्पष्ट नहीं है, तथापि जो भी साक्ष्य बचे हैं वे इस बात की ओर इंगित करते हैं कि इनमें से कुछ का धार्मिक प्रयोजन था। एक चबूतरे पर कुआं, अग्नि स्थान पर पक्की ईंटों से निर्मित एक आयताकार गर्त था जिसमें पशुओं की हड्डियाँ थीं। दूसरे चबूतरे पर आयताकार सात अग्नि-वेदिकाएं एक कतार में थीं। गढ़ी के इस दक्षिणी अर्धभाग में जाने के लिए उत्तर और दक्षिण दिशा में सीढ़ियाँ थीं। उत्तरी दिशा का मार्ग विशिष्ट था और दुर्ग के दो बाहर निकलते हुए कोनों के मध्य में था। इन दोनों मार्गों की स्थिति और रूपरेखा से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि संभवतः दक्षिणी मार्ग निचले नगर के साधारण जनों के आवागमन के लिए था और उत्तरी मार्ग गढ़ी के उत्तरी भाग में रहने वाले संभ्रांत व्यक्तियों के लिए। गढ़ी के उत्तरी अर्धभाग में संभ्रान्त जनों के आवास थे और उसकी सड़क निर्माण की योजना विशिष्ट ढंग की थी। इस भाग में प्रवेश करने के लिए तीन या चार मार्ग थे। कालीबंगां में गढ़ी पर धार्मिक अनुष्ठानों के साक्ष्य को देखते हुए सांकलिया का अनुमान है कि गढ़ी का धार्मिक महत्त्व था।

निचला नगर

हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों के निचले नगरों के रक्षा-प्राचीर से घिरे होने का एकदम स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है, किन्तु कालीबंगां के उत्खननों से प्राप्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि यहाँ का निचला नगर भी रक्षा-प्राचीर से घिरा

---

1. आल्चिन (पृ. 235) के मतानुसार संभवतः हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के निचले नगर की रक्षा-प्राचीर से घिरे थे।

था।[1] उत्खनन में इस प्राचीर को लगभग 150 मीटर तक अनावृत्त किया जा चुका है। इसकी चौड़ाई सर्वत्र समान नहीं थी। यह 3 से 3.9 मीटर तक मोटी है। इसकी ऊँचाई में ईंटों के 15 रद्दे लगे हैं। इस रक्षा दीवार में प्रयुक्त ईंटें 40 x 20 x 10 सेमी. परिमाप की हैं। सुरक्षा-दीवार पूर्व से पश्चिम की ओर 230 मीटर क्षेत्र को घेरे है, उत्तर-दक्षिण की ओर सुरक्षा दीवार से घिरे हुए क्षेत्र के माप का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सका है। उत्तर-दक्षिण की ओर पाँच और पूर्व-पश्चिम की ओर तीन मुख्य सड़कों का पता चला है। कई तंग गलियाँ भी मिलीं। सड़कों का निर्माण नियोजित ढंग से किया गया था। (फ. VII, 2, VIII, 2) सड़कों की चौड़ाई लगभग 1.80 मीटर गुणक में थी। सड़कों के मोड़ पर बने घरों को यातायात से क्षतिग्रस्त होने से बचाने के लिए कहीं-कहीं सड़क के किनारे लकड़ी के खंभों की बाड़ लगायी गयी थी। सड़कों पर कहीं-कहीं घरों के सामने आयताकार चबूतरे भी बने थे। अंतिम चरण को छोड़कर सड़कों को पक्की बनाने का प्रयास नहीं किया गया। सड़क को पक्की बनाने का प्रयास हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में नहीं मिलता और इसीलिए कालीबंगां का यह साक्ष्य इस संदर्भ में विशिष्ट है। यहाँ पर सार्वजनिक नालियों के अवशेष नहीं मिले। घर की नालियों का पानी, चाहे वे नालियाँ लकड़ी की रही हों या पक्की ईंटों की नाबदानों में गिरता था। लकड़ी को कुरेद कर उसे नाली के रूप में प्रयोग करना कालीबंगां की अपनी विशेषता है, जिसका साक्ष्य सिंधु सभ्यता के किसी अन्य स्थल पर नहीं मिलता।

इस टीले के एक भाग में इमारतों के नौ क्रमिक स्तर पाये गये हैं। मकानों के आगे और पीछे दोनों ओर सड़कें थीं। साधारणतः घरों में एक आंगन होता था जिसमें कभी एक कुआँ भी होता था। आँगन के तीन ओर छह या सात कमरे होते थे। एक घर में ऊपर की मंजिल (?) में जाने के लिए सीढ़ी भी थी। एक मकान के अवशिष्ट भाग से ज्ञात होता है कि उसका दरवाजा गली में खुलता था। हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों में भी दरवाजे गली की ओर ही मिले हैं। द्वार से प्रवेश कर बरामदे में होकर कमरों में पहुँचा जाता था। कमरे बड़े और छोटे दोनों ही आकार के थे जो परस्पर दरवाजों से जुड़े होते थे। द्वार की चौड़ाई 70 से 75 सेमी. तक पायी गयी है। दरवाजे में कदाचित् एक ही किवाड़ लगाया जाता था क्योंकि किवाड़ के लिए एक ही छेद पाया गया है जो ऊपर की ओर है। इस तरह के एक पल्ले वाले किवाड़ होने के प्रमाण सिंधु सभ्यता के किसी अन्य स्थान पर अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। कालीबंगां के घर (हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के पक्की ईंटों से निर्मित भवनों के विपरीत) सभी कच्ची ईंटों के बने हैं। पक्की ईंटों का प्रयोग केवल कुआं, नालियाँ और स्नानागार के निर्माण में ही हुआ है। फर्श मिट्टी को कूट कर बनाया जाता था और कभी उसके ऊपर कच्ची ईंट और पक्की ईंट के पिण्ड

बिछा देते थे। यह विधि आज भी कालीबंगां के आस-पास के क्षेत्र में फर्श बनाने के लिए अपनाई जाती है। कुछ उदाहरणों में पक्की मिट्टी के 'पिण्ड' फर्श बनाने में प्रयुक्त हुए हैं। पर इससे यह कहना कठिन है कि मृत्पिंडों का एकमात्र यही उपयोग था। एक उदाहरण में फर्श की ईंटों पर वृत्त को काटते हुए वृत्त का बहुत सुन्दर अलंकरण है।[1] (फ. VIII, 1) कालीबंगां में मिट्टी के खण्डों पर शहतीरों की छाप मिली हैं। शायद शहतीरों का प्रयोग ऊपरी छत को सहारा देने के लिए किया गया होगा जैसा कि आज भी इस क्षेत्र में लिया जाता हैं। अधिकांश घरों में तो ईंटों के आयत घेरे मिले हैं जिनमें मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ें पाये गये हैं। कुछ मिट्टी से पुते अण्डाकार गड्ढे भी मिले। इनके भीतर राख तथा कोयले के टुकड़े पाये गये हैं। इनके बीच में एक या अधिक ईंटें थीं। इनका संबंध किसी धार्मिक अनुष्ठान से लगता है।[2] (देखिए अध्याय 11 'धार्मिक विश्वास एवं अनुष्ठान')।

कालीबंगां की इमारतों के खण्डहरों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आंगन का क्षेत्रफल समय बीतने के साथ संकुचित होता गया। कई स्तरों पर हरे रंग की तह देखी गयी है। शायद यह तह गोबर की थी जिसे आजकल के गांवों में प्रचलित प्रथा के अनुरूप मकान को लीपने में प्रयोग किया गया था।

कुछ अन्य स्थल

दक्षिणी सिंध के अनेक स्थलों पर भवनों की नींव पत्थर की थी जिसके ऊपर संभवतः कच्ची ईंटों या मिट्टी और गारे की दीवारें रही होंगी। बलूचिस्तान के सुत्कगेन्डोर में घर की बाहरी दीवारें कम से कम 1.52 मीटर की ऊँचाई तक पत्थर की थीं और उसके ऊपर कच्ची ईंटों की। सिंध के अलीमुराद में पत्थर की रक्षा-दीवार और उसके भीतर भवनों की दीवारों के अवशेष मिले। सिंधु और बलूचिस्तान के स्थलों के नगर-निर्माण की रूपरेखा और भवनों के अवशेषों के बारे में जानकारी उन स्थलों के संक्षिप्त परिचय के संदर्भ में ऊपर दी जा चुकी है।

रोपड़ में, उत्खनन सीमित क्षेत्र में होने से, स्थापत्य संबंधी जानकारी उपलब्ध नहीं हो पायी है, यद्यपि यहाँ चार निर्माण चरणों के चिह्न मिले हैं। ऐसे प्रमाण मिले हैं कि प्रथम चरण से ही नदी के तट के रोड़े व मामूली तौर

---

1. सांकलिया का कहना है कि यह अभिप्राय मात्र अलंकरण के लिए नहीं लगता बल्कि इसका धार्मिक महत्त्व भी हो सकता है।

2. सांकलिया द्वारा नेवासा में कराये गये उत्खननों में उथले गड्ढों में मिट्टी की आयतरूप संरचनाएं मिली हैं जिनके भीतर पत्थर पाये गये हैं।

से तराशे कंकर-पत्थर का कच्ची और पक्की ईंटों के साथ चिनाई में प्रयोग किया गया था। जुड़ाई के लिए गारे के रूप में मिट्टी का प्रयोग किया गया था।

बणावली में प्रथम काल में सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृति (जो कालीबंगां प्रथम के बहुत कुछ समान है) के अवशेष मिलते हैं। द्वितीय काल में सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं। सिंधु सभ्यता के काल में सड़कें एक-दूसरे को समकोण पर काटती थीं। मकानों के दोनों और सड़कें और नालियाँ थीं। दो विशाल चबूतरे मिले हैं जो एक दूसरे से 1.50 मीटर की दूरी पर हैं। इनके पश्चिम में मकानों के खण्ड थे। उत्तर-पश्चिमी सड़क की चौड़ाई 5.50 मीटर पायी गयी है। सड़क पर बैलगाड़ी के पहियों के निशान मिले हैं, पहियों की दूरी आजकल के बैलगाड़ी के पहियों की दूरी के समान हैं। सिंधु सभ्यता के भवन कच्ची ईंटों के बने हैं। ये ईंटें तीन आकारों की हैं। मकानों की दीवारों में मिट्टी का लेप लगाया गया था।

आलमगीरपुर में किसी भवन के अवशेष नहीं मिले। किन्तु कुछ पक्की ईंटों का मिलना पक्के निर्माण के होने का सूचक है। शायद उनका प्रयोग स्नानागारों के लिए होता था। ईंटें मुख्यतया दो माप की हैं एक 28.57 सेमी. से 29.84 सेमी. लम्बी, 13.33 सेमी से 15.87 सेमी. चौड़ी और 6.98 सेमी. मोटी है, और दूसरी प्रकार की (बड़ी) ईंटों की माप 35.56 x 20.32 x 10.16 है।

रंगपुर में सिंधु संस्कृति के प्रथम चरण के भवन कच्ची ईंटों के चबूतरे पर निर्मित हैं। सिंधु सभ्यता के अन्य नगरों के भवनों की भाँति उनमें स्नानागार और नालियों का प्रबंध था। एक भयानक बाढ़ एवं नदियों के मार्ग परिवर्तन से यहाँ पर नागरिक सुख-सुविधाओं में अत्यधिक ह्रास हुआ। द्वितीय चरण में इस संस्कृति के भवन पहले की अपेक्षा छोटे और अनियोजित थे। घर कच्ची ईंटों के बने थे। तृतीय और अंतिम चरण में, जैसा कि अनेक उपकरणों से स्पष्ट है। भौतिक उपकरणों में कुछ उन्नति हुई। लेकिन रंगपुर में हड़प्पा सभ्यता के किसी भी चरण में कोई महत्त्वपूर्ण इमारत नहीं मिली, यद्यपि इस बात को भी नजरंदाज नहीं किया जा सकता है कि इस स्थल में अभी तक विशाल पैमाने पर उत्खनन नहीं किये गये हैं।

सुरकोटड़ा (आरेख 5) में सिंधु सभ्यता के लोगों ने कच्ची ईंटों और मिट्टी के लोंदो से प्रथम काल के प्रथम चरण में किलेबंदी की और इसके भीतर की ओर आधार पर पाँच से आठ रद्दे तक पत्थर का आच्छादन है। आधार पर रक्षा-दीवार की चौड़ाई लगभग 7 मीटर थी और इस पर अंदर की ओर 5 सेमी. मोटा लेप था। कच्ची ईंटों का आकार 10 x 20 x 20 सेमी.

है। दीवार की वर्तमान ऊँचाई 4.50 मीटर है। इसके निर्माण में चार चरण पाये गये। गढ़ी की दीवार में दो प्रवेशद्वार थे, एक दक्षिण की ओर और एक
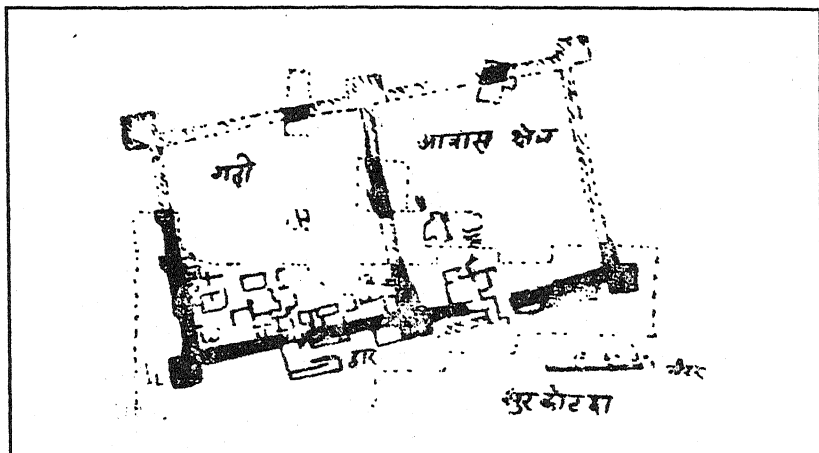
आरेख 5

पूर्व की ओर आवास-क्षेत्र भी सुरक्षा-दीवार से आवेष्टित था जो 3.25 मीटर चौड़ी थी। दक्षिण-पश्चिम की ओर यह 1.80 मीटर ऊँची पायी गयी।

वहाँ पत्थर की चिनाई वाले घरों के अवशेष भी मिले हैं। घरों में स्नानकक्ष और नालियों के प्रबंध के साक्ष्य हैं। प्रथम काल के द्वितीय चरण में भी सुरक्षा-दीवार की रूपरेखा पूर्ववत रही। तृतीय चरण में भी पूर्वकालीन. लोगों की परंपरा में ही गढ़ी और सुरक्षा-दीवार बनाई गई। गढ़ी का आकार 60 x 60 मीटर था और निम्न आवास-स्थल का 55 x 60 मीटर। सुरक्षा दीवार साढ़े तीन से चार मीटर चौड़ी थी और उसके प्रत्येक ओर लगभग 10 मीटर का वर्गाकार बुर्ज था तथा दक्षिण की ओर एक द्वार भी था जिसमें सुरक्षा के लिए रक्षक-कक्ष थे। इसके साथ ही साधारण आवास-स्थल से भी गढ़ी में प्रवेश हेतु एक दरवाजा था जिसे कालांतर में बंद कर दिया गया। सुरक्षा-दीवार और बुर्जों में मरम्मत के चिह्न मिले हैं। गढ़ी में एक नौ कमरे वाले मकान के अवशेष मिले। आवास-क्षेत्र में साधारणतया घरों में पाँच कमरे और सड़क की ओर चबूतरे बने पाये गये।

●●●

अध्याय 4

पाषाण तथा धातु की मूर्तियाँ

सिंधु सभ्यता की मुहरें अपनी कलात्मकता के लिए विख्यात हैं, किन्तु इस सभ्यता की पाषाण मूर्तियाँ और मृण्मूर्तियाँ दोनों ही कुछ अपवादों को छोड़कर, कला की दृष्टि से साधारण कोटि की हैं। अपवादस्वरूप, हड़प्पा की दो पाषाण मूर्तियां हैं और मोहेंजोदड़ों से प्राप्त मिट्टी की बैल की एक आकृति इतनी कलात्मक है कि यह निष्कर्ष निकालना समीचीन होगा कि हड़प्पा संस्कृति की उपलब्ध मूर्तियाँ उस काल की उन्नत कला का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करती और सिंधु सभ्यता की कला के बारे में हमारी जानकारी अधूरी है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इन लोगों ने शिल्पाकृतियाँ अधिकांशतः लकड़ी की बनाई थीं जो नष्ट हो गई हैं। परवर्तीकाल में भारत लकड़ी की बनी कलाकृतियों के लिए विश्वविख्यात रहा है और आश्चर्य नहीं कि यही स्थिति सिंधु सभ्यता के समय भी रही हो। पाषाण मूर्तियों का इतनी अल्प संख्या में प्राप्त होना भी इसी निष्कर्ष की ओर इंगित करता है। वैसे पत्थर की मूर्तियों का कम संख्या में मिलने का एक कारण यह भी था कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के समीपवर्ती क्षेत्र में पत्थर का अपेक्षाकृत अभाव था। उपलब्ध पाषण मूर्तियाँ अलाबस्टर, चूना-पत्थर, सेलखड़ी, बलुआ पत्थर और स्लेटी पत्थर से निर्मित हैं। सभी मूर्तियाँ खंडित अवस्था में प्राप्त हुई हैं, किसी का केवल सिर मिला है, किसी का केवल धड़। कोई भी पाषाण मूर्ति ऐसी नहीं जिसका सिर और धड़ दोनों मिले हों।[1] कलात्मक-मूर्तियाँ अल्प हैं, किन्तु इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि उस काल के कलाकारों में सौंदर्य सृष्टि की पर्याप्त क्षमता थी।

शिल्प कला

मोहेंजोदड़ों से प्राप्त सेलखड़ी पत्थर की एक खण्डित मानव-मूर्ति, जिसका सिर से वक्षस्थल तक का ही भाग बचा है (फ. IX, 1), उल्लेखनीय है। यह

1. मकाइ का अनुमान है कि इन्हें जान-बूझकर तोड़ा गया, किन्तु उन्होंने इस बात का बताने में असमर्थता प्रकट की है कि किन लोगों ने और किन कारणों से इन्हें तोड़ा होगा।

सतह से 1.37 मीटर की गहराई पर मिला है और इसलिए ऐसा विदित होता है कि यह सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण का है। इसकी ऊँचाई लगभग 19 सेमी. है। नेत्र कुछ लम्बे तथा अधखुले हैं। दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित लगती है। होंठ मोटे हैं। नासिका मध्यम आकार की है। माथा छोटा तथा ढलुआ है। ग्रीवा साधारण से कुछ अधिक मोटी है। मेसोपोटामिया की प्राचीन शिल्प कृतियों में भी अक्सर मोटी गर्दन बनाने का चलन था। मार्शल का विचार है कि इन विशेषताओं से यह किसी व्यक्ति विशेष की रूपाकृति नहीं लगती है, और न ही इसे किसी जाति विशेष का द्योतक मान सकते हैं। किन्तु मकाइ इसे कलाकार द्वारा किसी व्यक्ति के यथार्थ रूपांकन की चेष्टा का उदाहरण मानते हैं।

इस मूर्ति का केश विन्यास विशेष रोचक है। पीछे काढ़ी गयी केश राशि मस्तक पर एक फीते से बंधी है। पर कान कुछ विचित्र ढंग से बनाये गये हैं दाढ़ी भली प्रकार कटी है, किन्तु ऊपरी ओंठ पर मूछें मुड़ी हैं। उल्लेखनीय है कि प्राचीन मेसोपोटामिया की कलाकृतियों में भी मुंडी मूँछों वाली आकृतियाँ ही अधिकांशतया बनायी गयी थीं। वह एक शाल ओढ़े है जो बाएं कंधे को ढके हुए हैं; दायां हाथ खुला है। परवर्ती काल की कला में भी इसी शैली में शाल ओढ़े मूर्तियाँ, विशेषतया बुद्ध और बोधिसत्व की, मिलती हैं। शाल का उभरा हुआ तिपतिया अलंकरण है। इस अलंकरण के भीतर वाले भाग को लाल पेस्ट से भरा गया था। तिपतिया अलंकरण सिंधु संस्कृति के कुछ मनकों पर भी मिलता है। मिस्र, मेसोपोटामिया और क्रीट में प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में इस तरह का अलंकरण देवताओं की आकृतियों पर विशेष रूप से मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह अलंकरण सिंधु सभ्यता के लोगों ने किसी दूसरे स्रोत से सीखा। आँखें सीप की बनाकर अलग से जड़ी गयी थीं, एक आँख पर सीप के स्पष्ट चिह्न बने मिलते हैं। इस तरह आँख को जड़ कर बनाने का प्राचीन मिस्र और सुमेर में काफी प्रचलन था। आकृति की दाहिनी भुजा पर भुजबंध है।

उपर्युक्त मूर्ति को सतर्कता तथा सावधानी से गढ़ा गया था। किन्तु इसकी बनावट में हड़प्पा से प्राप्त लाल पत्थर के धड़ और मोहेंजोदड़ों की कांस्य नर्तकी जैसी स्वाभाविकता का अभाव है। नेत्रगह्वर संकरे बनाये गये हैं। बाशम तो इसे मंगाल जाति के व्यक्ति की आकृति का रूपांकन होने की संभावना मानते हैं। लेकिन मकाइ का कहना है कि आँखें मंगोलियन प्रकार की नहीं हैं। केशराशि और चेहरा बाकी भाग के अनुपात में बड़े दिखलाये गये हैं। मोटी ग्रीवा, ऊपरी होंठ मुंडा होना, नेत्र गह्वर दिखाना, वस्त्र के तिपतिया

अलंकरण, बाजूबंद और शायद कान को खचित दिखाना प्राचीन मेसोपोटामिया की कला में भी मिलता है किन्तु मस्तक को ढलुवा दिखाना समकालीन मेसोपोटामिया की मूर्तियों से इसकी विभिन्नता स्पष्ट करता है। दोनों कानों के पीछे वालों के आधार पर धातु निर्मित कालर के लिए छेद है। इस मूर्ति पर लेप लगाया गया था जो कि उत्खनन के बाद मूर्ति की सफाई करने के लिए धोने से निकल गया। इस मूर्ति को सावधानी से गढ़ने के बावजूद कलाकार द्वारा शारीरिक गठन को स्वाभाविक ढंग से न दिखाने का कोई विशेष कारण हो सकता है। परवर्ती काल में विशेष तथा भारत में देवी-देवताओं के अंकन में उनकी मानवाकृति के स्वाभाविक रूपाँकन के स्थान पर पारंपरिक शैली का सहारा लिया गया, और आश्चर्य नहीं कि धार्मिक महत्त्व के कारण सिंधु सभ्यता काल में भी इस मूर्ति को इसी तरह पारंपरिक शैली में बनाया गया हो। मार्शल का कहना है कि पारंपरिक शैली का उदाहरण होने के कारण इस मूर्ति को सिंधु सभ्यता की कला समझने का पैमाना नहीं माना जा सकता है। वे इस मूर्ति में परवर्ती काल में योगी रूप में देवी-देवताओं के अंकन का पूर्व रूप पाते हैं।

चूने के पत्थर से निर्मित लगभग 14 सेमी. ऊँचाई का एक सिर अत्यधिक भग्न अवस्था में पाया गया है। इस मूर्ति के एक नेत्र में, मूर्ति निर्माण के लिए प्रयुक्त पत्थर से भिन्न, श्वेत पत्थर खचित किया गया था। नाक टूटी है, मुँह भी क्षत-विक्षत है। गर्दन के दोनों ओर हार के लिए छेद है। लगभग 17.8 सेमी. तथा एक अन्य सिर (फ. X, 2) मोहेंजोदड़ों से मिला है। इसमें लहरदार केशों को एक फीते से बांधे और ऊपरी होंठ के मूँछों को साफ कराये दिखाया गया है। इसका चेहरा और कपोल अपेक्षाकृत सुन्दर बनाये गये हैं। केश-सज्जा दिखलाने में विशेष कुशलता प्रदर्शित की गयी है। केवल कानों के अंकन में सावधानी नहीं बरती गयी, इन्हें स्वाभाविक न बनाकर शंखाकार दिखाया गया है। चूने पत्थर की एक मूर्ति 14.6 सेमी. ऊँची है। यह पूरी तरह नहीं बन पायी है। केशों को इसमें भी पीछे एक चूड़ में संवारा गया है। उसकी ठुड्डी पर दाढ़ी के चिह्न नहीं हैं। यह आकृति पुरुष अथवा नारी किसी की भी हो सकती है। इसका मुँह छोटा है और होंठ मांसल हैं। आँखों में कुछ जड़ा गया था जो अब नष्ट हो गया है और गड्ढे मात्र शेष रह गये हैं। नाक छोटी है। चेहरे की अपेक्षा खोपड़ी छोटी है।

मोहेंजोदड़ों से अलाबास्टर पत्थर की बनी एक बैठे हुए आदमी की 29.5 सेमी. ऊँची मूर्ति प्राप्त हुई है। यह आकृति कटि में पारदर्शी वस्त्र बांधे है। यह बायीं भुजा ढकता हुआ दाहिनी भुजा के नीचे से होता हुआ पारदर्शी

पतला शाल ओढ़े है। पुरुष का बायां घुटना उठा है और उस पर उसकी बांयी भुजा टिकी है। सिर खण्डित है। केशों को गाँठ बाँध कर दिखाने का प्रयास किया गया था किन्तु किसी कारण से उसे अधूरा छोड़ दिया गया है। बनावट की दृष्टि से यह मूर्ति निम्न कोटि की है। उकडू बैठे हुए एक पुरुष की 42 सेमी. ऊँची अलाबास्टर पत्थर की बनी मूर्ति प्राप्त हुई है। इसकी भुजाएं दाहिने घुटने पर टिकी हैं। यह स्कर्ट की भाँति कोई वस्त्र पहने है। उसकी दाड़ी दिखाई गई थीं किन्तु अधिकांश भाग खण्डित है। आँखों का जो कुछ भाग बचा है उससे लगता है कि वे लम्बी और पतली थीं। कान अन्य कुछ मूर्तियों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह दिखाये गये हैं। आकृति केशपाश बाँधे है जिसके छोर पीछे लटकते दिखलाये गये हैं। इस आकृति के सिर के दो भाग खुदाई में इसके प्राप्ति स्थल से थोड़ी दूर पर पाये गये। यह मूर्ति अंतिम प्रकाल की है।

मोहेंजोदड़ों के उत्खननों से चूने पत्थर की कुछ मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो अत्यधिक खण्डित अवस्था में हैं। इनमें एक 21 सेमी. ऊँची घुटने पर हाथ रखे आदमी की खंडित मूर्ति मिली है। उकडू बैठे आदमी की एक 21.6 सेमी. ऊँची मूर्ति में उसकी भुजा घुटनों पर टिकी है। यह मूर्ति दुर्ग के अंतिम स्तर से उस स्थान पर पायी गयी है जहाँ पर 'पुरोहितों का कालेज' भवन स्थित था। इस खण्डित मूर्ति का सिर केशपाश से सज्जित था।

मोहेंजोदड़ों से प्राप्त उपर्युक्त मूर्तियां अधिकांशतः ऊपरी स्तरों से मिली हैं, अतः संस्कृति के अपेक्षाकृत बाद के चरणों की हैं। इनमें से तिपतिया डिजाइन का शाल ओड़े आकृति और कुछ परंपरागत शैली में बैठी आकृतियाँ देवता की हो सकती हैं। मोहेंजोदड़ों की ग्यारह मूर्तियों में से पाँच गढ़ी वाले टीले में मिली हैं। मकाइ का निश्चित मत है कि अधिकांश मूर्तियों पर मूलतः लाल अथवा अन्य किसी रंग को लेप था। मूर्तियों को रँगने की प्रथा अन्य प्राचीन संस्कृतियों में भी प्रचलित थी।

कान का यथार्थ रूप में दिखाने में कलाकार सफल नहीं हुए हैं। 'पुजारी' की मूर्ति में कान को इतना परंपरागत शैली में दिखाया गया है कि यदि इसे सिर के संदर्भ से अलग कर दें तो उसे कान पहचानना कठिन ही नहीं असंभव भी है। उपर्युक्त मूर्तियों में कोई न कोई अंग ऐसे हैं जिन्हें देखकर लगता है कि मानवाकृतियों के अंकन में इन मूर्तियों के निर्माताओं ने दक्षता नहीं प्राप्त की है। कलाकार ने कुछ मूर्तियों में दाढ़ी दिखायी है जो इस बात का द्योतक है कि उस काल के लोग दाढ़ी रखते थे। इन मूर्तियों से यह भी

अनुमान लगता है कि पुरुष लम्बी अलकावली भी रखते थे और बाल की गाँठ को सर पर बँधे फीते से संभाले रहते थे।

मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से परीक्षण करने से कुछ आकृतियाँ दीर्घशिरस्क और कुछ लघुशिरस्क लगती हैं। मकाइ ने यह भी उल्लेख किया है कि एक को छोड़कर सभी उदाहरणों में गाल चपटापन लिए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आदिम अवस्था में मनुष्य के गाल की हड्डियाँ उभरी होती हैं और सभ्य होने पर चपटी।

वस्त्रों में शाल का अंकन मिलता है। दो मूर्तियों में शाल के नीचे भी वस्त्र दिखाये गये हैं। सिंधु सभ्यता के लोग सिर पर पट्टी भी बाँधते थे। सुमेर की मूर्तियों के सिर पर भी पट्टी दिखायी गयी है। केवल इन चंद मूर्तियों से ही तत्कालीन लोगों की जातिगत विशेषताओं का निर्धारण करना समीचीन नहीं होगा, यद्यपि अन्य साक्ष्यों के समर्थन अथवा विपक्ष में इनके साक्ष्य का भी उल्लेख करना असंगत न होगा। मूर्तियों के जो सिर मिले हैं वे सभी एक ही तरह की आकृति दिखाने का प्रयास नहीं करते बल्कि वे इस बात की संभावना प्रस्तुत करते हैं कि कलाकार ने उन्हें अलग-अलग आकृतियों (वास्तविक लोगों की अथवा काल्पनिक देवी-देवताओं की) का अंकन करने की चेष्टा में बनाया है।

मोहेंजोदड़ों की मूर्तियों की तुलना समकालीन और लगभग समकालीन मेसोपोटामिया की मूर्तियों से करने पर कुछ समानता और कुछ भिन्नता दिखायी देती है। मोहेंजोदड़ों की मूर्तियों में आँखों को संकुचित दिखाया गया है जिससे वे अधखुली-सी लगती हैं। मेसोपोटामिया में नेत्र गोल और पूरे खुले दिखाये जाते थे। सिंधु सभ्यता को मूर्तियों में मुख का शेष सिर से उचित अनुपात न होना और ढलुआं मस्तक दिखाया जाना भी इन्हें मेसोपोटामिया की शिल्पाकृतियों से अलग करता है। दूसरी ओर, मोटी गर्दन और मूँछों का मुंडा होना, दोनों देशों की कलाकृतियों में मिलते हैं। मोहेंजोदड़ों की तीन मूर्तियों में आँखों को उत्खचित दिखाने का स्पष्ट साक्ष्य है। एक में उत्खचन पत्थर का है, दूसरे में सीप का। प्राचीन बेबोलोनिया और मिस्र की कलाकृतियों में आँखों को स्वाभाविक रूप से दिखाने के लिए उत्खचन का प्रयोग सामान्य था। यद्यपि अधिकांश पाषाण मूर्तियों में नाक क्षतिग्रस्त है तथापि जो भाग बचा है उससे इतना आभास होता है कि नाक विशेष प्रखर नहीं दिखाई गई है। केवल देवता या पुजारी की मूर्ति में ही नाक सुपुष्ट है। सुमेरी कलाकृतियों में अधिकांशतः नाक को सुपुष्ट दिखाया गया है।

हड़प्पा के उत्खननों से पत्थर की दो ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो शैली और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से काफी हद तक यूनानी कलाकृतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। दोनों ही मूर्तियाँ खण्डित हैं। इनमें से एक लाल बलुआ पत्थर का धड़ है जो वत्स द्वारा किये उत्खनन में मिला था। (फ. IX, 8)। यह एक युवा पुरुष का धड़ है और इसकी रचना में कलाकार ने मानव शरीर के विभिन्न अंगों का सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण दिया है। मूर्ति के शरीर के अंग अत्यन्त सजीव तथा स्वाभाविक रूप से गठित हैं और इसी स्वाभाविकता के कारण यूनानी कलाकृतियों के समीप हैं, किन्तु इसकी किंचित् तुन्दिलता यूनानी नहीं बल्कि भारतीय शैली के अनुरूप है। यह मूर्ति पूर्णतया नग्न है। कुछ विद्वान इसमें जैन तीर्थकरों की कायोत्सर्ग मुद्रा के प्राग् रूप की कल्पना करते हैं। मूर्ति के कंधों और ग्रीवा में छेद हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि सर और भुजाएं बनाकर यथा-स्थान जोड़ी गयी[1] थीं जो अब उपलब्ध नहीं।

दूसरी स्लेटी चूने-पत्थर की नृत्य-मुद्रा में बनाई गई आकृति का धड़ है। (फ. IX, 2) जो दयाराम साहनी द्वारा किये उत्खनन में मिला। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों का विन्यास आकर्षक है। इसमें सिर और भुजा अलग-अलग बनाकर उन्हें जोड़ा गया होगा किन्तु अब उनके स्थान के द्योतक केवल छेद ही बचे हैं। यह आकृति दायें पैर (जो काफी हद तक बचा हुआ है) पर खड़ी है और बायां पैर (जो घुटने से ऊपर से ही खंडित है) आगे की ओर कुछ ऊपर उठा हुआ है। ऐसा लगता है मानों ताल के साथ यह गति कर रही हो। पैर के उठने से शरीर के पृष्ठ भाग में जो उतार चढ़ाव आता है यह भी कलाकार की पैनी दृष्टि से छूटा नहीं है। पूरी आकृति में जीवन और गतिशीलता है। मार्शल, मकाइ, व्हीलर प्रभृति विद्वानों ने इसे पुरुष आकृति माना है। मार्शल ने तो उस आकृति के शिव नटराज के पूर्वरूप होने की संभावना व्यक्त की थी। उनके द्वारा इस तरह की पहचान का कारण उनकी यह धारणा थी कि आकृति को मूलतः उध्वलिंग दिखाया गया था। उनका यह भी अनुमान है कि गर्दन स्वाभाविक से अधिक मोटी लगती है और यह हो सकता है कि आकृति पर सिर (जो अब उपलब्ध नहीं है) एक न होकर तीन रहे हों, और यदि ऐसा था तो इसकी पहचान शिव से की जा सकती है।

---

1. मकाइ ने खुदाई में भाग लेने वाले स्थानीय मजदूरों की आँखों का निरीक्षण कर यह पाया कि वे इन शिल्पाकृतियों में दिखाई आँखों की तरह अधखुली थीं। उनके अनुसार भारत के अन्य क्षेत्रों में यह बात नहीं मिलती। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि सम्भवतः ये लोग इस प्रदेश में सिंधु सभ्यता के किसी जाति के लोगों के वंशज हों।

किन्तु क्षीण कटि, भारी नितम्ब तथा अन्य नारी-सुलभ अंगों को ध्यान में रखकर डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे नवयौवना नारी की आकृति माना है, जो अधिक समीचीन लगता है। यह उल्लेखनीय है कि मार्शल ने भी इसके अंगों में कोमलता दिखाये जाने का उल्लेख किया है। तत्कालीन मेसोपोटामिया की संस्कृतियों में मंदिरों में नर्तकियाँ रहती थीं। ऐसी ही परम्परा देवदासी के रूप में हाल ही तक दक्षिणी भारत के कुछ मंदिरों में प्रचलित थी। हो सकता है कि हड़प्पा संस्कृति में भी ऐसी ही कोई प्रथा रही हो।

निश्चय ही ये दोनों मूर्तियां सिंधु सभ्यता की अन्य मूर्तियों से, जो कला की दृष्टि से अपेक्षाकृत निम्नकोटि की हैं, अत्यन्त भिन्न हैं। जब ये दोनों मूर्तियाँ उद्घटित हुईं तो कलाविदों में सनसनी फैल गयी। अब तक यही धारणा थी कि यूनानी कला को ही सर्वप्रथम यथार्थ रूपांकन का श्रेय है। भारत में ऐतिहासिक काल में जो मूर्तियाँ मिली हैं उनमें आकृति को दिखाने में परम्परा का ही निर्वाह अधिक मिलता है, सर्वप्रथम यथार्थ रूपांकन का श्रेय है। भारत में ऐतिहासिक काल में जो मूर्तियाँ मिली हैं उनमें आकृति को दिखाने में परम्परा का ही निर्वाह अधिक मिलता है, यथार्थता की ओर कलाकारों का ध्यान कम गया। और यह आशा नहीं की जाती थी कि भारत के पुरैतिहासिक कलाकारों ने मूर्तियों के अंकन में यथार्थवादी कला के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये होंगे जैसे कि ग्रीक कलाकारों ने परवर्ती काल में किये। आज भी कुछ लोग इनके सिंधु सभ्यता कालीन होने पर संदेह व्यक्त करते हैं, किन्तु मार्शल ने अकाट्य तर्कों में इनके सिंधु सभ्यता का होना सिद्ध कर दिया है। मार्शल के मुख्य तर्क इस प्रकार हैं - (1) लाल बालुए पत्थर की मूर्ति सतह से 1. 470 मीटर की गहराई पर तीसरे स्तर से मिली है और दूसरी स्लेटी चूना-पत्थर की मूर्ति अन्य क्षेत्र में चौथे या पांचवें स्तर से। इस तरह ये दोनों ही सतह से काफी नीचे मिली हैं और सतह की भूमि में कुछ परिवर्तन किये जाने के कारण किसी तरह इतनी गहराई तक पहुँच गई। किन्तु ऐसी दशा में यह सोचना स्वाभाविक है कि केवल यही दो नहीं परवर्ती काल की कुछ अन्य वस्तुएं उसी तरह भूमि के अन्दर चली गयी होंगी। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। दोनों मूर्तियाँ तथा उनके साथ मिले सभी उपकरण सिंधु सभ्यता के काल के हैं, एक भी वस्तु परवर्ती काल की नहीं। यही नहीं, वत्स का कहना है कि जिस टीले में वह मिली है, उसकी सतह से भी कोई पुरैतिहासिक काल के बाद का उपकरण नहीं मिला है। (2) यह सही है कि हड़प्पा के आस-पास न तो स्लेटी चूना पत्थर मिलता है और न लाल बलुआ पत्थर; किन्तु पुरैतिहासिक

काल में वहाँ के लोग अन्यत्र से मंगाकर विभिन्न प्रकार के पत्थरों के प्रयोग करते रहे, जबकि इण्डोग्रीक, सीथियन और पार्थियन राजाओं के काल में इस तरह के पत्थर के प्रयोग का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। (3) हाथ और सिर को अलग से बनाकर मूर्ति में छेद करके जोड़ने की शैली और पत्थर में कंधे के समीप खचित करने के उद्देश्य से किये गये नालीदार बर्मे से छेद, और स्लेटी चूने पत्थर की मूर्ति की तरह वक्ष के चूचुक भी खचित किये जाने के उदाहरण ऐतिहासिक काल की कला में नहीं मिलते। (4) यह सही है कि शरीर के विभिन्न अंगों के यथार्थ अंकन यूनानी कलाकृतियों की ही मुख्य विशेषता है और भारतीय संदर्भ में गंधार कलाकृतियों में यूनानी प्रभाव निश्चित रूप से परिलक्षित होता है, फिर भी गंधार कलाकृतियाँ मूल यूनानी कलाकृतियों से कुछ भिन्न हैं। इनमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जिसकी सजीवता की दृष्टि से मूल यूनानी कलाकृतियों से तुलना की जा सके। अतः इन दो कलाकृतियों को गंधार कला की कृति मानना समीचीन नहीं लगता। दूसरी ओर सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर अंकित पशु आकृतियाँ विशेषतः बैल और इन संदर्भ में मार्शल की मुद्रा संख्या 337 विशेष उल्लेखनीय है, की आकृतियों को देखने से बरबस यह धारणा बनती है कि जो लोग पशु का इतना सुंदर, सजीव और गतिशील रूपांकन कर सकते थे वे मनावाकृति का भी उसी शैली में रूपांकन कर सकने में सक्षम रहे होंगे। फिर इन दो कलाकृतियों की निर्माण शैली में कुछ भारतीय तत्त्व भी हैं। सरसी कुमार सरस्वती का कहना है कि शैली की दृष्टि से लाल बलुए पत्थर के धड़ और कुषाणकालीन शिल्पाकृतियों में भी कुछ समानता दिखाई देती है। आकृति में गड्डे बनाकर फिर उस स्थान पर किसी वस्तु को खचित करने का उदाहरण सिंधु सभ्यता में हमें मोहेंजोदड़ों से प्राप्त पुरोहित की मूर्ति, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, में भी मिलता है, और अब तक किसी भी विद्वान ने उस मूर्ति के सिंधु सभ्यता की कृति होनें पर लेशमात्र भी संदेह नहीं किया है।

पाषाण पशु-मूर्तियाँ

पाषाण निर्मित पशुओं की मूर्तियाँ अत्यल्प संख्या में मिली हैं। मोहेंजोदड़ों से एक 25.4 सेमी. ऊँची पत्थर की मूर्ति पाई गई है, जिसमें मेढ़े जैसे सींग और शरीर दिखाये गये हैं, और हाथी जैसी सूड़। सिर भली-भाँति बना था किन्तु उपलब्ध नहीं तथापि इस बात की संभावना है कि मानव सिर दिखाया रहा हो। मुद्राओं पर इस तरह के विभिन्न जानवरों के अवयव लेकर आकृति

बनाने के अनेक उदाहरण हैं। एक मेढ़े की, और एक अन्य पशु आकृति (वह भी संभवतः मेढ़े की है) साधारण कोटि की है। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त सेलखड़ी का एक कुत्ता बहुत सुंदर बना है और आकृति में वह आजकल के मैस्टिफ नस्ल के कुत्ते से बिल्कुल मिलता-जुलता है।

कांस्य मूर्तियाँ

हड़प्पा संस्कृतिकालीन कांस्य मूर्तियों में सर्वाधिक कलात्मक नर्तकी की मूर्ति है (फ. X, 1)। मोहेंजोदड़ों के 'एच आर' क्षेत्र से उपलब्ध यह मूर्ति 14 सेमी. ऊँची है। यह टखनों से नीचे खण्डित है। आकृति नग्न है। बायीं भुजा, जो कंधे से लेकर कलाई तक चूड़ियों से भरी है, में एक पात्र है। वह सहज भाव से नृत्य करती प्रतीत होती है। उसकी दाहिनी भुजा कटि पर अवलंबित है और इसमें केवल थोड़ी-सी चूड़ियाँ हैं। इस हाथ के हाव-भाव दिखाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त होने के कारण ही इसमें दूसरे हाथ की अपेक्षा काफी कम चूड़ियाँ हैं। सिर थोड़ा सा एक ओर झुका हुआ है। केशराशि पीछे की और एक बेणी में सँवार कर दाहिने कंधे पर लटकती छोड़ दी गई है। कण्ठ कण्ठाभरण से शोभित है।

इस मूर्ति में नारी अंगों का न्यास सुन्दर रूप से हुआ। दुबली-पतली गातयष्टि और क्षीण-कटि एवं अभ्यानत जंघाएं भारतीय साहित्य में वर्णित और कला में अंकित आदर्श नारी सौन्दर्य का परिचायक है। आकृति को उद्दीपक ढंग से दिखाया गया हैं। मुखाकृति विशेष आकर्षक नहीं है। नेत्र बड़े हैं और उन्हें गहरे निशान से अभिव्यक्त किया गया है। नासिका का चपटापन, ओंठ का भारीपन तथा बायीं भुजा का अनेक चूड़ियों के भार से बोझिल होना भी सौंदर्य-सृष्टि में बाधक माना जा सकता है। एक पूरी बाँह को चूड़ियों से भरना किसी धार्मिक परम्परा का सूचक हो सकता है। मार्शल के अनुसार इस कांस्य-मूर्ति के अंग सौष्ठव को देखने से लगता है कि इसमें किसी आदिवासी युवती के रूपांकन की चेष्टा की गई है। इसकी शारीरिक गठन की विशेषताओं के आधार पर कुछ ने इसको दक्षिण-भारतीय नारी से प्रेरित कलाकृति माना है। पिगट ने इस आकृति की तुलना कुल्ली (बलूचिस्तान) में प्राप्त मिट्टी की नारी आकृतियों से की है और इसे बलूची नारी पर आधारित माना है। उनका कहना है कि शायद सिंधु सभ्यता के व्यापारी व्यापार के संदर्भ में बलूचिस्तान के मार्ग से लौटते समय मनोरंजन के लिए बलूचिस्तान की किसी बस्ती में नृत्य नाटिका देखते रहे होंगे और वहीं से किसी नर्तकी को अपने साथ ले

आये होंगे। उनके मत में ऐसी ही कोई नर्तकी मोहेंजोदड़ों की इस कांस्य मूर्ति का माडल रही होगी।

इस मूर्ति का निर्माण द्रवी-मोम विधि से हुआ है। इसका निर्माण एक ही प्रयास में होने से इसमें पर्याप्त स्वाभाविकता आ गयी है। और इसीलिए पत्थर की मूर्तियों की अपेक्षा (हड़प्पा के दो कलात्मक धड़ों को छोड़कर) यह कांस्य मूर्ति कुछ अधिक प्रभावशाली बन पड़ी है। कार्लटन ने जीवता एवं गतिशीलता के लिए इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यद्यपि शरीर को उतनी यथार्थता के साथ नहीं दिखाया गया जितना कि हड़प्पा के उपर्युक्त दो पत्थर के घड़ों में दिखाया गया है, तथापि इसके निर्माण में उनकी ही जैसी कला-भावना की प्रेरणा लगती है। और इसका निश्चित रूप से हड़प्पा संस्कृति की ही सिद्ध करने में एक और साक्ष्य प्रस्तुत करता है। मोहेंजोदड़ों से ही एक और नर्तकी की कांस्य-मूर्ति मिली है। यह उपर्युक्त कांस्य नर्तकी की मूर्ति से कला की दृष्टि से निम्न कोटि की है। कांस्य की किसी मूर्ति का केवल एक पैर ही मिला है जो भली-भाँति बनाया गया है। यदि पूरी आकृति प्राप्त होती तो अनुमानतः वह बहुत सुन्दर होती।

मोहेंजोदड़ों से कांसे की कुछ पशुओं की भी आकृतियाँ मिली हैं। इनमें भैंसा (फ. XV, 2) और मेढ़ा (अथवा बकरा) की आकृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। क्रोध में तिरछे देखते हुए भैंसे की आकृति कला का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है। लोथल से तांबे के पक्षी, बैल, खरगोश और कुत्ते की आकृतियाँ मिली हैं (आरेख 6)। इनमें ताँबें का एक कुत्ता कला की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा से एक 5.08 सेमी. ऊँची ताँबे की इक्का-गाड़ी मिली है; और चन्हुदड़ो से तांबे से बने गाड़ियों के दो माडल उपलब्ध हुए हैं।

जैसा कि पिगट ने कहा है सिंधु सभ्यता के लेखों के समान ही उस सभ्यता की शिल्पाकृतियों में विशालता और उसका सार्वजनिक प्रयोग किये जाने का अभाव है। ये लघु हैं और इनकी स्थापना व्यक्तिगत देव स्थानों में ही की गयी होगी, सार्वजनिक मंदिरों में नहीं। पिगट के मतानुसार अन्य कई साक्ष्यों की भाँति इन मूर्तियों से भी हड़प्पा सभ्यता के लोगों का निजीयता या कहना चाहिए गोपनीयता के प्रति विशेष लगाव होने का ही अनुमोदन होता है।

●●●

अध्याय 5

मृण्मूर्तियाँ

मिट्टी की सर्वत्र-सुलभता, उससे आकृतियों के निर्माण में धातु एवं पत्थर से अधिक आसानी, और कम खर्च के कारण प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में मृण्मूर्ति-कला लोकप्रिय रही। हड़प्पा संस्कृति में उपलब्ध शिल्प आकृतियों में सर्वाधिक संख्या मृण्मूर्तियों की ही है। ये मूर्तियाँ मानव और पशुओं की हैं। जहाँ तक मानव आकृतियों का प्रश्न है, मोहेंजोदड़ों में नारी मृण्मूर्तियों की तुलना में पुरुष मूर्तियाँ बहुत कम मिली हैं। हड़प्पा में भी नारी आकृतियाँ ही अधिक हैं, किन्तु पुरुष आकृतियाँ मोहेंजोदड़ों की तुलना में कहीं अधिक हैं (लगभग नारी आकृतियों की आधी)। मानव आकृतियाँ उसी तरह की नदी द्वारा लाई मिट्टी से बनी हैं जिस तरह की मिट्टी मृद्भाण्डों के बनाने में प्रयुक्त की गई है। सिंधु सभ्यता की प्रायः सभी मृण्मूर्तियाँ हाथ से बनाई गई हैं अपवादस्वरूप कुछ मुखौटे हैं जिन्हें साँचे से बनाया गया था।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में जो नारी आकृतियाँ मिली हैं (फ. XI, XII) वे कर्धनी से नीचे घुटने से ऊपर स्कर्ट की तरह के वस्त्र पहने हुए दिखाई गई हैं, शेष शरीर बिल्कुल नग्न है। समकालीन मेसापोटामिया और अन्य देशों की संस्कृतियों में अधिकांशतः इस तरह की मृण्मयी नारी आकृतियों का नग्न अंकन मिलता है। सिर पर पंखाकार शिरोभूषा है जिससे दोनों ओर प्यालेनुमा आकार बनाये गये हैं। प्यालेनुमा वेशभूषा वाली आकृतियाँ नीचे के स्तरों में कम और ऊपर के स्तरों में अधिक मिली है। मकाइ का कहना है कि शायद उस काल में नारियाँ इससे मिलती-जुलती शिरोभूषा पहनती थीं और एशिया माइनर के अदालिया (Adalia) से प्राप्त कुछ प्राचीन मूर्तियों की शिरोभूषा भी बहुत कुछ पंखाकार है। कुछ में इस भूषा को सर से बाँधा हुआ दिखाया गया है। इनके चेहरे पर दोनों ओर एक-एक शंकु बने हैं जो वास्तविक रूप में शिरोभूषा के अंग हैं न कि चेहरे के। शक्वाकार सोने का आभूषण उत्खनन में मिला है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आकृतियों में सोने का आभूषण दिखाने का ही अभिप्राय था। इन मिट्टी की मूर्तियों में नारी आकृतियों को खूब लम्बी-लम्बी कई लड़ी वाले हार पहने दिखाया गया है। हारों में मनकों को अलग-अलग दिखाने का प्रयास किया गया है। करधनी मनकों की

ही बनी लगती है। गले पर अत्यन्त अलंकृत हँसली है। अधिकांश मूर्तियों के हाथ और पैर टूट गये हैं लेकिन जिनमें बच गये हैं उनमें वे हाथों में भुजबंद और पाँवों में कड़े पहने दिखाये गये हैं। इन मूर्तियों का एक ही परम्परा के अनुसार निर्मित होना और उनके अत्यधिक अलंकृत शिरोभूषा और आभूषण इस बात के द्योतक लगते हैं कि वे धार्मिक महत्त्व की थी। विद्वानों का मत है कि ये मातृदेवी की मूर्तियाँ हैं, जिसकी पूजा अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी प्रचलित थीं। इस संदर्भ में यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि इस तरह के वेशभूषा और आभूषणों से अलंकृत मातृदेवी की मूर्तियाँ मुख्यतः हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में ही पायी गयी हैं, सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों पर तो नारी आकृतियाँ मिली ही नहीं। लोथल जैसे महत्त्वपूर्ण नगर से भी नारी मृण्मूर्तियाँ अत्यन्त अल्प संख्या में मिली हैं, और उनका आकार-प्रकार भी हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों से प्राप्त नारी मृण्मूर्तियों से भिन्न है। लोथल से एक नारी मृण्मूर्तियों की तरह, सिर से कमर के पास तक ही बनाया गया था। मोहेंजोदड़ों की मूर्तियों की तरह अलंकरण का इसमें अभास है। कुछ मृण्मूर्तियों में नारी को आटा सानते दिखाया गया है। हड़प्पा से एक नारी आकृति को, जो खंडित अवस्था में हैं, तीन पाये वाली कुर्सी पर बैठा दिखाया गया है। कभी-कभी नारी के पेट को काफी बड़ा दिखाया है जो उसे गर्भवती दिखाने के उद्देश्य से किया गया हो सकता है। कुछ में नारी को शिशु के साथ दिखाया गया है। शिशु या तो कूल्हे पर दिखाया गया है या वक्षस्थल पर दुग्धपान करता हुआ। कुछ में नारी हाथ में पक्षी लिये दिखायी गयी है; इस तरह की अभिप्राय वाली मृण्मूर्तियाँ ऐतिहासिक काल में काफी प्रचलित थीं। कभी-कभी आकृतियों के सिर पर कुछ दिखाया गया है, जो कुछ में सींग जैसी और कुछ में चपाती जैसी आकृति की लगती हैं। कुछ उदाहरणों में नारी को तख्ते पर लेटा हुआ दिखाया गया है। जिन मूर्तियों में उत्पादिका शक्ति को स्पष्ट करने का प्रयास है वे तो निश्चय ही मातृदेवी की मूर्तियाँ लगती हैं। लेकिन जो साधारण प्रकार की नारी आकृतियाँ हैं, वे बच्चों के खिलौने भी हो सकती थीं।

उपर्युक्त मातृदेवी की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से आदिम प्रकार की हैं। मातृदेवी के चेहरे कुरूप हैं, यद्यपि उनमें भयानकता अथवा रौद्र रूप दिखाने का प्रयास नहीं लगता। आकृतियों के शरीर के कुछ अवयवों, यथा आँख और कुच को अलग से बनाकर उन्हें शरीर में यथास्थान पर जोड़ दिया गया था। इनके आभूषण भी अलग से चिपका कर लगाये गये थे। प्रायः सभी मानव

मृण्मूर्तियों में आँखों के स्थान पर गोल टिकली चिपका दी गयी हैं। अत्यन्त अल्प उदाहरण ही ऐसे हैं जिनमें इन टिकलियों में आँखें स्पष्ट करने के लिए लकीरें डाली गई हैं। लेकिन इस बात की संभावना है कि मूलतः ये मूर्तियाँ रंगी गई हों, और आँख की पुतली को अलग रंग से स्पष्ट रूप से दिखाया गया हो। आँखों की पुतलियों को इस तरह लकीरों द्वारा दिखाने की प्रथा प्राचीन मेसोपोटामिया में विशेष रूप से प्रचलित थी। पुरुष आकृतियों में तो आँखें, बिना अपवाद के, विभिन्न भागों को स्पष्ट किये बिना ही दिखाई गयी हैं। गीली मिट्टी का टिकली चिपका कर उसमें बीच में लकीर लगाकर मुँह और होंठ दिखाये गये हैं। उल्लेखनीय है कि प्राचीन किश की मूर्तियों में मुँह दिखाने का प्रयास किया भी है वहाँ होंठ न दिखाकर केवल लकीर उत्कीर्ण कर मुँह होने का आभास दिया गया है। सिंधु मृण्मूर्तियों ने नासिका अलग से गीली मिट्टी चिपका कर नहीं बल्कि मुँह के ऊपर के भाग में मिट्टी को चुटकी से दबाकर बीच में उभार देकर बनायी गयी है, जो चोंच जैसी लगती है। कुछ मृण्मूर्तियों पर लाल रंग के चिह्न मिलते हैं। यह अनुमान लगाया जाना स्वाभाविक है कि इनमें से अनेक मूर्तियाँ मूलतः लाल रंग से रँगी होंगी।

पुरुष-आकृतियाँ

(आरेख 6)

पुरुष मृण्मूर्तियाँ बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी नग्न हैं। कुछ मूर्तियाँ खड़ी दिखायी गयी हैं, कुछ बैठी। बैठी आकृतियाँ घुटनों को भुजाओं से घेरे दिखाई गई हैं या फिर उन्हें हाथ जोड़े दिखाया गया है। कुछ पुरुष आकृतियाँ तंग-सी टोपी पहने हुए हैं, लेकिन यह भी संभव है कि ये टोपी न होकर बाल दिखाने के प्रयास हो। वत्स को हड़प्पा के उत्खनन में एक विशिष्ट पुरुषाकृति मिली जिसका दाहिना भाग खंडित होने के कारण अनुपलब्ध है। यह मूलतः कुर्सी पर बैठी दिखाई गई थी। इसकी आँखें कुछ लम्बी हैं, मस्तक ढलुआँ है, नाक काफी उभरी है। बाल चार लटों में दिखाए गए हैं। यह नर आकृति अन्य नग्न आकृतियों के विपरीत तहमद पहने है जिस पर कुछ उभरे हुए डिजाइन हैं। वह चार लड़ी का हार भी पहने हैं। वत्स का कहना है कि उभार लिए दाने वास्तविक जीवन में धातु से अलंकृत वस्त्र पहने जाने के परिचायक हैं। पुरुषाकृतियों को सींगयुक्त दिखाया गया है।
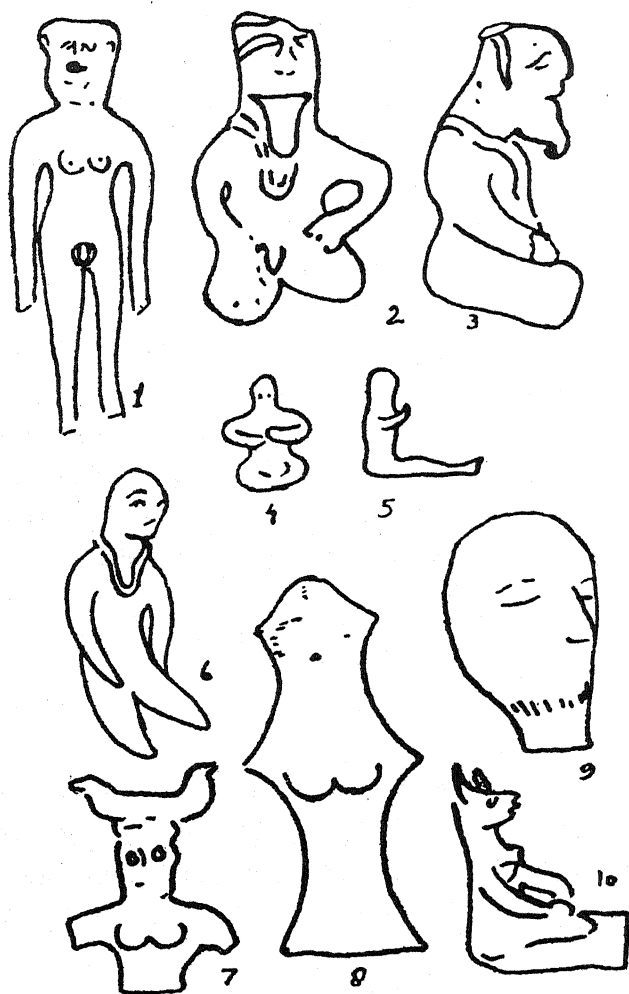
आरेख 6

सिंधु सभ्यता के मूर्तिकारों द्वारा कुछ ऐसी आकृतियों का भी निर्माण हुआ है जिनकी शक्लें विदेशी लगती हैं (फ. XIII, 1) इस दृष्टि से मोहेंजोदड़ों में अन्नागार के समीप 1950 के उत्खननों में पायी गयी पुरुष मृण्मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। इसका शरीर कुछ चपटा है। नासिका लम्बी और उत्तरोत्तर ढालू है। ठुड्डी

मांसल है, किन्तु उस पर केश नहीं है। इस मूर्ति में सेमेटिक जाति के पुरुष के शारीरिक लक्षण विद्यमान हैं। यह धार्मिक आकृति नहीं लगती। लेकिन 'डी के' क्षेत्र से प्राप्त सींग वाली आकृति शायद देवता की है। मोहेंजोदड़ों के 'एच आर' क्षेत्र से प्राप्त पुरुष मृण्मूर्ति को आभूषण पहने दिखाया गया है जिससे ज्ञात होता है कि पुरुष भी नारियों की तरह के आभूषण पहनते थे। कालीबंगां से प्राप्त एक मिट्टी का मानव-सिर इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। इसमें माथा पीछे की ओर ढलुआँ, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई तथा ठुड्डी कुछ आगे निकली हुई है। नाक सीधी और नुकीली है, नीचे का होंठ साधारण से थोड़ा अधिक मोटा है। आँखें बादाम के आकार की हैं। मोहेंजोदड़ों तथा हड़प्पा की कुछ मृण्मूर्तियों की दाढ़ी के बाल भी दिखाये गये हैं। इस तरह की एक पुरुष की प्रसन्न-मुद्रा प्रभावशाली है। एक मृण्मूर्ति की छोटी दाढ़ी बहुत कुछ मिस्र देश की कलाकृतियों में दिखाई दाढ़ी से मिलती है। मकाइ का कहना है कि केवल दाढ़ी की समानता के आधार पर ही इस आकृति को मिस्र देश के किसी व्यक्ति की आकृति मानना ठीक नहीं होगा। लोथल की खुदाइयों से दो महत्त्वपूर्ण मृण्मूर्तियाँ प्रकाश में आयी हैं। एक में दाढ़ी लगभग वर्गाकार कटी है, और नाक तीखी है। शि. रंगनाथ राव के अनुसार यह सुमेरी पाषाण-मूर्तियों, (विशेषतः मारी से प्राप्त मूर्तियों) से बहुत मिलती-जुलती है। असीरिया में भी दाढ़ी के केश रखने की प्रथा लोकप्रिय थी। दूसरा उदाहरण एक मृण्मय 'ममी' का है। मिस्र में शवों को इस तरह के खोल में रखकर दफनाया जाता था। ये दोनों मूर्तियाँ विदेशी संपर्क की द्योतक लगती हैं। इस संदर्भ में मोहेंजोदड़ों की दो सिर वाली मृण्मूर्ति का भी उल्लेख करना समीचीन होगा। इसके दोनों चेहरे समान हैं और एक ही सांचे से बने हैं। यह मूर्ति कण्ठ के नीचे खण्डित है। वैसे मेसोपोटामिया और मिस्र में क्रमशः मर्दुक और आगन की मूर्तियों में उन्हें दो चेहरे वाला दिखलाया गया है। ग्रीक-रोमन देव-शास्त्र में जेनस की दो सिरों वाली आकृति के रूप में कल्पना की गयी है। संभवतः दो सिर दिखाये जाने का अभिप्राय देवता द्वारा भूत की और भविष्य पर दृष्टि रखने की क्षमता को दिखाना था। चूँकि मिस्री सभ्यता की अपेक्षा मेसोपोटामिया की संस्कृति से सिंधु संस्कृति के घनिष्ठ संपर्क होने के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, अतः इस मूर्ति को मेसोपोटामिया के देवता मर्दुक अथवा उससे मिलते-जुलते हड़प्पा संस्कृति के किसी देवता होने की पर्याप्त संभावना है। यों एक तरह के सिर दिखाने से यह भी असंभव नहीं कि एक ही देवता के दो स्वरूप दिखाने का अथवा उससे

ही पुरुष और स्त्री रूप दिखाने का प्रयास किया गया है।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा से सांचे द्वारा बने मिट्टी के शृंगयुक्त चेहरे पाये गये हैं (फ. XIII, 2)। ये मुखौटे पीछे की ओर से खोखले हैं और इनके किनारे पर छेद थे। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पीछे का हिस्सा दिखाने के लिए अभिप्रेत नहीं था। उर में शवों पर धातु से बने मुखौटे लगाए जाते थे। यह कहना कठिन है कि इनका उपयोग नाटक के मुखौटों के रूप में होता था। मकाइ की धारणा है कि इनका धार्मिक महत्त्व था। मोहेंजोदड़ों के 'डी के' क्षेत्र से प्राप्त एक शृंगी-पुरुष की आकृति को देवता पहचाना गया है। वहीं से प्राप्त एक बैठी हुई मृण्मूर्ति इसी तरह की बैठी पाषाण शिल्प मूर्तियों की याद दिलाती है।

मोहेंजोदड़ों में पुरुष और नारी आकृतियाँ, दोनों ही अत्यधिक खण्डित अवस्था में पायी गयी हैं। इन भली-भाँति पकाई गई मूर्तियों का खण्डित अवस्था में पाया जाना, जबकि मेसोपोटामिया में अधिकांश मूर्तियाँ बहुत कुछ सुरक्षित रूप में मिली हैं, मकाइ के अनुसार इस बात का द्योतक है कि इन्हें जान-बूझकर तोड़ा गया है। इस संबंध में उन्होंने दो सुझाव दिये हैं - या तो किन्हीं बाहरी आक्रमणकारियों ने, जो इनसे भिन्न प्रकार के धर्म का पालन करने वाले थे अथवा मूर्ति पूजा के प्रबल विरोधी थे, इन्हें तुड़वाया; या यहीं के लोगों ने धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन होने के कारण, स्वयं ही तुड़वा दिया। दोनों ही सुझावों को मानने में कठिनाइयाँ हैं। मिस्र के अख्नातन नामक राजा ने, जो अपने दार्शनिक विचारों के लिए सुप्रसिद्ध है, अपने राज्य में अनेक मूर्तियों को तुड़वाया था। तो क्या कोई ऐसा ही दार्शनिक शासक सिंधु सभ्यता में भी हुआ? लेकिन धार्मिक क्षेत्र में कितना भी राजनियंत्रण रहा हो, ये छोटी-छोटी मिट्टी की मूर्तियाँ इस तरह की निषेधाज्ञा से ही लोगों ने तोड़ दी हों ऐसा मानने में हिचक होना स्वाभाविक है। अधिक संभावना यह है कि इन्हें घरों के पूजा ठौर में रखा जाता था और कुछ अवसरों पर बाहर भी निकाला जाता था। जब ये टूट जाती थीं तो इन्हें कूड़े की तरह फेंक दिया जाता था।

मोहेंजोदड़ों से घुटने के बल चलते हुए दो बच्चों की मूर्तियाँ मिली हैं। इन्हें आभूषण पहने दिखाया गया है। मकाइ का कहना है कि इनका भी धार्मिक महत्त्व था। कुछ मानव-मृण्मूर्तियों के आकार-प्रकार से ऐसा लगता है कि उनका उपयोग शतरंज जैसे खेल की गोटी की तरह भी हो सकता था।

पशु-आकृतियाँ

(आरेख 7–8)

सिंधु सभ्यता की पशु-मूर्तियाँ, मानव-मूर्तियों से कहीं अधिक संख्या में पाई गई हैं। ऐसा अनुमान है कि मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में पशुमूर्तियों की संख्या पूरी मूर्तियों की संख्या के तीन चौथाई हैं। अधिकांश पशु-मूर्तियाँ मिट्टी की ही बनी है। इनके लिए प्रयुक्त मिट्टी मानव मूर्तियों के लिए प्रयुक्त मिट्टी की तरह की है। काँचली मिट्टी की बनी पशु-मूर्तियों की संख्या भी कम नहीं। अल्प संख्या में पशु-मूर्तियाँ सेलखड़ी, सीप और हड्डी की भी बनी हैं। हड़प्पा की पशु मृण्मूर्तियों में मोहेंजोदड़ों की पशु मृण्मूर्तियों से अधिक विविधता मिलती हैं।

कुछ मूर्तियाँ तो बहुत साधारण कोटि की हैं और इनमें अधिकांश बच्चों के खिलौने हो सकती हैं। कुछ तो स्वयं बच्चों के ही बनाये लगते हैं। कभी-कभी पशु के विभिन्न अंगों को अनुपात में नहीं बनाया गया है। खरगोश की पूँछ को काफी लम्बा दिखाया गया है जबकि बैल की पूँछ को बहुत छोटा। लेकिन कुछ मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनके निर्माता काफी कुशल कलाकार थे और उन्होंने यत्नपूर्वक इन्हें बनाया है।

मोहेंजोदड़ों में छोटे सींग और बिना कूबड़ के बैल की मूर्तियाँ सर्वाधिक संख्या में हैं, और उसके बाद कूबड़ वाले बैल की। दूसरी ओर हड़प्पा में संख्या की दृष्टि से कूबड़ वाले बैल की मूर्तियों के बाद बिना कूबड़ वाले बैल का नंबर है। वृषभ के बाद मोहेंजोदड़ों में मेढ़े की आकृतियाँ सर्वाधिक मिली हैं और फिर गेंडे की। लेकिन हड़प्पा में गेंडे की आकृतियाँ मेढ़े की अपेक्षा अधिक मिली हैं। अन्य पशुओं में महिष, हाथी, बाघ, बकरा, कुत्ता, सुअर, खरगोश, गिलहरी, सांप आदि हैं। एक उदाहरण में कुत्ता खरगोश को पकड़े हुए दिखाया गया है। जलचरों में घड़ियाल, कछुआ और मछली की मृण्मूर्तियां हड़प्पा से मिली हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की मृण्मूर्तियों में गाय की आकृतियाँ नहीं मिलतीं। राव ने लोथल से दो गाय की मृण्मूर्तियों के मिलने का उल्लेख किया है।

हड़प्पा से एक काल्पनिक पशु के एक ही गर्दन से दो सिर निकलते दिखाए गए हैं। इस मृण्मूर्ति का धार्मिक महत्त्व लगता है। लोथल से प्राप्त एक मृण्मूर्ति में मानव धड़ और पशु का सिर दिखाया गया है। इसी स्थल से प्राप्त एक गोरिल्ला की आकृति के रूपांकन में पर्याप्त यथार्थता दिखती है।

कई प्राचीन सभ्यताओं में बैल शक्ति का प्रतीक माना गया है और शायद सिंधु सभ्यता में भी उसका यही महत्त्व था। छोटे सींग वाला बैल कभी तो गर्दन

आरेख 7

में मालाओं से लदा है और कभी सिर कुछ नीचे झुकाए है, जैसा कि उसे मुद्राओं पर भी दिखाया गया है। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक छोटे सींग वाले बैल की आकृति (फ. XIV, 1) कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसका मांसल शरीर और भावभंगिमा विशेष आकर्षक है और कलाकार की दक्षता का

परिचायक है। कला की दृष्टि से इसकी तुलना किसी भी काल की कला के उत्तम उदाहरणों से की जा सकती है। मार्शल का कहना है कि इसके निर्माता में महान् कलाकार होने की पूरी संभावना थी। इसी स्थल से बैल की एक और कलात्मक मृण्मूर्ति मिली है (मैके, फ. IXXIX, 30) जो मकाइ ने मार्शल द्वारा वर्णित उपर्युक्त बैल (फ. XCVII, 23) भी कलात्मक बतलाई है। लोथल से प्राप्त एक बैल की मृण्मूर्ति (फ. XV, 3) भी कला की दृष्टि से मोहेंजोदड़ों के उपर्युक्त उदाहरणों के निकट है। कालीबंगाँ से प्राप्त एक बैल की आकृति को कलात्मक ढंग से आक्रमण की भंगिमा में दिखाया गया है। सुरकोटड़ा में पहियेदार मिट्टी का वृषभ मिला है। सांकलिया ने भावनात्मक दृष्टि से इसकी साम्यता ईरान, ईराक सीमा पर स्थित नुजि नामक स्थल और नेवासा तथा चाण्डोली की इस तरह की मूर्तियों से की है। मोहेंजोदड़ों में मिट्टी के अतिरिक्त पत्थर, ताँबें और काँसे से भी बैल की आकृतियाँ बनी थीं। मेढ़े की आकृतियाँ मिट्टी से अधिक काँचली मिट्टी की है। काँचली मिट्टी की आकृतियाँ काफी सावधानी और सफाई से बनी हैं। प्राचीन मिस्र में मेढ़ा पवित्र पशुओं में से एक था। वैदिक साहित्य में उसकी अग्नि के वाहन के रूप में कल्पना की गई है। साधारणतः गेंडे की आकृतियाँ असावधानी से बनी हैं और भोंडी हैं। ये बालकों अथवा नौसिखिए लोगों के द्वारा निर्मित लगती हैं। लोथल से प्राप्त गैंडे का मिट्टा का बना सिर प्रभावपूर्ण है (फ. XIV, 3)। मिट्टी के महिष की आकृति (फ. XIV, 2) भी मिली हैं। कुछ उदाहरणों में जानवरों की खाल को यथार्थ रूप से दिखाया है। अधिकांश कुत्ते की आकृतियाँ भी बच्चों की ही कृतियाँ लगती हैं। लेकिन कुछ इतनी स्वाभाविक बन पड़ी हैं कि कुत्ते की नस्ल तक पहचानी जा सकती है। मकाइ ने तीन नस्लों को पहचाना है। कुछ उदाहरणों में कुत्ते के गले में पट्टा बंधा दिखाया गया है जो उसके पालतू होने का परिचायक है। मोहेंजोदड़ों से ताँबे के कुत्ते की आकृतियाँ मिली हैं। मोहेंजोदड़ों की मुद्राओं पर तो हाथी का अकंन अनेकशः हुआ है, किन्तु मिट्टी की हाथी की मूर्तियाँ अत्यल्प हैं। सुअर की आकृतियाँ भी कम ही मिली हैं। गिलहरी की आकृति कांचली मिट्टी में मिली हैं (फ. XIII, 3)। ये कला की दृष्टि से काफी अच्छी है। कुछ खरगोश की मूर्तियाँ भी मिली हैं। बन्दर की कुछ आकृतियाँ मिट्टी की और कुछ काँचली मिट्टी (फ. XIII, 4) की हैं। कुछ विभिन्न पशुओं के अवयवों के मेल से बनी आकृतियाँ भी हैं। आलमगीर से प्राप्त मृण्मूर्तियों में एक रीछ और एक साँप की आकृति उल्लेखनीय है। एक जानवर के धड़ की आकृति मोहेंजोदड़ों के अन्तिम प्रकाल से पायी गयी है जो घोड़े की लगती है। रँगपुर और लोथल (फ. XV, 1) की मूर्तियों में भी घोड़े की पहचान हुई
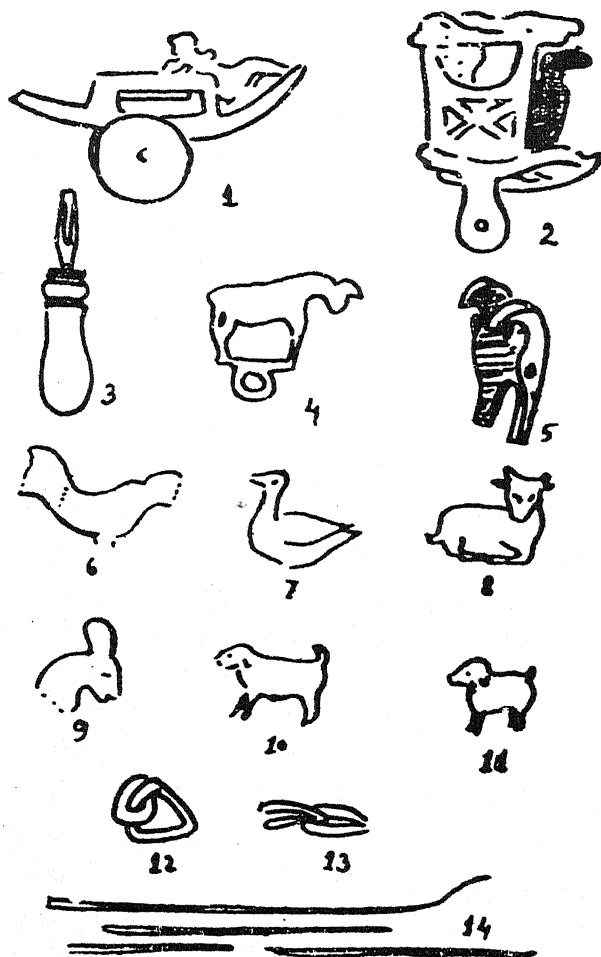
आरखे 8

है। यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि हड़प्पा की खुदाई में घोड़े की हड्डियाँ नहीं मिली हैं। मोहेंजोदड़ों में जो सबसे ऊपरी सतह पर घोड़े की हड्डियाँ मिली हैं उन्हें कुछ विद्वानों ने सिंधु सभ्यता के बाद का आंका है। लोथल के अपेक्षाकृत बाद के चरण में कुछ हड्डियों को घोड़े की हड्डी पहचाना गया है। यह उल्लेखनीय है कि बलूचिस्तान के रानाघुंडई नामक स्थल से घोड़े की हड्डियाँ सिंधु सभ्यता से कहीं पहले के काल के स्तरों में मिली हैं।

सिंधु सभ्यता की कला में पक्षियों को बैठे, उड़ते और चोंच खोले दिखाया गया है। मोहेंजोदड़ों की मृण्मूर्तियों में पक्षियों को ठीक प्रकार पहचान करना कठिन है। पक्षियों की कुछ मूर्तियाँ अन्दर खोखली हैं तथा उनमें एक छेद है। इनका व्यवहार संभवतः सीटी के रूप में किया जाता था। यदि मुँह को छेद पर रखकर फूँक मारी जाय तो सीटी की सी आवाज पैदा होती है। ये घुग्घू (फाख्ता) की आकृतियाँ लगती हैं। हड़प्पा के उत्खननों में प्राप्त मृण्मूर्तियों से वत्स ने फाख्ता के अतिरिक्त बतख, मोर, मुर्गी, चील, कबूतर, गौरैया, तोता, उल्लू आदि पक्षियों की पहचान की है। हड़प्पा के कुछ उदाहरणों में इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि पंख भी अलग से बनाकर जोड़े गए हैं। काँचली मिट्टी और सीप के बने बैल के सिर में आँख और कान के लिए छेद बने हैं। कुछ चिड़ियों के पंख को उभरा दिखाया गया है। चिड़ियों को अधिकांशतः आधार पर स्थित दिखाया गया है। इस बात के साक्ष्य हैं कि चिड़ियों को स्वाभाविक दिखाने के लिए उन्हें अनुरूप रंगों में रँगा गया था। बच्चों के खिलौने में सीटियों के अतिरिक्त पहियेदार मिट्टी की गाड़ियाँ भी सम्मिलित हैं। इनके आकार-प्रकार में दर्शनीय विभिन्नता है। कुछ गाड़ियाँ इक्के जैसी भी हैं। इन गाड़ियों को खींचने वाले बैलों की आकृतियाँ विशेष आकर्षक नहीं हैं तथा उनमें सींग, कूबड़ तथा पैर बहुत भोंडे बने हैं। पशु आकृतियों के शरीर की सूक्ष्मताएं कीलों से दिखायी गयी हैं। अंगों के उभार बड़ी कुशलता से प्रदर्शित हैं।

मकाइ ने मोहेंजोदड़ों की पशु-मृण्मूर्तियों की निर्माण-शैली के बारे में अध्ययन किया है। उनके अनुसार मानव मृण्मूर्तियों के विपरीत पशु मृण्मूर्तियाँ खोखली हैं। इससे स्पष्ट है कि पशु मृण्मूर्तियाँ किसी ऐसी वस्तु के आधार पर बनाई गई हैं जो पकाने पर नष्ट हो गया और इसलिए अंदर खोखली हैं। जो आकृतियाँ पूरी मिली हैं। उनमें एक छेद मिलता है जो अन्दर की आधार वस्तु के जलने से उत्पन्न गैस को निकालने के लिए अभिप्रेत था। साँचे से बनी पशु-मृण्मूर्तियों के एक-दो ही उदाहरण मोहेंजोदड़ों में प्राप्त हुए हैं।

मोहेंजोदड़ों की कुछ पशु मृण्मूर्तियों में आँख को यथार्थ की भाँति दिखाया गया है। मिट्टी में पहले कुछ गहराई तक गड्ढा-सा बना देते थे और फिर उसके भीतर गीली मिट्टी की टिक्की भर कर पुतली दिखाई गई है। झुर्रियों को रेखाओं द्वारा और खाल की परत की मिट्टी की पट्टियाँ चिपकाकर दिखाया गया है। इन मिट्टी की पशु-आकृतियों पर लेप लगाया गया था और कुछ को चित्रित भी किया गया था।

●●●

अध्याय 6

मुद्राएं तथा ताम्र-पट्ट

सिंधु सभ्यता की मुद्राएं (फ. XVI, XVII, XVIII, 1, आ. 9, 10) विशिष्ट प्रकार की हैं। इनमें से अधिकांश पर चित्रलिपि में लेख, जो साधारणतया 3 से लेकर 8 अक्षर वाले हैं, और पशु-आकृतियाँ बनी हैं (फ. XVI, या 5, 6)। कुछ पर केवल लेख (फ. XVI, 3) हैं और कुछ पर केवल अभिप्राय (फ. XVI, 4)। प्रारंभ में विद्वान इस बात पर एकमत नहीं थे कि इनके उपयोग मुद्रा के लिए था अथवा ताबीज के रूप में। इसका कारण यह था कि मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हुदड़ो के उत्खननों से मुद्राओं की उपलब्धि तो सैकड़ों की संख्या में हुई थी किन्तु उनकी छाप नहीं के बराबर प्राप्त हुई थी। मुद्राओं के पीछे घुण्डियाँ होने के कारण कुछ विद्वानों ने एक ओर उनके ताबीज की तरह प्रयुक्त होने में संदेह व्यक्त किया था और दूसरी ओर मुद्रा के संदर्भ में घुण्डी की उपयोगिता भी दर्शाई थी। किन्तु केवल इससे ही ताबीज मानने वाले मत का पूरा खण्डन नहीं हो सका। कुछ ही वर्ष पूर्व लोथल में किए गए उत्खननों से न केवल मुद्राएं, अपितु अनेक मुद्राओं की छापें भी उपलब्ध हुई हैं। उसके बाद कालीबंगां से भी कुछ मुद्रा-छापों के उदाहरण मिले हैं। इन छापों से स्पष्ट हो गया है कि वे मुद्राएं ही थीं जिनकी छापें - पत्र, पार्सल आदि वस्तुओं को मुहरबंद करने के लिये प्रयुक्त की जाती थीं। यों कालीबंगां और लोथल की खुदाइयों से पूर्व भी बेबोलोनिया के एक स्थल से सिंधु सभ्यता की किसी मुद्रा की मिट्टी पर छाप मिली जिसके पीछे कपड़ा चिपके होने के निशान थे। विद्वानों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला था कि यह मुद्रा-छाप सिंधु सभ्यता के किसी स्थल से भेजे गये कपड़े में बंद गट्ठर पर लगायी थी। लोथल की एक मुद्रा छाप पर भी कपड़े के निशान मिले (फ. XIII, 1)। स्पष्ट है कि अधिकांश सिंधु सभ्यता की मुद्रायें, ऐतिहासिक काल की मुद्राओं की भाँति पत्र अथवा पार्सल पर छाप लगाने के लिए प्रयुक्त होती रही होंगी। किन्तु ऐतिहासिक काल की भाँति ही कुछ छापें मन्नत-चढ़ावा, स्मृति-चिह्न अथवा परिपत्र के रूप में भी प्रयुक्त होती रही होंगी; और ऐसी मुद्रा-छापों के पीछे की ओर रस्सी आदि के निशान नहीं होते।

मार्शल, मकाई आदि, के उत्खननों से यह ज्ञात नहीं होता कि मुद्राओं का कोई प्रकार विशेष नगर के प्राथमिक, माध्यमिक अथवा अंतिम काल की

विशेषता है। केवल वत्स ने हड़प्पा के एक टीले के उत्खनन के साक्ष्य के आधार पर बताया है कि प्रारंभिक (निम्न) स्तरों में अधिकांश मुद्रायें छोटे आकार की मिलीं, जिनकी माप 1.77 से 0.91 सेमी लम्बी, 1.52 से 0.51 सेमी चौड़ी और 1.27 सेमी मोटी थी। सबसे नीचे वाले स्तर में केवल छोटे आकार की ही मुद्राएं मिलीं। इन छोटी मुद्राओं पर बाद की मुद्राओं के समान एक-शृंगी पशु या बैल, हाथी गेंडा जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण पशु अंकित नहीं, न उनके पीछे घुंडी या छेद ही है। इनमें अधिकांश पर एक ओर कुछ अक्षर-चिह्न और दूसरी ओर एक अभिप्राय मिलता है जो या तो ज्यामितीय है अथवा किसी पशु का अंकन है – घड़ियाल या मछली, या कभी-कभी बकरी या खरगोश। चार मुद्राओं पर उसी तरह का 'ध्वज' का अंकन है जिस तरह का एक शृंगी पशु के साथ दिखाया जाता है। लेख लापरवाही से खुरचे हैं, खोदे नहीं गये हैं। वत्स का कहना है कि इस तरह के लेख छाप में तो कुछ भी नहीं दिखेंगे, अतः ये मुद्राएं छाप लगाने के लिए नहीं थीं, और इन पर अंकित अक्षर सीधे ही पढ़ने चाहिए, छाप लगाकर नहीं। इन मुद्राओं में एक ही लेख अनेक मुद्राओं पर मिला है (उदाहरणार्थ एक लेख तेईस मुद्राओं पर मिला है)। वे इन्हें इन कारणों से और इनके अत्यन्त छोटे आकार के कारण निश्चित रूप से ताबीज के लिए प्रयुक्त मानते हैं। वत्स द्वारा इन लघु मुद्राओं के लिए प्रस्तुत काल-क्रम संबंधी साक्ष्य हड़प्पा के संदर्भ में भले ही सही हो, लोथल में छोटे आकार की मुद्राएं साधारण मुद्राओं के साथ प्रारंभ से लेकर अंत तक के चरण में मिली हैं।

यह उल्लेखनीय है कि आलमगीरपुर तथा सिंधु सभ्यता के अन्य कई 'ग्राम स्थलों के उत्खननों में एक भी मुद्रा अथवा उसकी छाप नहीं उपलब्ध हुई। आलमगीरपुर सिंधु सभ्यता की साधारण लघु ग्रामीण बस्ती थी और हड़प्पा संस्कृति के जिस रूप के वहाँ दर्शन होते हैं उससे प्रतीत होता है कि लोग पूर्वजों द्वारा निर्मित वस्तुओं के निर्माण के प्रति शनैः-शनैः उदासीन होते जा रहे थे। रोपड़ में एक (और वह भी निर्माण शैली की दृष्टि से निम्न कोटि की) मुद्रा मिली है, सुरकोटड़ा से एक, और कालीबंगां से कुल आठ मुद्राएं मिली हैं। लगता है यहाँ के जनजीवन में व्यापारिक जटिलताओं, विशेषतः विदेशी व्यापार का अभाव था। दूसरी ओर हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों और लोथल जैसे व्यापारिक केन्द्रों में विशाल संख्या में मुद्राएं मिली हैं।

इन मुद्राओं के निर्माण में एक ही जैसी सावधानी और कलात्मकता नहीं दिखती। कुछ अपेक्षाकृत असावधानी से बनी हैं तो कुछ में कलाकर ने उन्हें कलात्मक बनाने में कोई कसर नहीं रखी। मुद्राओं के कुछ सुन्दर उदाहरण

विश्व की महान् कलाकृतियों में अपना स्थान रखते हैं। सिंधु सभ्यता में मुद्राएं विभिन्न पदार्थों से निर्मित की जाती थीं। किन्तु अब तक उपलब्ध मुद्राएं भी पर्याप्त संख्या में मिली हैं। थोड़ी-सी मुद्राएं गोमेद, चर्ट और मिट्टी की भी हैं। लोथल और देसालपुर से ताँबे की मुद्राएं मिली हैं जो पीछे छेद होने के कारण ताम्र फलकों से भिन्न हैं। आकार-प्रकार की दृष्टि से मुद्राओं में विविधता है। ये बेलनाकार, वर्गाकार, चतुर्भुजाकार, बटन-जैसी घनाकार और गोल हैं। मोहेंजोदड़ों से कुल पाँच बेलनाकार मुद्राओं के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं। कालीबंगां से भी इस प्रकार की एक मुद्रा मिली है (फ. XVI, 2)। ये बेलनाकार मुद्राएं हड़प्पा संस्कृति की अन्य मुद्राओं से पूर्वतः भिन्न हैं। इस प्रकार की मुद्राएं कुछ अन्य देशों, विशेषतया प्राचीन मेसोपोटामिया में लोकप्रिय थीं। सिंधु सभ्यता में ऐसी मुद्राएं बहुत कम मिलने से स्पष्ट है कि सुमेरी सभ्यता से सम्पर्क होने के बावजूद मुद्रा के निर्माण में सिंधु-सभ्यता ने अपनी अलग विशिष्टता बनाए रखी। बेलनाकार मुद्राओं की गीली मिट्टी, मोम या लाख पर इस तरह लुढ़का कर लगाया जाता था जिससे दृश्य-चित्र बन जाता था। लोथल से एक बटन की तरह गोल मुद्रा मिली है जिसके पीछे छिद्रित घुँडी है। छाप लगने वाली तरफ एक दुमुँहें राक्षस के दोनों ओर एक-एक कूद भरते हिरन दिखाये गए हैं। इस तरह की कई मुद्राएं फारस की खाड़ी के समीप के भू-भागों से मिली हैं और इनकी तिथि सारगन से कुछ बाद की है। ठप्पे लगाकार प्रयोग की जाने वाली मुद्राएं सीरिया में हलाफ काल से मिलती हैं। पर उन पर जो अभिप्राय हैं वे ज्यामितीय हैं, जब कि सिंधु सभ्यता की अधिकांश मुद्राओं पर पशु की आकृति है। लेकिन बलूचिस्तान में प्राग-सिंधु सभ्यता के संदर्भ में मुद्रा नहीं मिलती जिससे ईरान का भी सीधा प्रभाव इस संदर्भ में होने की अधिक संभावना नहीं लगती। बलूचिस्तान के पुरास्थलों से जो थोड़ी बहुत मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सभी सिंधु सभ्यता में निर्मित हुई लगती हैं।

वर्गाकार मुद्राएं प्रायः सभी सेलखड़ी की हैं और सिंधु सभ्यता के नगरों में ये बहुत लोकप्रिय थीं। ये दो प्रकार की हैं – छिद्रयुक्त घुण्डीदार और बिना घुण्डीवाली। घुण्डीदार मुद्राओं का आकार 1.27 x 1.27 सेमी. और 6.86 x 6.86 सेमी. तक है। मुद्रा का सबसे अधिक प्रचलित आकार 2.8 x 2.8 सेमी. है। इस प्रकार की मुद्राओं पर पशु की आकृति के साथ अभिलेख हैं जो एक अथवा दो पंक्तियों में लिखा मिलता है। जिन वर्गाकार मुद्राओं के पृष्ठ भाग में घुण्डी नहीं है उनका आकार साधारणतया 2.8 x 1.27 सेमी. तक है और इन पर अभिलेख प्रायः दोनों ओर हैं। इस तरह कुछ मुद्राओं के पृष्ठ

भाग में छेद भी मिलता है। इनकी संख्या अधिक नहीं है। घुण्डी-विहीन आयताकार मुद्राओं की संख्या बहुत कम है। ये भी अधिकांशतया सेलखड़ी की हैं, केवल थोड़ी-सी ही मुद्राएँ मिट्टी की हैं। इनमें कई ऐसी हैं जिनके दोनों ओर लेख हैं। ये 1.33 सेमी. x 2.8 सेमी. आकार की हैं। बिना घुण्डी की आयताकार मुद्राएं भी कम ही हैं। बटन जैसी मुद्राओं पर, जो सेलखड़ी और कांचली मिट्टी की हैं, अधिकांशतया स्वास्तिक का चिह्न बना है। ऐसी मुद्राओं पर स्वास्तिक का चिह्न कीटकैपेडोसिया व ट्राय में भी लोकप्रिय था। बटन जैसी मुद्राओं पर मिले स्वास्तिक की तरह का अलंकरण सूसा और मुपयान के मृद्भाण्डों पर भी मिलता है। छेददार घुंडीयुक्त आयताकार और वृत्ताकार और बिना घुंडी वाली वृताकार मुद्राएं सेलखड़ी और मिट्टी की हैं। इनकी संख्या भी अधिक नहीं है। घनाकार मुद्राओं की संख्या भी कम है। इनके प्रत्येक ओर की माप 1.44 सेमी. तक है। यह बलुए पीले रंग के पेस्ट की बनी हैं, जिस पर कुछ चमक भी है। इनमें से कुछ पर दो तरफ एक दूसरे को काटती रेखाएं हैं और एक ओर मुद्रा छाप है जिसमें एक श्रृंगी पशु दिखाया गया है।

अधिकांश मुद्राओं पर लेख और पशु आकृति है। कुछ अपवादों को छोड़कर पशु बायीं ओर मुँह किये दिखलाया गया है। लेकिन छाप लगाने पर पशु दायीं ओर मुख किये दिखेगा। चूँकि मुद्राओं से छाप ही लगाई जाती थी, अतः छाप पर जैसा पशु दिखेगा वही मुद्रा-निर्माता को दिखाना अभिप्रेत था। अतः हम पशुओं को दायीं ओर मुख किया हुआ ही उल्लेख करेंगे। सिंधु सभ्यता संबंधी जो भी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है उनमें मुद्राओं का चित्र नहीं, उनसे लिये गये छापों का चित्र छपा है, ताकि अभिप्रेत रूप का ही अवलोकन हो। एक श्रृंगी पशु (फ. XVII, 1) की आकृति का कुछ भाग बैल और कुछ हिरन जैसा है। या तो कलाकार का उद्देश्य एक ही सींग दिखाना था (यद्यपि इसकी संभावना कम है) या दूसरा श्रृंग पशु का पार्श्व चित्रण होने के कारण दिखाये गये सींग से छिपा समझना चाहिए, जिस कारण कलाकार ने उसे अभिव्यक्त नहीं किया किन्तु इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि पार्श्व में अंकित होने पर भी बैल की आकृतियों के दोनों सींग दिखाये गये हैं। इस पशु के सम्मुख एक वस्तु का अंकन मिलता है जो के डण्डे पर आधारित एक के ऊपर एक बर्तन की तरह लगता हैं (फ. XVII, 1)। इस अभिप्राय की पहचान कुछ ने पिंजड़े से की है, लेकिन कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि इसका अभिप्राय पिंजड़े से होता तो कलाकार ने उसमें चिड़िया भी दिखाई होती। इसमें दोनों बर्तनों (?) को बीच से पार करता हुआ डण्डा दिखलाया गया है। नीचे वाला बर्तन (?)

मुख्यतः कटोरे की तरह का है। इसका प्रयोजन पशु के लिए भेंट की गई वस्तु को दिखलाना हो सकता है। एक मुद्रा से ली गई दो छापों में चार व्यक्तियों को एक कतार में दिखाया गया है और प्रत्येक ध्वज लिए हुए हैं। इनमें से एक ध्वज पर एक-शृंगी पशु और एक पर उसी तरह का दो बर्तनों वाला अभिप्राय है जैसा कि एक शृंगी पशु के सामने रखा दिखाया जाता है। उससे प्राप्त एक बेलनाकार मुद्रा पर एक शृंगी पशु दिखाया गया है लेकिन उपर्युक्त अभिप्राय के स्थान पर मछली दिखाई गई है। यह मुद्रा किसी भारतीय द्वारा बनायी अथवा भारतीय प्रभाव से बनी हुई लगती है। सिंधु सभ्यता का यह ध्वज या धूपदानी प्रकार इस सभ्यता तक ही सीमित लगता है। वैसे कुल्ली के एक बर्तन पर बैल को मुद्राओं पर अंकित दो बर्तनों से बने अभिप्राय से मिलते-जुलते अंकन से बंधा दिखाया गया है। मिस्र की प्राचीन सभ्यता में ध्वज के साथ जन समूह दिखाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यह एक धार्मिक परम्परा थी। हो सकता है कि हड़प्पा संस्कृति की मुद्राओं पर अंकित ध्वजों का भी कुछ धार्मिक महत्त्व रहा हो।

मुद्राओं पर छोटे सींगों वाले बैल का अंकन भी लोकप्रिय था। मुद्राओं पर इनके पर्याप्त उदाहरण हैं। इन पशुओं को प्रायः सिर नीचा किये और थोड़ा एक ओर घुमाए चित्रित किया गया है, मानों यह क्रुद्ध हों और आक्रमण करने के लिए तैयार हों। बैल की मिट्टी में बनी आकृतियों में भी उसे क्रोध की मुद्रा में दिखाया गया है। कुछ मुद्राओं पर बैल के कन्धे और गलकंबल को बड़ी कुशलता से व्यक्त किया गया है। आकृति के अंकन में अतीव सजीवता है। बैल के आगे एक नांद दिखाया गया है। इस तरह के नांद के अभिप्राय वाली एक बेलनाकार मुद्रा मूसा में मिली है। मकाई का मत है कि शायद इस मुद्रा का निर्माण किसी प्रवासी भारतीय के लिए किसी एलम के कारीगर ने किया हो। उर के उत्खननों में एक मुद्रा पुराविद् वूली को अक्कद के सारगन के काल के स्तर में मिली थी जिसमें इसी तरह का बैल और नांद बना है, किन्तु उस पर लेख कीलाकार लिपि में है। जो भी इस मुद्रा का स्वामी रहा होगा वह भारतीय कला-अभिप्राय से परिचित था। ब्रिटिश संग्रहालय में बेबीलोनिया के किसी प्राचीन स्थल से प्राप्त मुद्रा पर भी यह अभिप्राय अंकित है।

मुद्राओं पर कूबड़ वाले बैल की आकृतियाँ (फ. XVII, 2) विशेष कुशलता से बनायी गयी हैं। वास्तव में ये सिंधु सभ्यता की कला के चरम विकास की झांकी प्रस्तुत करती हैं। मोहेंजोदड़ों से उपलब्ध एक मुद्रा (मार्शल की सं. 337) पर अंकित बैल की आकृति की कलात्मकता की मार्शल ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अंगों के उभार और शरीर के अनुपात में जो विशिष्टता दिखाई गई है वह

अपूर्व है। कलाकार ने यथार्थ और कल्पना के सुंदर सम्मिश्रण से इस मुद्रा को बहुत तन्मयता और कुशलता से बनाया है। इस छोटी सी मुद्रा के सीमित क्षेत्र में अपेक्षाकृत विशालकाय बैल का इस तरह अंकन किया गया है कि उसकी विशालकायता का पूरा आभास मिल जाता है। खड़े दिखाये जाने पर भी उसमें अत्यधिक गतिशीलता लगती है। पशु को पार्श्व में दिखाते हुए भी उसके दोनों सींग कलाकार ने दिखाए हैं। यद्यपि ऐसा दिखाना यथार्थता की दृष्टि से सही नहीं, तथापि कला की दृष्टि से दोनों सींगों के दिखाने से आकृति की सुन्दरता और भी बढ़ जाती है, और सामान्य दर्शक का ध्यान इस त्रुटि की ओर जाता ही नहीं। प्राचीन सुमेर अथवा एलम की कला में कूबड़ वाले बैल की आकृतियाँ नहीं मिलतीं। अपवाद स्वरूप इसका उदाहरण बेबोलोन में गुड़िया (Gudea) के समय के एक चूना पत्थर पर निम्न उद्भुत रूप में प्राप्त होता है। नाल संस्कृति के एक मृद्भाण्ड पर भी इस प्रकार के बैल की आकृति चित्रित है।

पालतू और जंगली भैंसे की आकृतियां अपेक्षाकृत यथार्थवादी ढंग से अंकित हैं। भैंसे को सिर नीचा किए रभाते दिखाया है, मानों कि वह लड़ने के लिए उतारू हो। अन्य पशुओं में व्याघ्र, हाथी और गैंडे का चित्रण हुआ है। व्याघ्र का चित्रण सिंधु सभ्यता के संदर्भ में सिंधु घाटी के ही स्थलों में मिलता है। इस घाटी से बाहर केवल एक उदाहरण कालीबंगां की मुद्रा पर किया गया इस पशु का अंकन है। व्याघ्र अब सिंधु क्षेत्र में नहीं पाया जाता है, किन्तु एक शताब्दी पूर्व तक उसे यहाँ पर पाये जाने के साक्ष्य हैं। एक मुद्रा पर एक मनुष्य वृक्ष की शाखा पर बैठा दिखाया गया है। शाखा के नीचे खड़ा व्याघ्र उसे बड़े ध्‍यान से देख रहा है। यह चित्रण नव-बेबीलोन-कालीन मुद्रा के चित्रण से साम्य रखता है। किश से उपलब्ध इस युग की एक मुद्रा पर भी एक ऐसे ही दृश्य का अंकन हैं, किन्तु व्याघ्र के स्थान पर इसमें लकड़बग्घा दिखलाया गया है।

मुद्राओं पर हाथी की आकृति का अंकन (फ. XVIII, 1) भी पर्याप्त लोकप्रिय था। इस पशु का चित्रण वास्तविकता के अनुरूप हुआ है। कुछ विद्वानों के मतानुसार भारतीय और अफ्रीकी दोनों प्रकार के हाथियों का अंकन हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि अब सिंध में हाथी नहीं पाये जाते। गैंडे (फ. XVII, 4) के पृष्ठ भाग और पैर अनुपात से बनाये गये हैं और चर्म की सिकुड़न और तहें स्वाभाविक रूप से अंकित हैं। खुरदरे अधिमांस दिखाने के लिए छोटे गोल चिह्न अंकित हैं। टेल अस्मर से फ्रैंक फोर्ट को एक वर्तुलाकार मुद्रा मिली थी जिस पर गैंडे और घड़ियाल के साथ हाथी भी चित्रित है। अनुमानतः मुद्रा का निर्माण भारत में ही हुआ था, और वह सुमेर में स्थित किसी भारतीय व्यापारी द्वारा प्रयोग में लायी गयी थी। नांद के साथ गैंडे और बाघ को तो अनेक,

किन्तु हाथी को थोड़ी ही मुद्राओं पर दिखाया गया है। घड़ियाल भी थोड़ी सी मुद्राओं पर अंकित मिला है। चन्हुदड़ों की एक मिट्टी की मुद्रा पर तीन घड़ियालों तथा दो मछलियों का अंकन है। इसके दूसरी ओर अभिलेख हैं। हड़प्पा की एक मुद्रा पर गरुड़ दिखाया गया है। गरुड़ के फैले पैरों के ऊपर दो सांप दिखाए गए हैं। मेसोपोटामिया और एलम में गरुड़ कला का एक लोकप्रिय अभिप्राय था। हड़प्पा की मुद्रा पर खरगोश का अंकन है। हिरन का अंकन बहुत कम हुआ है जबकि सुमेरी मुद्राओं पर इस पशु का अंकन काफी मिलता है।

कुछ मुद्राएं विशेष रूप से धर्म से संबंधित लगती हैं। मोहेंजोदड़ों की एक, मुद्रा (फ. XVI, 1) पर देवता (शिव-पशुपति) की आकृति के साथ हाथी, बाघ, गैंडा, भैंसा (बैल?) और हिरन (?) दिखाए गए हैं (विस्तार के लिये देखिये अध्याय 11 'धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान')। इसमें प्रथम चार पशु एक अन्य मुद्रा पर भी अंकित हैं, जिनमें केन्द्र में एक बिच्छू भी दिखाया गया है। बिच्छू का यह अंकन इने-गिने उदाहरणों में से है। उल्लेख है कि उर से प्राप्त सिंधु सभ्यता की एक मुद्रा पर भी बिच्छू दिखाया मिलता है। एक अन्य मुद्रा में वृक्ष की दो शाखाओं के मध्य एक शृंगयुक्त आकृति है, उसके समीप ही एक दूसरी इसी तरह की आकृति उससे प्रार्थना कर रही लगती है। दूसरी आकृति के पीछे एक बकरा और नीचे सात मानव आकृतियाँ हैं। एक मुद्रा (आ. 9, 3) में एक अर्धमानव और अर्ध पशु आकृति दो बाघों को अलग-अलग अपने हाथों से गले से पकड़े दिखाई गई है, जो मेसोपोटामिया के गिल्गमेश

1

2

3
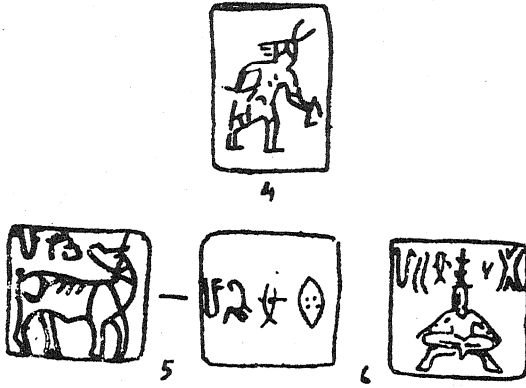
आरेख 9

अभिप्राय का द्योतक लगता है। एक अन्य मुद्रा से इसी तरह की आकृति सींगयुक्त बाघ से युद्ध करती हुई दिखाई गई है। बेबीलोनी कला में इंकिडू को इसी तरह सिंह से लड़ता दिखलाया गया है और गिल्गमेश को सांड़ से।

मेसोपोटामिया की मुद्राओं पर सिंह का अंकन काफी लोकप्रिय रहा, किन्तु सिंधु सभ्यता की एक भी मुद्रा पर सिंह की आकृति नहीं मिलती। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर अंकित मानव-पशु युद्ध के अंकनों में बेबीलोनी कला या आख्यानों का प्रभाव किस सीमा तक है। धनुष-बाण लिये मानव आकृतियों का आलेखन पशु आकृतियों की भाँति सजीव नहीं है। मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर देवता, पशु, और सात नारी आकृतियों का अभिप्राय मिलता है। (फ. XVII, 3; आ. 9, 2)। चन्हुदड़ों की एक मुद्रा छाप विशेष महत्त्व की है। इस पर वर्गाकार मुद्रा की छाप है जिसमें दो नग्न नारियाँ अंकित हैं जो एक-एक हाथ में ध्वज पकड़े खड़ी हैं। ध्वजों से पीपल की पत्तियां निकलती दिखाई गई हैं। उनका खाली हाथ कटिविन्यस्त है। कला की दृष्टि से नारी आकृति की तुलना कांसे की नर्तकी से की जा सकती है।

कुछ मुद्राओं पर मानव एवं विभिन्न पशुओं के अंगों से मिश्रित आकृतियाँ अंकित हैं। मुद्राओं पर ऐसी भी आकृतियाँ बनी हैं जिनमें बैल के जैसे सींग, मनुष्य का चेहरा, गज के झुण्ड तथा दंत, अग्र भाग मेष का और पृष्ठ भाग बाघ जैसा दिखाया गया है (फ. XVI, 5)। एक उदाहरण में एक ही आकृति में एक-शृंगी पशु, बकरा तथा छोटे सींग वाले बैल के सिरों का अंकन है।

(फ. XVI, 4)। यदि हम किन्हीं दो सिरों को ढक दें तो एक पशु की पूरी आकृति बन जाती है। शायद ऐसे अभिप्राय का आशय भक्त की एक साथ तीन भिन्न देवताओं की कृपा प्राप्त करना रहा हो। कुछ मुद्राओं पर विचित्र मानवी चेहरे तथा पशु आकृति का संयुक्तीकरण है। संयुक्त पशु का अंकन अन्य संस्कृतियों में भी किया गया है। मकाई की धारणा है कि शायद इस तरह की आकृतियों के निर्माण का प्रारंभ भारत में सबसे पहले हुआ और फिर यहाँ अन्य मुद्रा (आ. 10, 5) पर बीच में बिच्छू है दाहिनी ओर एक मनुष्य और बायीं ओर एक गैंडा है। ऊपर और नीचे दो-दो पशु अंकित हैं। बिच्छू का अगला भाग ऊपर के पशुओं के सींग, और उसकी पूँछ नीचे (बायीं ओर अंकित हाथी की सूँड और दाहिनी ओर दिखाये गये पशु की पूँछ बनाती है)।

कभी-कभी एक ही पशु के अनेक सिर एक ही धड़ से संयुक्त भी दिखाये गये हैं। मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर तीन बाघों के सिर दिखाये गये हैं जिनके शरीर का मध्य एक दूसरे से गुंथा हुआ बनाया गया है (फ. XVI, 7)। ऐसे अभिप्राय से युक्त एक मुद्रा का खण्डित भाग चन्हुदड़ों से भी प्राप्त हुआ है। मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर छः पशुओं को गर्दन और सिर एक छल्लेदार अभिप्राय से बाहर निकलते दिखते हैं। इनमें चार सिर जिनकी पहचान निश्चित है - एक-शृंगी पशु, छोटे सींग वाला बैल, हिरन और बाघ के हैं। शेष दो सिरों में से एक गैंडा और एक हाथी का सा लगता है। लोथल की एक मुद्रा पर बीज बोने का यन्त्र जैसी आकृति का अभिप्राय अंकित है।

सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर वृक्षों के चित्रण भी मिलते हैं। एक उदाहरण में पीपल की शाखा के निचले भाग से एक-शृंगी पशु के दो सिर निकलते दिखाये गये हैं। पीपल के अतिरिक्त अन्य वृक्षों की पहचान कठिन है। मकाइ ने कुछ मुद्राओं पर बबूल और झण्डी के पेड़ की पहचान की है। कुछ मुद्राओं पर एक प्रतीक – यथा स्वास्तिक, छोररहित गाँठ, अथवा बहुरेखीय क्रूस का चिह्न है। मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर नाव की आकृति उकेर कर बनाई गयी है जिससे मिलता-जुलता अंकन वहीं के एक मृदुभाण्ड खण्ड (आ. 10, 2) पर भी उपलब्ध है। इसमें मस्तूल का अभाव है तथा पोत वाहक की खण्डित आकृति बनी है। ऐसी नावों का उपयोग नदियों में साधारण कार्यों के लिए किया जाता था। प्राचीनकाल में ऐसी नावें अन्य देशों में भी प्रयुक्त होती रही हैं। प्रारंभिक मिनोअन की मुद्रा, तथा प्राग् राजवंश काल में किश तथा सुमेर की बर्तुलाकार मुद्राओं पर इससे मिलती-जुलती नाव का अंकन हुआ है।

सेलखड़ी की मुद्राएं किस प्रकार निर्मित की जाती थीं इसके बारे में उनके परीक्षण से कुछ जानकारी मिलती है। सर्वप्रथम आरी से सेलखड़ी की

एक लम्बी पट्टी काटी जाती थी। तत्पश्चात् जिस माप की मुद्रा अभिहित होती थी उस आकार में उसे काट दिया जाता था। यदि मुद्रा के पृष्ठ भाग पर घुंडी बनानी होती थी तो उस ओर बीच में केवल उतना स्थान जितने में घुण्डी बननी थी छोड़कर, बाकी हिस्से में जितनी मुद्रा की मोटाई रखनी थी वहाँ तक कटाई की जाती थी। घुण्डी में किये छेद में तागा या तार डाला जाता रहा होगा, जिससे उसमें उंगली डालकर मुहर लगाने में, और लगाने के बाद मिट्टी या लाख से मुहर हटाने में सहूलियत होती थी। सेलखड़ी पत्थर मुलायम होता ही है। अतः बार-बार प्रयोग से रस्सी से घिसने के कारण छेद बड़े हो जाते थे और कभी-कभी तो घुण्डियाँ टूट भी जाती थीं। अतः मुद्राओं के छेद को बीच में कुछ गहरा कर दिया जाता था ताकि रस्सी से घिसने से घुण्डी जल्दी न टूटे।

मुद्राओं पर अभिलेख और अभिप्राय को उत्कीर्ण करने से पहले उस की रूप-रेखा बनाई जाती थी, इस विषय में निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वैसे इसमें और सुमेर में मुद्रा के अभिप्राय की रूप-रेखा पहले अंकित की जाती थी, तत्पश्चात् उसे उत्कीर्ण किया जाता था। इस कार्य के लिए नुकीले तथा गोलाई लिए, दोनों तरह के उपकरण (बर्मा) का व्यवहार होता था।

कुछ मुद्राएं अधूरी छूट गई हैं जिनसे निर्माण-विधि के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इस संदर्भ में एक अधूरी मुद्रा का विशेष उल्लेख करना असंगत न होगा। मुद्रा को निश्चित आकार देकर उसे तराश भी लिया गया। उसके पृष्ठ भाग की घुण्डी पूरी तरह बनी है और उसमें छिद्र भी किया गया है। मुद्रा-निर्माता ने पहले पशु की पूरी आकृति का रेखांकन नहीं किया, अपितु पहले उसके शरीर के मध्य भाग से बनाना प्रारम्भ किया और वहाँ उसे जितने भी अलंकरण दिखाने थे वे सब अंकित कर दिये। फिर शरीर के अन्य भागों की रेखाकृति बनाना शुरू किया। पशु के कंधे की हड्डियों का बनाना अपूर्ण रह गया है। इस मुद्रा के साक्ष्य से प्रकट होता है कि हड़प्पा संस्कृति के कुछ मुद्रा-निर्माता मुद्रा-निर्माण कला में इतने सिद्धहस्त थे कि वे बिना पूरी रूप-रेखा अंकित किये ही पशु की आकृति का, उसके किसी भी अंग से बनाना प्रारंभ कर सजीव और आनुपातिक चित्रण कर सकते थे, यद्यपि यह असंभव नहीं कि रेखांकन स्याही से किया गया रहा हो जो अब नष्ट हो गया है। अक्षरों में अक्सर ठीक अनुपात का अभाव है और इससे ऐसा लगता है कि मुद्रा-निर्माता ने पशु आकृतियों का अंकन पहले ही करके मुद्राएं बनाकर रख ली थीं और बाद में ग्राहक के किसी मुद्रा को पसंद करने पर मुद्रा पर उससे संबंधित नाम-पद-वाची लेख अंकित किये। बड़े नाम होने पर जगह की कमी के कारण आखिर के अक्षरों को छोटा कर दिया और उन्हें ठीक आनुपातिक ढंग से नहीं

लिख पाये। मुद्राएं बन जाने के पश्चात् उस पर किसी पदार्थ (शायद क्षार) का लेप चढ़ाया जाता था। तत्पश्चात् मुद्रा को भट्ठी में पकाया जाता था जिससे उसमें सफेद चमक आ जाती थी और वह कुछ मजबूत भी हो जाती थी।

मुद्रा-छापें

मुद्रा-छापें वर्गाकार, आयताकार, तिकोन, वृत्ताकार इत्यादि प्रकार की हैं। छापें मिट्टी, कांचली मिट्टी और पेस्ट की बनी हैं और उन पर मानव, पशु या लेख अंकित हैं। मुद्राओं की कुछ छापें मृदभाण्डों पर भी मिली हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक आयताकार मुद्रा छाप, जो पेस्ट की है, के अग्रभाग में एक कतार में छः मानव आकृतियाँ हैं। इनके बारे में निश्चित करना कठिन है कि ये पुरुष आकृतियाँ हैं या नारी। नीचे के हिस्से में झुकी हुई आकृति है जो अपने हाथ में एक चौड़े फलवाली वस्तु पकड़े हैं उसके आगे एक बकरा है जिसके सामने पीपल का पेड़ है। मुद्रा के दूसरी ओर भी इसी तरह का चित्रण था, किन्तु यह अब धूमिल हो गया है। मकाइ के अनुसार इस दृश्य में पुरोहित बकरी को वृक्ष की आत्मा के लिए बलिदान दे रहा है।

एक अन्य आयताकार मुद्रा-छाप, जो कांचली मिट्टी की है, पर मध्य में एक योगी की मूर्ति है, जिसके दोनों ओर एक-एक भक्त हैं, जिनके पीछे एक-एक नाग हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा-छाप लगभग 2.9 सेमी. लम्बी है और इसके किनारे लगभग .9 सेमी. चौड़े हैं। दो तरफ कुछ लेख हैं, तीसरी तरफ चार लोग एक कतार में, प्रत्येक एक-एक ध्वज लिए हैं। यहाँ से प्राप्त एक और मिट्टी की तिकोनी मुद्रा-छाप के एक तरफ एक कतार में एक हाथी एक गैंडा, एक बाघ और एक बिल्ली की आकृति सदृश जानवर हैं, ऊपर की ओर एक मछली, और मुँह में मछली लिए एक घड़ियाल है। दूसरी तरफ एक-शृंगी पशु, गाय जैसा पशु, छोटे सींगों वाला बैल और गैंडा है। इनके ऊपर कुछ जंगली चिड़ियाँ और घड़ियाल हैं। तीसरी तरफ दो बकरे, एक जंगली चिड़िया, एक पशु (बकरा?) को खींचता हुआ आदमी और एक हिरन जैसा पशु है। एक और मिट्टी की छाप में एक ओर बाघ और तीन अक्षर, दूसरी ओर एक-शृंगी पशु और तीन अक्षर, और तीसरी ओर छोटे सींग वाला बैल और दो अक्षर हैं। चूँकि इन मुद्रा-छापों के पीछे रस्सी के निशान नहीं हैं अतः उनका प्रयोग मुहरबन्द करने के लिए नहीं किया गया था। मकाइ का कहना है कि इनका या तो ताबीज की तरह से उपयोग हुआ था या इन्हें पुरोहित लोग भक्तों को प्रसाद के रूप में बाँटते रहे होंगे और वे भक्त उन्हें संभाल कर रखते रहे होंगे। लोथल और कालीबंगा से प्राप्त मुद्रा-छापें लकड़ी की बनी वर्गाकार या

आयताकार मुद्राओं से ली गई हैं और उनमें से कुछ के पृष्ठ भाग पर रस्सी के निशान भी हैं। इनका उपयोग सामान मुहरबन्द करने के लिए किया गया होगा।

आरेख 10

ताम्र-पट्ट

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा से कई ताम्र-पट्ट (Copper tablets) (आ. 9, 4-5; आ. 10, 7) मिले हैं। मकाइ का कहना है कि इनका प्रयोग ताबीज की तरह किया जाता था। ये आकार में तीन प्रकार के हैं – (1) लम्बे और कम चौड़े, (2) वर्गाकार या लगभग वर्गाकार और (3) आयताकार। शायद लोग उन्हें शरीर पर ताबीज की तरह बाँधते थे। जहाँ मुद्राओं के अभिलेख मुद्रा-स्वामियों के नाम, पर आदि के द्योतक लगते हैं वहाँ ताम्र-पट्टों के लेख पशुओं से संबंधित लगते हैं क्योंकि कई ताम्र-पट्टों पर एक तरह के पशु के साथ एक ही तरह के लेख मिलने के उदाहरण मिले हैं। कई ताम्र-पट्टों पर छोर रहित गांठ के डिजाइन हैं। यह डिजाइन मिस्र में पवित्र चिह्न समझा जाता था।

मुद्राओं के विपरीत ताम्र फलकों में पशु दाहिनी ओर मुँह किये हैं। चूँकि ताम्र फलकों पर अंकित अक्षर और अभिप्राय इतने उथले खुदे हैं कि इनसे छाप लिए जाने की कोई संभावना नहीं लगती, अतः यही मानना ठीक होगा कि इन पर पशु जिस दिशा में दिखाया गया है उसे उसी दिशा में दिखाना अभिप्रेत था। ऐसा लगता है कि दुकानदार ताम्र-पट्टों को काटकर रखता था और ग्राहक की इच्छानुसार उस पर अभिप्राय और लेख खोद देता था। मकाइ ने कुछ पर आरी से काटने और कुछ पर सीधे पैने औजार से काटने के निशान पाये।

इन ताम्र-पट्टों को ताँबे के सिक्के नहीं माना जा सकता, यद्यपि कुछ विद्वानों ने ऐसा मानने का सुझाव दिया। सिंधु सभ्यता के बांट अपनी तौल में सही होने के लिए विख्यात हैं और आशा यही की जाती है कि यदि वे लोग सिक्कों का निर्माण किये होते तो उनके सिक्के भी निर्धारित नाप-तौल के ही होते। एक ही आकार-प्रकार के ताम्र फलकों को तौलने पर पाया गया है कि वे किसी खास तौल प्रणाली पर अथवा तौल प्रणालियों पर आधारित नहीं हैं। इन्हें ताँबे की सिल भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें से एक भी ऐसा नहीं लगता जिसे हम सिंधु सभ्यता में प्राप्त किसी वस्तु के बनाने के लिए उपयुक्त आकार का मान सकें।

●●●

अध्याय 7

मनके

सिंधु सभ्यता की मृद्भाण्ड-निर्माण और मुद्रा-निर्माण के समान ही मनकों का निर्माण भी एक विकसित उद्योग था। यों तो सिंधु सभ्यता के सभी स्थलों से मनके मिले हैं किन्तु हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों, चन्हुदड़ों और लोथल से तो ये सहस्रों की संख्या में पाये गये हैं (आ. 11)। लोग इन मनकों को लड़ियों में गूंथकर कई लड़ियों वाला हार बनाते थे। मृण्मूर्तियाँ का साक्ष्य इस बात का द्योतक है कि नारियाँ मनकों की माला की बनी मेखला भी पहनती थीं। सिंधु सभ्यता के मनकों के निर्माण के लिए सेलखड़ी, गोमेद, कार्नीलियन, जैस्पर, इत्यादि पत्थरों का प्रयोग हुआ है। धातुओं में सोना, चाँदी और ताँबे का प्रयोग मनके निर्माण के लिए विशेष रूप से हुआ। काँचली मिट्टी, मिट्टी, शंख, हाथी दाँत, आदि के भी मनके बने। सिंधु सभ्यता के मनकों के आकार-प्रकार में पर्याप्त विविधता है। आकार-प्रकार की दृष्टि से मनकों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है –

बेलनाकार मनके – इस तरह के मनके अत्यन्त लोकप्रिय थे। ये काँचली मिट्टी, सेलखड़ी, शंख, मिट्टी और केल्साइट पत्थर के हैं। सेलखड़ी के कुछ वर्तुलाकार मनकों पर सोने की टोपी लगी है।

दंतचक्र प्रकार के मनके – इस तरह के मनके पेस्ट के बने हैं और इन पर ओप भी हैं। ये मनके साँचे से बने हैं। मेसोपोटामिया को प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में ऐसे मनकों का अभाव है।

छोटे ढोलाकार मनके – ये मनके कांसा, ताँबा, सोना, चाँदी, स्फटिक, शंख, जेड सेलखड़ी और चूना-पत्थर के हैं। स्फटिक और हरिताश्म के मनके बहुत कम हैं।

लम्बे ढोलाकार मनके – यद्यपि यह अनेक पदार्थों के बने हैं किन्तु काँचली मिट्टी, मुलायम पत्थर और चूना-पत्थर के बने मनके सबसे अधिक हैं। मोहेंजोदड़ों से इस प्रकार का गोमेद का भी एक मनका मिला है। इन मनकों की काट अण्डाकार है। ऐसे आकार के मनके सोने और चाँदी के भी मिले हैं। एक शंख ऐसा मनका एक ओर चपटा है और दूसरी ओर अर्ध गोलाकार। इस प्रकार के मनके जेम्देत नस्र के उत्खनन में पाये गये हैं। दक्षिणी नाल

(बलूचिस्तान) के प्रारंभिक मृद्भाण्डों के साथ भी इस तरह के मनके उपलब्ध हैं। हड़प्पा से कार्नीलियन के ऐसे मनके मिले हैं। जिनकी तुलना उर, किश और तेल अज्मर के मनकों से की जा सकती है।

आरेख 11

अण्डाकार या अर्धवृत्त काट वाले आयताकार मनके - कुछ आयताकार मनके अण्डाकार या अर्धवृत्ताकार काट वाले बनाये गये हैं। इनमें अण्डाकार काट वाले मनके विशेष लोकप्रिय रहे। यह सेलखड़ी गोमेद और हरी काँचली मिट्टी के बने हैं।

खाड़ेदार तिर्यक (fiuted tapered) मनके - ये पेस्ट के हैं और साँचे से बने हैं। संभवतः ऐसे मनके लटकन की तरह प्रयुक्त होते रहे होंगे।

लम्बे ढोलाकार मनके (long barrel cylinder) - इस तरह के मनके बड़े आकर्षक हैं और या तो लाल कार्नीलियन या मिट्टी के बने हैं। मिट्टी के मनके आकार में कार्नीलियन मनकों की प्रतिलिपि हैं और इन्हें समाज के आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के लोग पहनते रहे होंगे। इस प्रकार के मनके मेसोपोटामिया में मिले हैं पर वहाँ उनकी संख्या अधिक नहीं, जबकि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में ये भारी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। कुछ विद्वानों के विचार से इनका निर्माण सिंधु सभ्यता में हुआ और वहाँ से ये मेसोपोटामिया भी पहुँचे।

बिम्ब (disc) मनके (आ. 11, 10) - इस तरह के मनके काँचली मिट्टी, मिट्टी और शंख के हैं और इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है।

गोल मनके - ऐसे मनके छोटे तथा बड़े दोनों आकार के मिले हैं। छोटे मनके विभिन्न पदार्थों से निर्मित हैं। कुछ ऐसे छोटे-छोटे सोने के मनके मोहेंजोदड़ों के दो आभूषण निधानों में पाये गये। बड़े मनके विभिन्न धातुओं के बने हैं। इन्हें या तो सांचे से या पीट कर बनाया गया है। ऐसे एक ओपदार मनके का विश्लेषण डॉ. हामिद ने किया है। उनके अनुसार इस तरह के मनकों में उन्हें चमकाने के लिए किसी पदार्थ को अलग से मिलाया नहीं गया। ओप के लिए पालिश ही काफी थी।

रेखांकित मनके (आ. 11, 1-3) - ऐसे मनके उर, किश और तेल अज्मर से भी मिले हैं। लेकिन चन्हुदड़ों तथा मोहेंजोदड़ों के जो उदाहरण हैं वे अधिक सुन्दर बने हैं। हड़प्पा से एक हृदयाकार मनका मिला है। मोहेंजोदड़ों के रेखांकित मनके तीन तरह के हैं। कुछ में लाल भूमि पर सफेद, कुछ में सफेद भूमि पर काली और कुछ पर लाल भूमि पर काली डिजाइन है। चन्हुदड़ों से पहले दो प्रकार के मनके मिले हैं।

खण्डशः विभक्त (segmented) मनके (आ. 11, 8) - इस तरह के मनकों का निर्माण केवल काँचली मिट्टी से हुआ है। इन पर किसी तरह के

ओप के चिह्न नहीं हैं। मेसोपोटामिया में प्राग् सारगन काल तथा मिस्र में इससे बाद के काल में ऐसे मनके बहुत लोकप्रिय थे। वहाँ के इस तरह के मनकों पर तरह-तरह के रंगों की परत चढ़ाकर चमकाया गया था। प्रारंभिक मिनिओन II में पत्थर के इस तरह के मनके बनते थे। मार्शल के अनुसार मोहेंजोदड़ों में इस तरह के काँचली मिट्टी के बने मनके अन्तिम प्रकाल में पाये गये हैं।

काँचली मिट्टी के खण्डशः विभक्त मनके टेलब्राक (उत्तरी सीरिया) में जमवेत नस्र काल (लगभग 3000 ई. पू.) में मिले हैं। क्रीट में ये मध्य मिनिओन तृतीय और मिस्र के अठारहवें राजवंश के काल तक पाये गये हैं। पी.डी. रिशी (Ritchie) ने एक हड़प्पा और एक क्नोसौस के मनके के वणक्रमलेखी (स्पेक्टोग्राफिक) विश्लेषण से पता किया है कि इन दोनों के निर्माण पदार्थ में पूर्ण समानता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये लगभग 1600 ई. पू. में एक ही स्थल में निर्मित हुए किन्तु यह तिथि सिंधु सभ्यता के हड़प्पा स्थल की तिथि से मेल नहीं खाती। यह भी निश्चय करना कठिन है कि इन दोनों में से निर्माण स्थल कौन था।

उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त कुछ और आकार-प्रकार के मनके भी मिले हैं। उदाहरणार्थ हड़प्पा में सेलखड़ी के कुछ दाँत की शक्ल के, कुछ सीढ़ीनुमा और कुछ सलीबनुमा मनके भी मिले हैं।

चन्हुदड़ों और लोथल में मनका बनाने वालों के कार्यस्थल (फैक्ट्री) उद्घाटित हुए हैं। इन स्थानों पर कई अधूरे बने मनके मिले। इनका अध्ययन कर साधारण पत्थर के टुकड़े से लेकर पूरी तरह बने मनके तक निर्माण के विभिन्न चरणों का ज्ञान हुआ। लम्बे कार्नीलियन के मनके बनाने की विधि निम्नलिखित थी - पहले पत्थर की लगभग 7.62 सेमी. लम्बी वर्गाकार तीलियाँ बनाते थे। इस तरह की आकृति देने के लिए पत्थर को काटने में ताँबे की आरी और क्वार्ट्ज पत्थर के चूरे का प्रयोग किया गया होगा। फिर इन टुकड़ों को तराश कर इंच्छित आकार दिया जाता था और उसे पत्थर पर घिसकर सपाट कर दिया जाता था। अन्त में उसे चमका दिया जाता था। कुछ मनकों में यह छेद सीधा नहीं हो पाया और इसलिए दोनों ओर से किये गये छेदों को मध्य की ओर से उकेर कर मिला दिया जाता था। छेद वाले भाग को पालिश भी कर दिया जाता था। छेद करने के लिए पत्थर या ताँबे की बेधनी का प्रयोग किया गया था। पत्थर की बेधनी की नोक पर छोटा प्यालानुमा बना होता था जिसमें अपघर्षक और पानी अटक सके। निश्चय ही अपघर्षक की

सहायता से छेद करने में आसानी रही होगी। चन्हुदड़ों में इस तरह के पत्थर बेधनियाँ मिली हैं। पिगट के अनुसार परीक्षणों से ज्ञात होता है कि कार्नीलियन के एक 7.65 सेमी. के मनके पर छेद करने में कारीगर को लगभग 24 घंटे लग जाते रहे होंगे, और स्वाभाविक है कि ऐसे मनके काफी कीमती रहे होंगे। लोथल के समीप ही स्थित कैम्बे में आज भी मनके बनाने का कार्य बड़े पैमाने पर होता है। शि. रंगनाथ राव का मत है कि वहाँ पर मनके बनाने की परम्परा सिंधु सभ्यता काल से अक्षुण्ण चली आ रही है, और सिंधु सभ्यता के लोगों की मनका बनाने की तकनीक आजकल की तकनीक से अधिक भिन्न नहीं रही होगी।

सेलखड़ी के मनके जितने सिंधु सभ्यता में मिलते हैं उतने विश्व की किसी भी संस्कृति में नहीं मिले। मनकों के निर्माण के लिए सेलखड़ी का प्रयोग दो तरह से किया गया है - या तो सेलखड़ी पत्थर से सीधे ही मनके बनाये गये हैं या फिर उसके चूरे से पेस्ट बना कर। सेलखड़ी के पेस्ट से बने अत्यन्त छोटे मनकों को तो कांसे की नली से उस पर दबाव डालकर बनाया गया है। सेलखड़ी के पेस्ट से बने मनकों में से कुछ ढोलाकार या उत्तल द्विकोण (कन्वेक्स बाइकोन) मनकों पर तिपतिया अलंकरण है। पहले यह अलंकरण क़ाटकर बनाया गया, फिर पृष्ठभूमि में उभर आता है और रेखांकित कार्नीलियन के मनकों पर अंकित डिजाइन की तरह दिखता है। कुछ मनकों पर लाल रंग बिना पृष्ठभूमि को काटे भी लगाया गया है।

कार्नीलियन के रेखांकित मनके तीन तरह के हैं - लाल पृष्ठभूमि पर सफेद रंग के डिजाइन वाले, सफेद पृष्ठभूमि पर काले रंग के डिजाइन वाले और लाल पृष्ठभमि पर काले डिजाइन वाले। प्रथम प्रकार के मनकों पर डिजाइन तेजाब (एच.सी. बेक के अनुसार सोडा कार्बोनेट) से अंकित किया जाता था और फिर मनके को ताप पर गरम किया जाता था जिससे तेजाब ठीक तरह कार्नीलियन के भीतर पैठ जाता था और स्थायी रूप से सफेद रेखाएं अंकित हो जाता थीं। इस प्रकार आँख की डिजाइन वाले मनके, अंग्रेजी के '8' अंक के समान डिजाइन वाले मनके और ऋजुरेखीय हीराकार मनके उर, किश, टेल अज्मर (सारगान काल) में प्राप्त मनकों के समान है और एक ही स्रोत से इन स्थलों में लाये गये लगते हैं, दूसरे प्रकार के मनकों में पहले सारें मनके पर तेजाब लगाया जाता था जिससे सफेद सतह बन जाती थी। इस सफेद सतह पर काले रंग से डिजाइन बनाया जाता था। इस तरह के मनके मेसोपोटामिया में भी मिले हैं। रेखांकित कार्नीलियन के मनके मोहेंजोदडों में

कम प्राप्त हुए; ये हड़प्पा में मोहेंजोदड़ों की अपेक्षा अधिक संख्या में मिले हैं। राव के अनुसार लोथल की खुदाइयों में ऐसे मनके काफी संख्या में मिले हैं। एच.सी. बेक के मतानुसार ऐसे मनके बनाने की तकनीक इतनी क्लिष्ट है कि दोनों संस्कृतियों में इनके स्वतंत्र रूप से बनाये जाने की संभावना नहीं दिखती। राव तो ऐसे मनकों का स्रोत लोथल मानते हैं। राव का मत है कि रेखांकित मनके सबसे पहले लोथल में बने और अन्यत्र लोगों ने इस तरह के मनके बनाने का ज्ञान लोथल से ही प्राप्त किया, सही नहीं लगता। मोहेंजोदड़ों में प्रारम्भिक चरण से ही इस तरह के मनके मिलते हैं और इनकी तिथि लोथल से बाद की नहीं मानी जा सकती।

रेखांकित मनके, लम्बे ढोलाकार कार्नीलियन के मनके, सेलखड़ी के पकाए गए छोटे मनके, सीढ़ीदार मनके, और मनकों पर तिपतिया डिजाइन सिंधु सभ्यता और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों के बीच संपर्क के द्योतक लगते हैं। किन्तु अन्तर भी ध्यान देने योग्य है : (1) सेलखड़ी के मनके सिंधु सभ्यता में तो पर्याप्त संख्या में मिलते हैं किन्तु मेसोपोटामिया में अत्यल्प संख्या में; (2) सेलखड़ी के मनकों पर सिंधु सभ्यता में चित्रण मिलता है पर मेसोपोटामिया के मनकों पर नहीं; (3) मनकों के कुछ आकार-प्रकार ऐसे हैं जो सिंधु सभ्यता में मिलते हैं, मेसोपोटामिया में नहीं, और कुछ मेसोपोटामिया में प्राप्त मनकों के प्रकार सिंधु सभ्यता में नहीं मिलते।

●●●

अध्याय 8

मृद्भाण्ड

सिंधु सभ्यता की मृद्भाण्ड अपनी विशिष्टता लिए हुए है और इसके भाण्डों के कई मुख्य प्रकार दूसरी संस्कृतियों में अनुपलब्ध हैं ये व्यावसायिक पैमाने पर उपयोगितावाद के दृष्टिकोण से निर्मित किये गये थे। इस सभ्यता के बर्तन अधिकतर चाक पर ही बने हैं। चाक लकड़ी के रहे होंगे जो नष्ट हो गये हैं। हाथ से बनाये बर्तन भी मिले हैं, किन्तु चाक पर निर्मित बर्तनों की अपेक्षा इनकी संख्या बहुत कम है और ये मुख्य रूप से निम्न स्तरों से उपलब्ध हुए हैं। अंतिम चरण में बर्तनों के निर्माण में ह्रास के लक्षण दिखते हैं। आजकल की प्रथा को ध्यान में रखते हुए ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि बर्तन पुरुषों ने बनाये होंगे और उन पर चित्रण आदि स्त्रियों ने किया होगा। मृद्भाण्डों के निर्माण के लिए मिट्टी नदी से लायी गयी थी। उसमें अभ्रक और बालू भी मिली है। भाण्डों को भट्टों में भलीभाँति पकाया गया था।

मोहेंजोदड़ों के अन्तिम चरण में, जब सभ्यता ह्रासोन्मुखी थी, नगर की सीमा में भी भट्ठे पाये गये हैं। विकसित युग में भट्ठे नगर से बाहर रहे होंगे। ये उपलब्ध भट्ठे वृत्ताकार हैं और इनका व्यास 1.8 मीटर से 2.74 मीटर है। इनमें नीचे कोयला रखने के लिए गड्ढा था और उसके ऊपर गुम्बद बना था। इस तरह के भट्ठे पश्चिमी एशिया की प्राचीन संस्कृतियों में भी मिले हैं। बर्तनों का ठीक तरह से पका होना इस बात का द्योतक है कि आंच भलीभाँति नियंत्रित थी। लेकिन आजकल की भाँति बिना भट्ठे के भी खुले में भाण्ड पकाएँ जाते रहे होंगे।

कुल्हड़ के पेंदे गोल और कुछ नुकीले हैं और उनके नीचे का भाग ऊपरी भाग की अपेक्षा कम सावधनी से बना है। बड़े घड़े दो तीन भागों में बनाये गए थे और गीले में ही उन्हें काफी सफाई से जोड़ दिया गया था, जिस कारण जोड़ नहीं दिखते हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि सिंधु सभ्यता के बर्तनों में गोलाई अधिक है और सीधे कोने कम।

साधारणतः सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्ड भली-भाँति तैयार की गई मिट्टी से बने हैं। अधिकांश मृद्भाण्ड बिना चित्रण वाले हैं। इन पर हल्का दूधिया रंग

का लेप मिलता है। कुछ उदाहरणों में लेप का रंग पीलापन या सफेदी लिए है, और अत्यल्प उदाहरण गुलाबी लेप के भी हैं। चित्रित बर्तनों (फ. XIX, 1, 2, 4; XX, 1, 3) की संख्या अपेक्षाकृत कम है और इनमें से अधिकांश खण्डित मिले हैं। निचले स्तरों में ऊपरी स्तरों की अपेक्षा अधिक चित्रित बर्तन मिले हैं। चित्रित तथा सादे दोनों ही मृद्भाण्ड एक ही तरह की मिट्टी से बने हैं। यह रोचक तथ्य है कि सर लियोनार्ड वूली ने मोहेंजोदड़ों में पुनरुत्खनन न किये जाने की सलाह मुख्यतः इस आधार पर दी थी कि यहाँ पर मेसोपोटामिया की तरह विशाल संख्या में चित्रित मृद्भाण्ड नहीं मिलते। साधारणतया चित्रित बर्तनों पर लाल लेप लगा मिलता है। लेप लगाने का उद्देश्य सुन्दरता के अतिरिक्त बर्तन को जलामेद्य बनाना भी था। कुछ बर्तनों को तो लेप से इतना चिकना बना दिया गया कि एक विद्वान का सुझाव है कि इसमें चूहों से भी सुरक्षा हो सकती थी, क्योंकि चूहे ऐसे भाण्डों पर फिसल जाते रहे होंगे और उसके मुँह तक नहीं पहुँच पाते रहे होंगे।

दूधिया, गुलाबी और लाल सभी रंगों के लेप के लिए रंगीन प्राकृतिक मिट्टी ही प्रयुक्त लगती है। लेप को, विशेषतः गाढ़े लाल रंग को, पालिश कर चमकाया गया है। अक्सर गाढ़ा लेप पूरे बर्तन पर नहीं लगाया गया और लेप वाले भाग पर ही चित्रकारी की गई है, बाकी भाग सादा छोड़ दिया गया है।

चित्रण साधारणतया काले रंग से किया जाता था ओमेग्निफेरस हाइमेटाइट से तैयार किया जाता था। लाल लेप पर काले रंग से चित्रण की विद्या की दृष्टि से ये उत्तरी बलूचिस्तान के रानाघुंडई तृतीय चरण से प्रेरित लगते हैं किन्तु जहाँ तक अभिप्रायों और डिजाइनों का प्रश्न है इनमें उत्तरी बलूचिस्तान का प्रभाव नगण्य है। कुछ अर्थों में दक्षिणी बलूचिस्तान की कुल्ली शैली का भी सिंधु सभ्यता के भाण्डों पर कुछ प्रभाव दिखता है। आकार-प्रकार के समान चित्रण विधा में भी सिंधु सभ्यता के भाण्डों की अपनी अलग विशिष्टता हैं।

चित्रित बर्तनों के ऐसे बहुत कम उदाहरण (फ. XIX, 1) हैं जिनका सम्पूर्ण बाह्य भाग चित्रित किया गया हो। साधारणतया चित्रित मृद्भाण्ड के लगभग तीन चौथाई या उससे भी कम हिस्सों पर चित्रकारी की गई है। छोटे आकार के मृद्भाण्डों के मध्य में काले रंग से एक धारी या धारियाँ बना दी गई हैं। अधिकांश मृद्भाण्डों में चित्रण काले रंग से किया गया है। चित्रित अभिप्रायों में विविधता है और अधिकांश अलंकरण परंपरागत शैली में हैं।

काले रंग की आड़ी धारियों का अंकन सबसे अधिक मिलता (आ. 12, 17)। कुछ धारियाँ मोटी और कुछ पतली हैं। साधारणतया चित्रण के लिए बर्तन की बाहरी सतह को बड़े खण्डों में विभाजित कर लेते थे और फिर उन्हें खड़े और पड़े छोटे खण्डों में विभाजित करते थे। अभिप्रायों में प्रतिच्छेदी वृत्त विशेष उल्लेखनीय हैं। यह अभिप्राय एलम और सुमेर के मृद्भाण्डों पर तो नहीं मिलता, लेकिन सिंधु और बलूचिस्तान की प्राग् हड़प्पा संस्कृतियों में भी इस तरह के अलंकरण के अत्यल्प उदाहरण मिलते हैं। तिकोन (आ. 14, 3) शंकु, चेक डिजाइन (आ. 14, 6) जाली (आ. 15, 1) मनकों का बार्डर (आ. 14, 13), अर्धचन्द्र, अंदर की ओर मुड़े तिकोन, सीढ़ीदार तिकोन, वृक्क के आकार का डिजाइन (आ. 13, 10), लहरदार रेखाएं (आ. 14, 5), लटकन (आ. 13, 8), मत्स्य शल्क (आ. 13, 1, 2) आदि भी उल्लेखनीय हैं। कुछ अभिप्रायों पर छाया की गई हैं।

कई बर्तनों पर वनस्पति (फ. XIX, 4, 5, XX, 1, 3; आ. 14, 7, 8, 9) चित्रित हैं। अधिकांशतया वनस्पति का चित्रण पारम्परिक शैली में है और उनकी पहचान करना कठिन है, किन्तु पीपल (आ. 14, 9), ताड़, नीम, केला और बाजरा पहचाने जा सकते हैं। कुछ मृत्पात्रों पर फूल का सा अलंकरण है और कुछ पर सूरज की तरह का अभिप्राय है।

मछली का चित्रण भी कुछ भाण्डों पर है (आ. 15, 6)। पक्षियों में मोर की आकृति कुछ बर्तनों पर मिलती है (आ. 15, 5)। अंग्रेजी अक्षर 'वी' (V) से मिलती-जुलती आकृति का डिजाइन भी पक्षी का द्योतक लगता है। पशुओं की आकृतियों का अंकन अधिक नहीं है, जो हैं भी वे स्वाभाविक नहीं है। कुछ मृद्भाण्ड खण्डों पर बड़े सींग वाले बकरे और हिरण का अंकन है (आ. 13, 7, 8)। पशुओं के साथ वनस्पति का भी चित्रण मिलता है। मोहेंजोदड़ों के एक उदाहरण में कनखजूरे का सा चित्रण है। कुछ उदाहरणों में पक्षी वृक्ष की शाखा पर बैठे और कुछ पर उसके समीप दिखलाये गये हैं (फ. XX, 1) थोड़े से उदाहरणों में सर्प का अंकन है। सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों पर पशु-पक्षियों के चित्रण में कुल्ली शैली से निकटता पाते हैं जिसमें शरीर की रूपरेखा मोटी रेखाओं से दिखाकर भीतरी भाग में आड़े-तिरछे छाया की गयी है। लेकिन बाकी बातों में दोनों में चित्रण की दृष्टि से पर्याप्त भेद भी है। केवल एक मृद्भाण्ड पर पशुओं को एक पंक्ति में दिखाया गया है। इस तरह

से अलंकरण करने की विधा एलम और सुमेर में विशेष रूप से लोकप्रिय थी। वैसे इस बर्तन का आकार और निर्माण में प्रयुक्त मिट्‌टी अन्य भाण्डों से भिन्न लगती है। मृद्‌भाण्डों पर मानव आकृतियों के भी चित्रण हैं, किन्तु इनकी संख्या अत्यल्प है, और जो हैं भी वे अपेक्षाकृत भोंडे हैं। जाने क्यों मुद्राओं पर भी, जिनमें जानवरों का स्वाभाविक चित्रण है, मानव आकृतियाँ सुन्दर नहीं बन पड़ी हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक ही भाण्ड के तीन टुकड़ों पर अलग-अलग तीन दृश्यों का अंकन है। एक फलक में वृक्ष की शाखा दिखायी गयी है। दूसरे में एक हिरनी बच्चे को दूध पिला रही है (आ. 15, 2)। हिरनी से ऊपर वाले भाग में दो पक्षी और एक मछली है। इस दृश्य के बाद एक लेकर डिजाइन है। उसके बाद एक और दृश्य का अंकन है जिसमें एक हाथ उठाये और दूसरे हाथ पे सिर को छूता हुआ एक मनुष्य, दोनों हाथ उठाये एक बालक, दो मछली और एक मुर्गा दिखाया गया है। तीसरे में एक तरफ पेड़, मानव हाथ, सिर और शायद नागफण, और दूसरी ओर एक पेड़ की शाखाएं दिखायी गयी हैं। हड़प्पा से ही प्राप्त एक मृद्‌भाण्ड खण्ड पर एक मछुआ अंकित है जो अपने कंधे पर रखी बहंगी पर दो जाल लटकाये हुए है (आ. 15, 1)। उसके पैरों की सीध में एक मछली और एक कछुआ भी दिखाया गया है। कुछ बर्तनों पर लेप की कंघी जैसी किसी वस्तु से हटाकर उसके नीचे के गहरे रंग के धरातल को दिखाया गया है। उर और टेलअज्मर में प्रारम्भिक राजवंशकाल में इस तरह की विधा प्रचलित थी।

सिंधु सभ्यता के कुछ बर्तनों पर ठप्पे भी मिलते हैं। मोहेंजोदड़ों में तो ठप्पे लगे बर्तन बहुत कम संख्या में मिले हैं किन्तु हड़प्पा में इस तरह के बर्तन काफी संख्या में मिले हैं।[1] अधिकांश ठप्पों पर सिंधु लिपि के चिह्न मिलते हैं जो शायद कुम्हारों के अथवा उनके फर्मों के नाम हैं। कुछ पर ग्रैफिटी के चिह्न भी हैं। उत्कीर्ण अलंकरण वाले बर्तन बहुत कम हैं और इस तरह का अलंकरण गहरे बर्तन और साधारण तश्तरी पर ही मिलते हैं। कुछ पर प्रतिच्छेदी वृत्त अभिप्राय अंकित हैं जो कभी नाखून से और कभी सरकंडे से बनाया गया है। मोहेंजोदड़ों के एक बर्तन पर नाव का चित्र खुदा है। कालीबंगां के कुछ बर्तनों पर सिंधु लिपि के अक्षर खुदे हैं।

---

1. चंडीगढ़ से मिले एक सिंधु सभ्यता के पात्र पर भी ठप्पा मिला है। इस पर भी सिंधु लिपि के चिह्न हैं।

यह एक विचित्र सी बात है कि ये लोग लाल रंग का प्रयोग लेप के लिये तो खूब करते थे किन्तु चित्रकारी के लिए उन्होंने इसका प्रयोग बहुत कम किया है। सिंधु सभ्यता में बहुरंगी चित्रण वाले भाण्ड बहुत कम मिले हैं, और जो हैं वे आकार में अपेक्षाकृत छोटे हैं। मोहेंजोदड़ों में थोड़े से बहुरंगी भाण्ड हैं। उन पर लाल और हरे रंग से पाण्डु सतह पर चित्र बनाये गये हैं। पीले रंग का प्रयोग बहुत कम हुआ है। चन्हुदड़ों से प्राप्त कुछ भाण्डों पर काले, सफेद और लाल रंग से पीले सतह पर पशु-पक्षी चित्रित किये गए हैं। बहुरंगी बर्तनों पर रंग कुछ धुंधले हैं और लगता है कि इन पर रंग पकाने के बाद ही किया गया होगा। चित्रण के लिये काले और लाल रंग का प्रयोग तो कई प्राचीन संस्कृतियों में मिलता है किन्तु बहुरंगी चित्रण वाले बर्तन बहुत कम मिलते हैं; केवल नाल (बलूचिस्तान) के कब्रिस्तान में ही बहुरंगी चित्रण वाले बर्तन काफी संख्या में मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सिंधु सभ्यता के बहुरंगी चित्रण वाले बर्तन नाल संस्कृति के सम्पर्क के फल हैं। यह कहना कठिन है कि इनका निर्माण नाल की भाँति शवों के साथ गाड़ने के लिए किया गया था, क्योंकि सिंध ु संस्कृति के शवाधानों में इस तरह का साक्ष्य नहीं मिला।

सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों में आकार-प्रकार की दृष्टि से पर्याप्त विविधता है (आ. 12)। इस सभ्यता के प्रायः सभी स्थलों से साधार तश्तरियाँ बहुलता से पायी गयी हैं (फ XIX, 4; आ. 12, 1)। इस तरह के बर्तन का ऊपरी भाग एक तश्तरी या प्याले जैसा तथा निचला भाग उलटी तुरही के समान है। कुछ का आधार लम्बा है और कुछ का छोटा। ये हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों में सभी स्तरों में मिलती हैं। साधार तश्तरियाँ तत्कालीन एलम, सुमेर, क्रीट और मिस्र में भी प्रचलित थीं। मेसोपोटामिया में तो कब्र में यह विशेषरूप से अन्य सामग्री के साथ मिलती हैं। भारत में ही सिंधु सभ्यता से इतर ताम्राश्म संस्कृतियों में भी इस तरह के पात्रों से मिलती-जुलती आकृति वाले बर्तनों के उदाहरण पाये गये हैं। सुमेर के कुम्हारों की भाँति ही सिंधु सभ्यता के कुम्हार पहले इस बर्तऩ के दोनों भागों (तश्तरी और उसके आधार) को अलग-अलग बनाते थे और फिर उन्हें जोड़कर एक बर्तन का रूप दे देते थे। किन्तु सिंधु सभ्यता के भाण्ड का यह प्रकार, उसकी मिट्टी, आकृति और पकाने की विधि कुछ इस तरह की है कि उसे उपर्युक्त इतर संस्कृतियों के बर्तऩों से अलग ही पहचाना जा सकता हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार झोब घाटी

आरेख 12
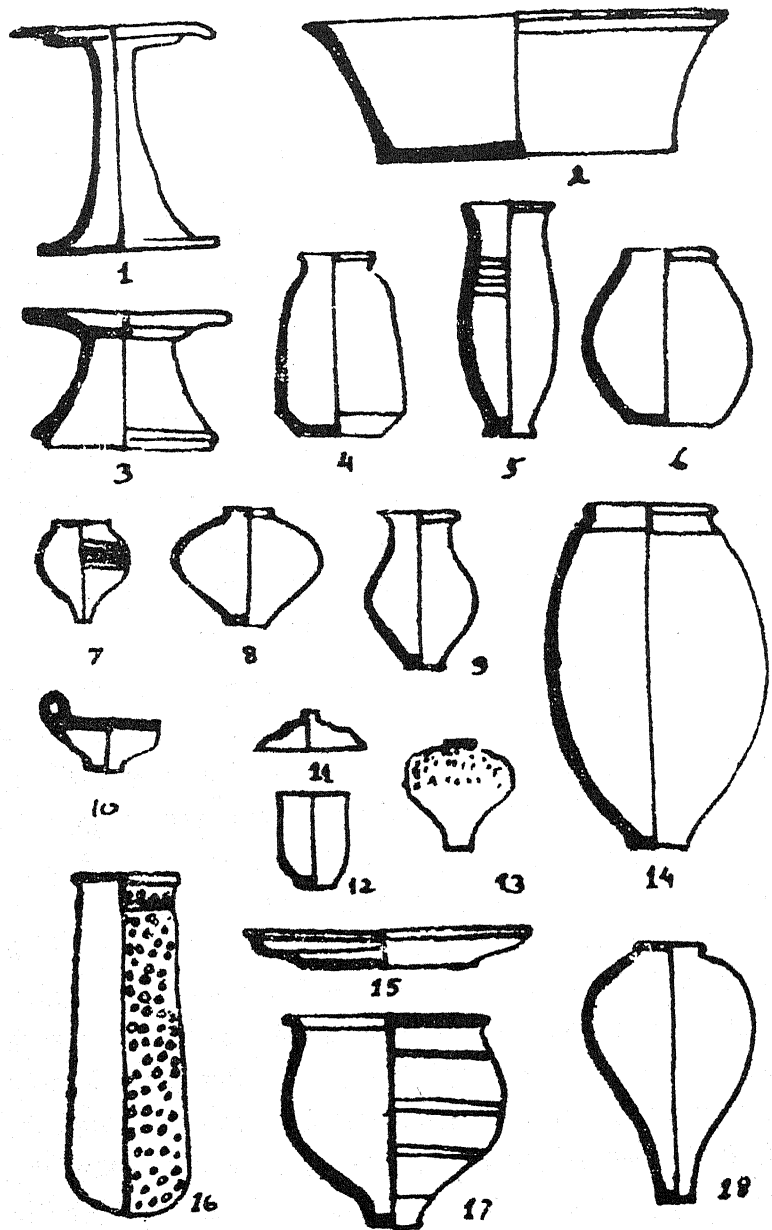
के रानाघुंडई द्वितीय काल से प्राप्त आधार युक्त कटोरे ही मूलतः सिंधु सभ्यता के इस प्रकार के भाण्डों के प्रेरणा स्रोत रहे होंगे। सम्भवतः लोग इस पर भोज्य सामग्री रखकर स्वयं चौकी पर बैठकर भोजन करते रहे होंगे, ताकि भोजन करते समय झुकना न पड़े। निश्चय ही यह उच्च वर्ग के लोगों की रुचि का द्योतक है। कब्रों में भी शव के साथ इस तरह के बर्तन मिलते हैं और यह भी सम्भव है कि इनका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठान के संदर्भ में किया जाता रहा हो।

मटकों के हत्थेदार प्याले जैसे ढक्कन मिले हैं, लगभग उसी तरह के जैसे कि जम्देत नस्र (मेसोपोटामिया) में भी पाये गये हैं, जो कालक्रम की दृष्टि से सुमेर के प्रारंभिक राजवंश युग के ठहरते हैं। हत्थेदार मदृभाण्डों के उदाहरण हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों, दोनों से कम ही प्राप्त हुए हैं। केवल बहुत छोटे आकार के प्यालों पर, जिनका उपयोग बच्चों को दूध और अन्य तरल पदार्थ पिलाने के लिए होता रहा होगा, ही हत्थे मिले हैं। हत्थेदार मृद्भाण्ड मेसोपोटामिया में काफी पहले से लोकप्रिय थे। सिंधु सभ्यता में टोंटीदार बर्तन बहुत कम उपलब्ध हैं। बड़े घड़े (आ. 12, 14, 17) भी मिले हैं जिनमें अन्न या जल संग्रहीत किया जाता रहा होगा। कुछ घड़ों का प्रयोग शव की अस्थियों के विसर्जन के लिए भी होता था। कुछ छोटे मुख वाले काले रंग के मर्तबान भी हैं। कुछ बर्तनों के सिर पर छिद्र हैं जिसमें रस्सी डालकर ठीक तरह कसा जाता रहा होगा। थालियों में मुख्य रूप से खाना परोसा जाता रहा होगा। नाँद की तरह के बर्तनों में पर्याप्त विविधता है। घड़ों और अन्य बर्तनों के ढक्कन भी पर्याप्त संख्या में पाये गये हैं।

कुछ मृत्पात्रों के बाहर उस तरह के छोटे-छोटे दानों के उभार हैं जैसे कटहल के फल पर होते हैं (आ. 12, 13)। टेल अस्मार की खुदाई से प्राप्त इसी तरह के अलंकरण वाले बर्तन सिंधु सभ्यता के समकालीन हैं, और भारत से आयातित लगते हैं। लम्बे और बेलनाकार आकृति के कुछ बर्तन ऐसे भी पाये गये हैं जिन पर अनेक छेद हैं (फ. XX, 2; आ. 12, 16) छेदों का आकार बर्तनों के आकार के अनुपात में भिन्नता लिये है। ये छेद गीले बर्तन पर ही लकड़ी से बनाये गये थे। ये आकार में लगभग पौने चार सेंमी. से लेकर 50 सेमी. से भी अधिक बड़े हैं। कुछ छिद्रित बर्तनों पर दूधिया लेप है। आरेल स्टाइन को बलूचिस्तान से भी एक ऐसा ही मृद्भाण्ड उपलब्ध हुआ जिसके अन्दर राख थी। हो सकता हैं कि इनका उपयोग सिंगड़ी के रूप में

आरेख 13

किया जाता रहा हो। लेकिन साधारणतः ऐसे बर्तनों पर आग जलाने के निशान नहीं है। बेबीलोनिया में भी छिद्रित बर्तन अति प्राचीन काल से मिलते हैं, यद्यपि वे आकार में सिंधु सभ्यता के छिद्रित बर्तनों से भिन्न हैं। बेबीलोनिया के इन भाण्डों का दूध छानने के लिए प्रयुक्त होना सुझाया गया है। कुछ विद्वान इन बर्तनों की पहचान ऋग्वेद में उल्लिखित शतधार कलश[1] के रूप में करते हैं।

कुछ चंचुक (बीकर) की आकृति के बर्तन मिले हैं। ये अपेक्षाकृत पतले है। इन्हें भली-भाँति तैयार की गई मिट्टी से बनाया गया है और ये अधिकांशतया बिना लेप के हैं; जिन पर लेप हैं भी वह सावधानी से नहीं लगाया गया है। ये ज्यादातर मध्य एवं बाद के काल में मिलते हैं, मुख्यतया मध्यकाल में।

हड़प्पा संस्कृति के छोटे मृद्भाण्ड सुन्दर बन पड़े हैं। कुछ भाण्डों की ऊँचाई तो केवल आधा इंच ही है। यह मिट्टी अथवा काँचली मिट्टी के बने है। इनमें संभवतः इत्र तथा प्रसाधन की अन्य कोई बहुमूल्य सामग्री रखी जाती थी। एक प्रकार के कटोरे मिले हैं जिनके पेंदे में अन्दर की ओर घुंडी हैं। इस तरह के कटोरे मेसापोटामिया में जमदेत नस्र काल में तथा अन्य संस्कृतियों में भी पाये गये हैं।

ऐसे बर्तन भी हैं जिन पर विभिन्न सामग्री रखने के लिए अलग-अलग खाने बने हैं। आज भी इस तरह अलग-अलग खाने वाली थालियों का प्रचलन है। कुछ कुल्हड़ के तरह के पानपत्र मिले हैं। इनका पेंदा नुकीला है और यह संभवतः उलटे रखे जाते थे। इनका प्रयोग कुल्हड़ की तरह पानी पीने के लिए होता रहा होगा। यह संभावना व्यक्त की गई है कि इनका उपयोग रहट की भाँति कुओं से पानी निकालने के लिए होता रहा होगा। इनका अपेक्षाकृत छोटा आकार इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं लगता और साथ ही उत्खनन में जिस संदर्भ में ये अधिकांशतः मिले हैं उसे कहीं-कहीं तो प्याऊ जैसे स्थलों में पानी पिलाने के लिए इनका उपयोग होने लगता है। इनमें कुछ पर ठप्पे भी मिलते हैं जो संभवतः कुंभकारों के अथवा उनकी फर्म के नाम हो सकते हैं। वास्तव में सिंधु सभ्यता से प्राप्त भाण्डों में यही एक मात्र ऐसा प्रकार है जिस पर ठप्पे मिलते हैं। हड़प्पा के दस ऐसे बर्तनों पर एक ही तरह के लेख वाले ठप्पे मिले

---

1. शतधार उत्स, ऋग्वेद 9-206-9। शतधारकलश का उल्लेख वैदिक साहित्य में सोमरस के निर्माण के संदर्भ में आया है; इससे छन-छन कर सोमरस निकाला जाता था।

आरेख 14

आरेख 15

है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि ये सब एक ही कुम्हार के द्वारा निर्मित थे। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में ये कुल्हड़ जैसे बर्तन ऊपरी स्तरों में मिलते हैं। सौराष्ट्र के कुछ स्थलों से हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में इस तरह के बर्तन नहीं मिलते।

थालीनुमा बर्तन भी मिले हैं (आ. 12, 15)। सम्भवतः इनका प्रयोग भोजन के लिए किया जाता रहा होगा। ये थालियाँ काफी मोटी, उथली और एकदम सादी हैं। गीली मिट्टी से पशु अथवा मानवाकृति बनाकर गीली अवस्था में ही बर्तनों पर जोड़ने का चलन सिंधु सभ्यता में नहीं था। केवल एक ही उदाहरण अपवाद स्वरूप उपलब्ध है जिस पर एक बैठे मेष की आकृति है। यह भाण्ड मसिपात्र सा लगता है। समकालीन मेसोपोटामिया के बर्तनों पर विभिन्न पशुओं की आकृति बनाने का काफी चलन था।

धूसर रंग की मिट्टी से बने बर्तनों की संख्या बहुत थोड़ी है। इन पर काला लेप है और इनमें से कई पर पालिश किये जाने से चमक है। मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में भी इस तरह के बर्तन मिले हैं, पर वे तिथि की दृष्टि से सिंधु सभ्यता से पहले के हैं गुलाबी रंग के पतले मृद्‌भाण्ड बहुत थोड़े से हैं। ये हड़प्पा संस्कृति के बर्तनों से भिन्न आकृति के हैं और शायद बाहर से लाये गये थे।

यहाँ पर सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों के मृद्‌भाण्डों की विशेषताओं का उल्लेख समीचीन होगा। रोपड़ की खुदाई से हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के बर्तनों के समान ही साधार तश्तरियाँ, चंचुंक (बीकर), चपटी थाली, उथले नाँद और छिद्रित बर्तन उपलब्ध हुए हैं। पानपत्र बहुत कम संख्या में मिले हैं और ऊपरी सतहों में तो यह बिल्कुल ही नहीं मिले।

आलमगीरपुर के बर्तनों में आकार-प्रकार में उतनी विविधता नहीं जितनी कि हड़प्पा या मोहेंजोदड़ों के बर्तनों में। कुछ मिट्टी की बड़ी थालियाँ मिली हैं जिनके पेंदे छल्लेदार हैं। डॉ. यज्ञदत्त शर्मा जिनके निर्देशन में यहाँ पर उत्खनन हुआ, के अनुसार इनका प्रयोग आटा सानने के लिए होता था। यहाँ चंचुक (बीकर) तथा छिद्रित बर्तन भी अत्यल्प संख्या में मिले। अंग्रेजी वर्णमाला के 'एस' ('S') अक्षर की आकृति के बर्तन, जो हड़प्पा मोहेंजोदड़ों में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं और जिन पर चित्रण भी मिलता है, इस स्थल पर नहीं मिलते हैं।

सिंधु सभ्यता के मृद्‌भाण्डों के संदर्भ में लोथल और गुजरात के अन्य स्थलों से प्राप्त मृद्‌भाण्डों का साक्ष्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हड़प्पा और

मोहेंजोदड़ों की तरह के मृद्भाण्ड के साथ ही कुछ परिवर्तित और परिवर्धित और कुछ नये प्रकार के मृद्भाण्ड भी उपलब्ध हुए। ये इस बात के द्योतक हैं कि संस्कृति का अंत अचानक नहीं हुआ; समय के साथ और शायद अन्य संस्कृतियों से संपर्क के फलस्वरूप मृद्भाण्डों के आकार-प्रकार में परिवर्तन हुआ।

लोथल में प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के चरण में साधारण तश्तरी, छिद्रित कलश, पानपात्र, चंचुक, छोटे गर्दन वाला कलश, नांद, 'S' आकृति के भाण्ड, बड़े गोल घड़े इत्यादि सिंधु सभ्यता के प्रकार के हैं। अलंकरण के अभिप्राय यथा प्रतिच्छेदी वृत्त, पीपल की पत्ती, मोर इत्यादि भी हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की तरह के ही रहे किन्तु कहीं-कहीं चित्रण की शैली में भेद भी दिखता है। अधिकांश बर्तन लाल रंग के हैं किन्तु कुछ पाण्डु रंग के भी हैं। राव का मत है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने उन्नतोदरे कटोरे, जिनमें कुछ पर हत्थे हैं (फ. XIX, 3) और कुछ पर नहीं, को लोथल के मूलवासियों से लिया, जो सिंधु संस्कृति से पहले वहाँ पर रहते थे।

सिंधु सभ्यता के द्वितीय चरण में सिंधु सभ्यता के कुछ विशिष्ट भाण्ड यथा चंचुक और पानपत्र का चलन समाप्त हो गया तथा बेलनाकार छिद्रित कलश का चलन कम हो गया। कुछ नये प्रकार के भाण्ड यथा नौतली स्कंध वाला कटोरा और ऊँची गर्दन वाला गोल भाण्ड प्रचलन में आये जो क्रमशः उन्नतोदर कटोरा और छोटी गर्दन वाले गोल भाण्ड से विकसित हुए। साधारण तश्तरियाँ अब नौतली नहीं रही और उनका आकार छोटा हो गया। 'स्टड' कटोरे का हत्था कुछ लंबा बनाया जाने लगा। और दीपक का आकार भी बदला। बर्तनों के चित्रण में कुछ सादगी आ गयी। जानवर और वनस्पति का चित्रण पारंपरिक ढंग से होने प्रारंभ हो गये थे। पहले के अपेक्षाकृत क्लिष्ट अलंकरणों के स्थान पर सरल अलंकरण अधिक प्रयुक्त हुए। छाया किये त्रिभुज और अपुष्पपर्ण (frond) का भी प्रयोग रहा। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों से प्राप्त सिंधु सभ्यता के अन्य अलंकरणों का प्रयोग कम मिलता है। पशु-पक्षियों का अपेक्षाकृत विशाल पैमाने पर चित्रण द्वितीय काल की अन्य विशेषता है जो लोथल के मृद्भाण्डों को विशिष्टता प्रदान करता है। इस यथार्थवादी चित्रण का सर्वोत्तम उदाहरण एक बहुत ही कलात्मक रूप से अंकित बारहसिंघे की आकृति है जिसे एक वृक्ष के नीचे दिखाया गया है (फ. XX, 3)। बारहसिंघा की गर्दन बहुत सुन्दर ढंग से बनी है और पेड़ की झुकी शाखा और पत्तियाँ उसके साथ बहुत सुंदर सामंजस्य स्थापित करती हैं। इसी पाण्डु सतह पर चाकलेटी रंग से

चित्रित किया गया है। लोथल के बर्तनों से स्पष्ट है कि सिंधु सभ्यता के बर्तन निर्माण तथा उनके अलंकरण में जो परिवर्तन और परिवर्धन हुए वे इस बात के प्रमाण हैं कि सिंधु सभ्यता के उपकरणों की एकरूपता वाली धारणा आंशिक रूप से ही सही है।

रंगपुर का द्वितीय काल सिंधु सभ्यता का काल था। इस काल के प्रथम-चरण के लाल भाण्ड में तश्तरी व मर्तबान मिले हैं। चंचुक (बीकर) बहुत थोड़ी संख्या में हैं, और चित्रित बर्तन भी कम ही मिले हैं। रंगनाथ राव के अनुसार ये इस बात के द्योतक हैं कि सिंधु सभ्यता के लोग रंगपुर में उस समय आकर बसे जबकि उनकी संपन्नता ह्रासोन्मुखी थी। द्वितीय चरण में जो बर्तन मिले वे भलीभाँति नहीं पकाए गये और छिद्रित बेलनाकार बर्तन का प्रयोग शनैः-शनैः समाप्त हो गया। हड़प्पा काल के तृतीय चरण में उन्नतोदर कटोरे से नौतली कटोरा और बल्ब की आकृति के छोटी गर्दन वाले भाण्ड से ऊँची गर्दन वाले भाण्ड का विकास हुआ। हड़प्पा सभ्यता के आधारयुक्त प्याले से ही विशिष्ट 'चषक' का विकास हुआ। इसी चरण के चमकीले लाल भाण्ड का आविर्भाव हुआ। मोर की आकृति को पारंपरिक ढंग से चित्रित किया गया, तथा बकरे और वृषभ, जिनका चित्रण हड़प्पा सभ्यता तथा मध्य-भारतीय सभ्यता में भी मिलता है, का चित्रण किया गया। अन्य अलंकरणों में विकल्पतः छाया किये वर्ग, आमुख त्रिभुज, छाया किये ईंट के पत्ते की आकृति, लटकन, लहरी रेखाएं और अपुष्प-पर्ण हैं। इस काल में श्वेत रंग से अलंकृत काल और लाल भाण्ड और अधिक प्रयुक्त हुए और 'स्टड' हत्थे वाले अभ्रकी बर्तन का हत्था पहले के काल की अपेक्षा कुछ लम्बा हो गया। इस स्थल के अंतिम काल (तृतीय काल) में चमकीले लाल भाण्ड, तथा काले और लाल भाण्ड अधिक संख्या में बनाये गये।

सुरकोटड़ा (कच्छ) के प्रथम काल के प्रथम चरण में लाल भाण्डों पर काले रंग से चित्रण की विधा का प्रचलन रहा। पीपल की पत्ती, मत्स्य-शल्क, हिरन सारस, तथा बतख का चित्रण सुंदर बन पड़ा है। पानपत्र (अल्प संख्या में), साधारण तश्तरियाँ, छिद्रित भाण्ड, 'चंचुक' आदि सिंधु प्रकार के भाण्ड प्राप्त हुए हैं। लेकिन सिंधु प्रकार से भिन्न बर्तन यथा बहुरंगी (बैंजनी, सफेद और काले) चित्रण वाले, दूधिया लेप वाले, सोथी प्रकार के तथा रिजर्व्ड लेप वाले भाण्ड मिले हैं। अंतिम प्रकार लोथल मोहेंजोदड़ों और भारत से बाहर टेलब्राक में मिले हैं। लोथल के प्रथम काल से प्राप्त सफेद रंग के चित्रण वाले काले और लाल भाण्ड की तरह के भाण्ड इस चरण में नहीं मिलते। प्रथम

काल के द्वितीय चरण में भी भाण्डों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता लेकिन तृतीय चरण में सिंधु सभ्यता के चित्रित भाण्ड, छिद्रित भाण्ड और पानपात्र के साथ ही आहाड़ प्रकार के श्वेत रंग से चित्रित 'काले और लाल भाण्ड' मिले हैं जिनमें कटोरे, तश्तरियाँ और हत्थेदार कटोरे उल्लेखनीय हैं किन्तु यहाँ पर सौराष्ट्र के सिंधु सभ्यता के स्थलों में प्राप्त चमकीले लाल भाण्डों का अभाव है।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में मार्शल के निर्देशन में हुए उत्खनन में परतों का आधुनिक वैज्ञानिक विधि से विभाजन नहीं किया गया था। लेकिन व्हीलर द्वारा 1950 में मोहेंजोदड़ों में किये गए उत्खनन में मृद्भाण्डों व क्रमिक परिवर्तन के कुछ साक्ष्य मिले हैं और यह देखा गया कि परवर्ती चरण में तकनीकी मानक ह्रास हुआ।

एक विकसित सभ्यता के अनुरूप ही सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों में आकार-प्रकार की दृष्टि से पर्याप्त विविधता और विशिष्टता पाई जाती है और उनकी निर्माण-तकनीक भी काफी उन्नत है। इनके निर्माण में उपयोगिता का दृष्टिकोण अधिक और कल्पनाशील कम है। एक बार एक विशिष्ट आकार-प्रकार का निर्धारण हो गया तो फिर कुम्हार उसी तरह के भाण्ड विशाल संख्या में बनाने लगे और बर्तन बनाना कला के स्थान पर व्यवसाय बन गया। लेकिन कुछ भाण्ड सिंधु सभ्यता के कुम्भकारों की कलाकारिता के सुन्दर उदाहरण हैं। मृद्भाण्डों की विशिष्टता के कारण ही, गार्डन चाइल्ड ने यह मत व्यक्त किया कि सिंधु सभ्यता के बर्तन उसे अन्य सभ्यताओं से जोड़ने के बजाय उसके अलग व्यक्तित्व को दर्शाने में अधिक सहायक हैं।

●●●

अध्याय 9

युद्ध संबंधी उपकरण

सिंधु सभ्यता का मूल आधार कृषि तथा व्यापार था। इस तरह का कोई निश्चित प्रमाण उपलबध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस सभ्यता के लोगों ने आक्रमण के बल पर धन-सम्पत्ति एकत्र की थी और राज्य-विस्तार किया। मार्शल, मकाइ आदि पुराविदों का मत है ये लोग युद्ध-विमुख शांतिप्रिय लोग थे। इस तथ्य में कुछ सच्चाई हो सकती है, किन्तु कालांतर में व्हीलर द्वारा की गई खुदाइयों से यह स्पष्ट हो गया कि वे लोग आक्रामक भले ही न हों, अपनी सुरक्षा के प्रति पर्याप्त सजग थे। उन्होंने मोहेंजोदड़ों हड़प्पा, कालीबंगा इत्यादि नगरों की गढ़ियों को विशाल रक्षा-प्राचीरों से सुरक्षित किया था जिसके वास्तुविन्यास के संबंध में विस्तार से इसी पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख किया गया है। इस सुरक्षा दीवार के साथ बुर्ज भी संबद्ध थे। द्वारों की सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध था। सुरक्षा दीवार का मुख्य प्रयोजन आक्रमण से सुरक्षा ही रहा होगा। यों यह बाढ़ से भी बचाव कर सकती थी। कौन जाने शासक वर्ग ने इसका निर्माण निचले नगर के लोगों पर अपनी श्रेष्ठता जताने के उद्देश्य से अथवा किसी संभाव्य आंतरिक विद्रोह से सुरक्षा के उपाय के रूप में भी किया हो। खुदाइयों में प्राप्त कई उपकरण इस तरह के हैं जिनका युद्ध, शिकार या बढ़ईगीरी में से किसी भी कार्य के लिए प्रयोग किया जा सकता था। ऐसी सामग्री बहुत कम प्राप्त हुई है जैसे निश्चयपूर्वक अस्त्र-शस्त्र की श्रेणी में रखा जा सके।

सिंधु सभ्यता के अवशेषों में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं मिली जिसकी पहचान किसी रक्षात्मक अस्त्र, यथा कवच, ढाल अथवा शिरस्त्राण से की जा सकती हो। वैसे बटन जैसी आकृति के कुछ ताँबें के टुकड़े उपलब्ध हुए हैं जिनके बारे में कतिपय विद्वानों का विचार है कि इन्हें शत्रुओं के प्रहार से शरीर की सुरक्षा के लिए सैनिकों की वर्दी में सिल दिया गया होगा।

संभावित अस्त्र-शस्त्रों (आ. 16) में ताँबे और कांसे के भाले, चाकू, बाणाग्र तथा कुल्हाड़ियाँ पायी गयी हैं। कुछ पत्थर के और ताँबे के गदा-सिर तथा मिट्टी की कुछ गोलियाँ मिली हैं। पत्थर के कुछ फलकों का उपयोग दैनिक गृहस्थी के कार्यों के लिए होता रहा होगा, सैनिक उपकरण के तौर पर नहीं।

कुछ ताम्र उपकरणों पर लेख भी मिले हैं। मोहेंजोदड़ों से ताम्र आयुधों की एक निधि प्रारंभिक स्तरों से मिली थी। उसमें से एक उपकरण पर चित्रलिपि में लेख अंकित है। लेखयुक्त ताम्र उपकरण मोहेंजोदड़ों की अपेक्षा हड़प्पा से अधिक पाये गये हैं।

भाले

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा से भाले के जो फल प्राप्त हुए हैं वे लंबे, पतले, चपटे तथा कुछ आदिम प्रकार के हैं। उनके हत्थे लकड़ी के रहे होंगे जो अब नष्ट हो गए हैं इनकी मध्यशिरा मजबूत नहीं है। मकाइ ने सुझाया है कि नोकों को लकड़ी का सहारा दिया गया होगा जो कि मध्यशिरा का काम देती रही होगी। जो लोग कुल्हाड़ियाँ काफी भारी बनाते थे, उन्होंने भालों की नोक इतनी पतली क्यों बनाई, यह बात समझ में नहीं आती। उस काल में बल्कि उससे कुछ पहले भी मेसोपोटामिया और मिस्र में प्रयुक्त भाले कहीं अधिक विकसित प्रकार के थे। सिंधु सभ्यता के भाले चूलदार हैं और इनके उस भाग में, जो दस्ते में जड़ा गया था, छेद है। मूंठ काठ की रही होगी। मोहेंजोदड़ों से बहुत थोड़े से ही भाले के ऐसे फल मिले हैं जिनमें मध्यशिरा है। इनकी तुलना विद्वानों ने सीरिया-फिलस्तीन के लगभग 2200-1650 ई. पू. भालों के फलों से की है। पत्ती की आकृति से मिलते-जुलते भालों का प्रयोग कई संस्कृतियों द्वारा किया गया था। मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर एक कटीले भाले का अंकन है। इससे कुछ मिलते-जुलते भाले का प्रकार ताम्र-निधि संस्कृति के साथ विशेष रूप से पाया जाता है।

कुल्हाड़ियाँ

कुल्हाड़ियों के फाल ताँबे और काँसे के मिले हैं। काँसे की अपेक्षा ताँबे की कुल्हाड़ियों की संख्या अधिक है। लगता है कि पहले कुल्हाड़ियों को सांचे में ढाल फिर ठोंक-पीटकर आवश्यक आकार दिया जाता था। तत्पश्चात् उन्हें रगड़-रगड़ कर समतल किया जाता था जिससे हथौड़े के निशान भी मिट गये। स्वाभाविक रूप से काँसे की कुल्हाड़ियों में ताँबे की कुल्हाड़ियों से अधिक सफाई है। बनावट की दृष्टि से इनके दो प्रकार हैं। (1) लंबी तथा संकरी, (2) छोटी तथा चौड़ी। मध्यपूर्व और निकटपूर्व के देशों की प्राचीन संस्कृतियों में भी ये दोनों प्रकार मिलते हैं।

पहले प्रकार की कुल्हाड़ियों के फाल एक ओर धार वाले हैं। इनमें किनारे की ओर ढलान है। अधिकतर फाल दोहरे ढलान वाले हैं जिसकी किनारे की आकृति अर्धचंद्राकार जैसी है। कुछ के किनारे फैलाव लिए हैं। किन्तु अधिकांश फालों के दो किनारे समानांतर हैं। इनका ऊपरी छोर गोलाई लिए है। जिन फालों की धार कुछ कुंठित या टूट-फूट से खराब हो जाती थी उन्हें आवश्यकतानुसार ठीक कर लिया जाता था। दूसरे प्रकार के फाल के अर्धचंद्राकार किनारे अधिक फैलाव लिए हैं। इस वर्ग की कुछ कुल्हाड़ियाँ नतोदार हैं तथा हत्थे की ओर अधिक संकरी हैं। उन्हें शायद लकड़ी के हत्थे में दरार बना, उसमें कूंद भाग को फंसा उसे रस्सी से बाँध कर प्रयोग किया जाता था। ताँबे के छल्ले नहीं मिले, अतः इस बात की संभावना नहीं लगती है इन्हें छल्लों से हत्थे पर स्थिर किया गया था। इनका उपयोग शिकार, युद्ध या लकड़ी काटने में, अथवा इन सभी कार्यों में हो सकता था।

कुछ छेददार कुल्हाड़ियों की प्रतिकृतियाँ मिट्टी में पायी गयी हैं। हो सकता है इनका उद्गम स्रोत पश्चिमी एशिया रहा हो। कुल्हाड़ी की मिट्टी में प्रतिकृतियाँ मेसोपोटामिया में अल-उबैद काल से मिलने लगती हैं। चन्हुदड़ों से एक ताँबे की छिद्रदार कुल्हाड़ी हड़प्पा संस्कृति के अंतिम स्तर अथवा झूकर संस्कृति के संदर्भ में उपलब्ध हुई है। सिंधु सभ्यता के स्थलों से हत्थे के लिए छेद वाले औजार बहुत कम पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ों से हत्थे के लिए छेद वाला एक कुल्हाड़ा-बसूला मिला (आ. 16, 14) जो सिंधु सभ्यता में अपने ढंग का एक मात्र उदाहरण है। यह सतह से लगभग 2 मी. गहराई में पाया गया।[1] इस तरह के कुल्हाड़ा-बसूले उत्तरी ईरान में हिस्सार III C (जिसकी तिथि विद्वान 2000 से 1000 ई. पू. के बीच मानते हैं) में, और इसका लघु रूप असीरी राजा सालमनेर III (859-324 ई. पू.) द्वारा असुर में बनाये अनुअद्द मंदिर के नींव के नीचे, क्रीट में 2001-1900 ई. पू. स्तर में, और यूक्रेन में लगभग 1500 ई. पू. के संदर्भ में मिले हैं। व्हीलर मोहेंजोदड़ों के कुल्हाड़े बसूले की

---

1. मकाइ इसे सिंधु सभ्यता से बाद के काल का उपकरण मानते हैं। उन्होंने यह भी संभावना व्यक्त की है कि बौद्ध स्तूप के निर्माण के लिए जो परवर्ती काल में सिंधु सभ्यता की ईंटें खोदी गईं उसी सिलसिले में किसी के हाथ से यह उपकरण यहाँ छूट गया। कुछ अन्य विद्वान भी इसे सिंधु सभ्यता की कृति नहीं मानते, किन्तु वे इसे इस सभ्यता के अंतिम चरण में बाहर से आने वाले लोगों द्वारा मोहेंजोदड़ों में लाया गया मानते हैं।

आरेख 16
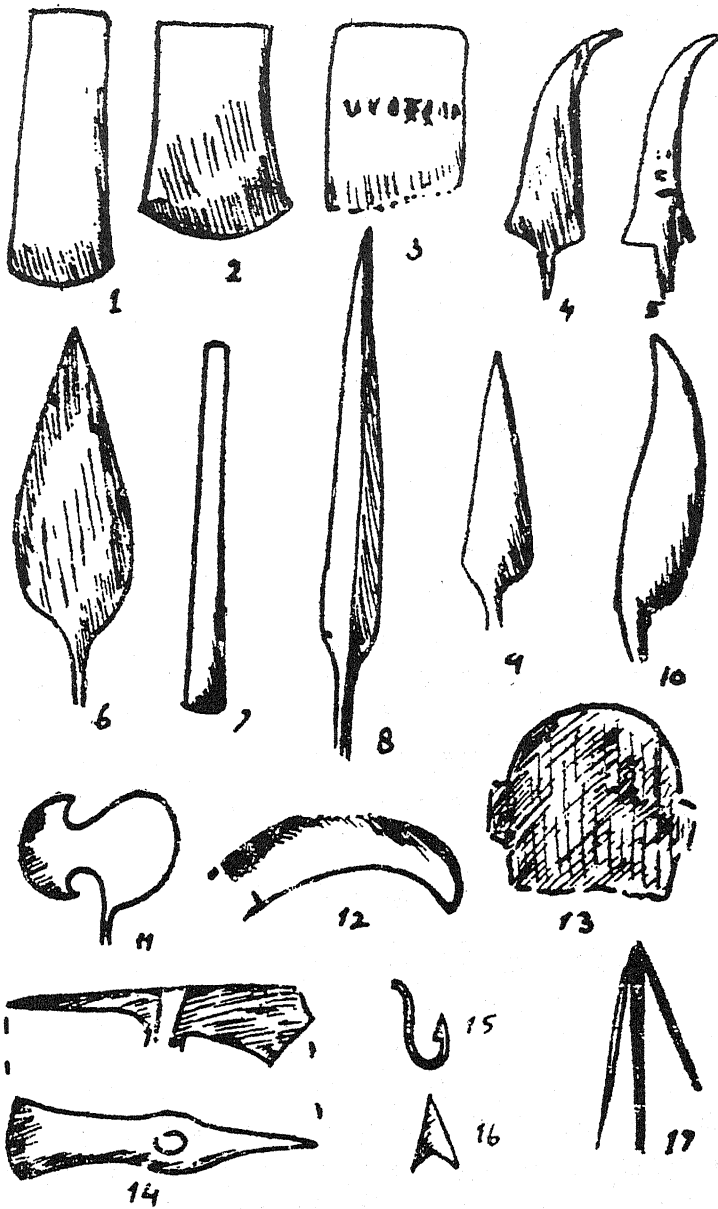
तिथि द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. मानते हैं। वे हाइने गेल्डर्न के मत से सहमत हैं कि यह कुल्हाड़ा-बसूला मोहेंजोदड़ों में व्यापारिक कारणों से नहीं आया बल्कि यहाँ पर नये लोगों के आगमन का द्योतक है।

चाकू

सिंधु सभ्यता के काल के चाकुओं और कटारों की आकृति बहुत कुछ समान है। अतः इनमें प्रभेद करना कठिन है। किसी भी उदाहरण में चाकू की मूँठ नहीं प्राप्त हुई है, लकड़ी की बनी होने के कारण वे नष्ट हो गयी हैं। मोहेंजोदड़ों की खुदाई में मकाइ को एक चाकू प्राप्त हुआ था जिसकी मूँठ चमड़े या किसी अन्य पदार्थ की बनी थी। इसे जिस पदार्थ से जोड़ा गया था उसकी पहचान नहीं हो पायी है। मकाइ द्वारा किया मोहेंजोदड़ों में प्राप्त चाकुओं का वर्गीकरण इस प्रकार है – (1) चौड़े, पत्ती जैसी फाल और लंबी चूल वाले (आ. 16, 6), जो मोहेंजोदड़ों में काफी संख्या में मिले हैं; (2) पत्ती सदृश फाल वाले जिनकी नोक मुड़ी है; (3) संकरे तथा सीधी फाल वाले; (4) ऊपर उठे नुकीले अग्रभाग वाले त्रिभुजाकार, जो मिस्र के छठे राजवंश कालीन चाकुओं से मिलते-जुलते हैं और संभवतः चमड़ा काटने के काम आते थे; (5) संकरे वक्र ध ाार वाले, जिनके सदृश कुछ चाकू मिस्र के छठे राजवंश के संदर्भ में प्राप्त हुये हैं; (6) चौड़े वक्रधार वाले; (7) चूल के पिछला भाग खोखले वाले; (8) काँसे के दोहरे वक्रधार वाले; तथा (9) बड़े, जो कटार की तरह हैं।

तलवार या किर्च

मोहेंजोदड़ों से कुछ दोहरे धार वाले उपकरणों की पहचान तलवार (किर्च) से की गयी है। वे आकार में अच्छे बने हैं और वजन में भारी हैं। दो उपकरण काफी अच्छी दशा में एक मकान में पाये गये। एक सुन्दर उदाहरण ताँबे-काँसे के आयुधों तथा बर्तनों के निधान के साथ मकान के फर्श के नीचे से मिला था। इसमें मूंठ के स्थान पर दो छेद बने हैं जिनसे मूंठ जड़ी गई होगी। तलवार का एक अधूरा उदाहरण भी प्राप्त हुआ है जिसके किनारे कुंद हैं। मकाइ का विचार है कि तलवार का विकास कटार से स्वाभाविक रूप में हुआ था। सबसे पहले किस देश ने इसका निर्माण प्रारंभ किया यह कहना कठिन है। शायद विभिन्न देशों में इस उपकरण का विकास स्वतंत्र रूप से और

अलग-अलग समय में हुआ। सिंधु सभ्यता के संदर्भ में कुछ छोटे आकार की तलवारें मिली हैं जिन्हें कटार की संज्ञा दी जा सकती है।

बाणाग्र (आ. 16, 16)

सिंधु सभ्यता के स्थलों के उत्खननों से बाणाग्र बहुत अल्प संख्या में पाये गये हैं।[1] ये ताँबें के हैं जो पतले और चपटे हैं। थोड़े से लंबे और संकरे कांटेदार बाणाग्र भी मिले हैं। इनमें चूल नहीं हैं। ये बाणाग्र चकमक पत्थर के बने ऐसे बाणाग्रों से मिलते-जुलते हैं जो मिस्र, उत्तरी फारस तथा मिनोअन काल के क्रीट में पाये गये हैं। सिंधु सभ्यता में साधारणतया पत्थर के बने बाणाग्रों का अभाव है। केवल कोटदीजी और पेरियानोघुँडई (उत्तरी बलूचिस्तान) में मिले कुछ बाणाग्र इसके अपवाद हैं। लेकिन विद्वानों का अनुमान है कि सिंधु सभ्यता के जो तांबे के बाणाग्र हैं उनके पूर्वरूप पाषाण के बाणाग्र ही रहे होंगे। सिंधु सभ्यता के इन बाणाग्रों का कुछ भाग उनसे संबद्ध डंडे पर दबा दिया जाता रहा होगा और लकड़ी का यह भाग मध्य शिरा का काम देता होगा।

गदा

गदासिर विभिन्न प्रकार के पत्थरों के बने हैं, जैसे अलाबास्टर-बलुआ पत्थर, चूना पत्थर और स्लेट से मिलता-जुलता पत्थर इत्यादि। तांबे के गदासिरों की संख्या नगण्य है। गदा का उपयोग युद्ध में तो होता ही रहा होगा, जंगल में व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए भी इसके उपयोग की संभावना अस्वीकार नहीं की जा सकती। इनमें दोनों ओर से छेद किया गया था और जिससे काट (सेक्शन) में वह डमरू की तरह दिखता है। ऐसा अनुमान है कि इन्हें चमड़े की रस्सी या डोरी से हत्थे पर कसकर बाँधा जाता था। हत्था शायद लकड़ी का रहा होगा अथवा (जैसे पीट्री ने मिस्र के गदासिरों के संदर्भ में सुझाया है) खाल का। खाल के हत्थे में थोड़ा लोच होने से इसके प्रयोग को कुछ और अधिक प्रभावपूर्ण बना देता रहा होगा। गदाएं वीक्षाकार, नाशपाती की आकृति की, गोल या वृत्ताकार छल्ले की तरह की है। नाशपाती की आकृति के गदासिर एलम, मेसोपोटामिया, मिस्र आदि अनेक प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में मिलते

---

1. मार्शल के निर्देशन में मोहेंजोदड़ों में किये गये उत्खननों में केवल एक ही ताँबें का बाणाग्र मिला था।

हैं। क्रीट, काकेशस, थिसेली और डेन्यूब क्षेत्र से भी इस तरह की आकृति वाले गदासिरों के उदाहरण मिले हैं। वीक्षाकार प्रकार गदासिर का काल और क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और ये अल्प संख्या में सूसा, मिस्र और काकेशस के क्षेत्रों में की गई खुदाइयों में मिले हैं। मेसोपोटामिया में इस तरह के गदासिर नहीं मिलते। तीसरे प्रकार के गदासिर का मोहेंजोदड़ों से एक ही उदाहरण है। हड़प्पा से एक तांबे के बर्तन के भीतर मिला गदासिर इसी प्रकार का है। इसकी ऊँचाई और व्यास 4.57 सेमी. है। आकार में छोटा होते हुए भी यह पर्याप्त वजनी था और इसलिए आयुध के रूप में प्रयुक्त किये जाने के लिए पूर्णतया उपयुक्त था। चन्हुदड़ो से एक कांसे या तांबे का गदासिर मिला है जो या तो हड़प्पा सभ्यता के अंतिम चरण का है या झूकर संस्कृति के काल का। इनकी तुलना ईरान में प्राप्त द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. के इसी तरह के गदासिरों से की जा सकती है।

गोफन-गोलियाँ

पक्की मिट्टी की गोलियाँ और गोले मिले हैं जिन्हें अन्य अस्त्र के रूप में प्रयोग किये जाने की पूरी संभावना लगती है। इन्हें कदाचित् गोफन में रखकर फेंका जाता था। व्हीलर ने इन्हें दो वर्गों में बाँटा है :-

पहले वर्ग में दो आकार की गोलियाँ हैं :- (1) गोल, जिनका व्यास लगभग 2.54 सेमी है, और (2) अंडाकार, जिनकी लंबाई 6.34 सेमी. तक है। इस वर्ग की गोलियाँ अस्त्र की तरह प्रयुक्त हो सकती थीं, यह संदिग्ध है। सिंधु सभ्यता के अतिरिक्त प्राचीन सुमेर और तुर्किस्तान में गोल और अण्डाकार दोनों ही प्रकार की मिट्टी की गोलियाँ मिलती हैं। फिलिस्तीन और सीरिया में भी इनका प्रयोग हुआ। मिस्र में इस तरह के गोलों का प्रयोग अपेक्षाकृत और बाद में हुआ। विद्वानों का अनुमान है कि पहले इस तरह के गोले पत्थर के बनाए गए होंगे और स्वाभाविक है कि उसका उद्गम ऐसा क्षेत्र रहा होगा जहाँ पत्थर पर्याप्त मात्रा में मिलता था। बाद में ऐसे क्षेत्रों में जहाँ पत्थर नहीं था, लोगों ने मिट्टी के गोले बनाने प्रारम्भ किये।

दूसरे वर्ग में ऐसे मिट्टी के गोले हैं जिन्हें पहले हाथ से दबा कर आकार दिया गया है और फिर थोड़ा बहुत आग में पकाया भी गया है। इस तरह के गोलों के अस्त्र की तरह प्रयुक्त होने के बाद में संदेह की गुंजाइश नहीं लगती। वजन की दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है - एक

प्रकार वह जिसका वजन लगभग 6 आउंस और दूसरा प्रकार वह जिसका वजन लगभग 12 आउंस वाले गोले गढ़ी वाले टीले में ही दक्षिण पूर्वी दो बुर्जों को जोड़ने वाले मार्ग में पाये गये। उससे पहले मार्शल के निर्देशन में किये उत्खनन में एक बड़े मिट्टी के बर्तन में इस तरह के पचास के लगभग गोले रखे मिले थे। यह बर्तन गढ़ी वाले टीले के दक्षिणी अर्द्ध के एक कक्ष में रखा था। दक्षिण में इसी क्षेत्र में कुछ बड़े आकार के मिट्टी के गोले मोटे घेरे वाली दीवार के बाहर बिखरे पड़े थे। इनका आकार, निर्माण-वस्तु तथा प्राप्ति स्थल इनके अस्त्र होने का समर्थन करते हैं। इन्हें या तो ये लोग हाथ से ही फेंकते रहे होंगे या ढेलबांस से।

निश्चय ही उपर्युक्त विवरण से सिंधु सभ्यता के अस्त्र-शस्त्रों के बारे में जो जानकारी मिली है उससे यह स्पष्ट होता है कि इस सभ्यता के लोगों ने आर्थिक समृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया, और अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की ओर अपेक्षाकृत उदासीनता बरती।

●●●

अध्याय 10

धातु, पाषाण हाथी दांत इत्यादि के कुछ उपकरण तथा वस्तुएं

उपकरणों के निर्माण के लिए धातु-प्रयोग का ज्ञान मानव की महान प्रगति का परिचायक है।[1] धातु के प्रयोग के ज्ञान ने संस्कृतियों के नागरीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। धातु के बने उपकरण मजबूत तो होते ही हैं, सवे काफी तेज धार वाले बनाये जा सकते हैं और धार के कुंद होने पर उपकरणों को फेंकना नहीं पड़ता, बल्कि उन्हें ठोंक-पीट कर या छिद्र कर पुनः पैना बनाया जा सकता है। जो धातु उपकरण अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गया हो उसे गला कर नया उपकरण भी बनाया जा सकता है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अनुसार ईरान और मध्यपूर्व में धातु का प्रयोग सिंधु सभ्यता से कुछ शताब्दी पहले प्रारंभ हो गया था। कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि धातु के प्रयोग का प्रचलन ईरान से अफगानिस्तान में और तत्पश्चात् बलूचिस्तान और सिंध में हुआ। बलूचिस्तान, सिंध और राजस्थान में प्राग् सिंधु सभ्यता की संस्कृतियों में धातु का प्रयोग ज्ञात था किन्तु सिंधु सभ्यता में धातु के उपकरण उनसे कहीं अधिक संख्या में मिले हैं और उनमें पर्याप्त विविधता भी है।

सिंधु सभ्यता के लोग मोम द्रवी विधि से धातु के उपकरण बनाने, धातु पर पानी चढ़ाने की विधि और धातु-मिश्रण की विधि से भलीभाँति परिचित थे। उनके उपकरण तकनीकी दृष्टि से वहाँ के धातु कर्मकारों की दक्षता के परिचायक हैं। इस सिलसिले में नालीदार बर्मा और दांतेदार आरी का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। निश्चय ही धातुकर्म में दक्षता तभी आ सकती थी जबकि पेशेवर धातु का काम करने वाले लोग रहे होंगे और उन्हें पर्याप्त मात्रा में खनिज प्राप्त होता रहा होगा। और कुछ लोगों का पेशेवर धातुकर्मी होना तभी संभव हो सकता था जबकि वहाँ के कृषक अपनी आवश्यकतानुसार भरण-पोषण के लिए पर्याप्त अनाज से कहीं अधिक अन्न उपजाने लगे हों।

ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के लोग अपने नगरों में तांबे को अयस्क के रूप में नहीं लाते थे। इस सभ्यता के नगरों में न तो अयस्क ही

---

1. धातु की तकनीक के बारे में देखिये धर्मपाल अग्रवाल की कृति Copper Bronze Age in India.

मिले और उनको गलाने के लिए प्रयुक्त भट्ठे ही। संक्षेप में, ताँबा इन रूपों में पाया गया है – (1) अपरिष्कृत ताँबा, (2) परिष्कृत ताँबा, (3) आर्सेनिक मिश्रित ताँबा और (4) टिन मिश्रित ताँबा।

टिन, आर्सेनिक आदि धातुएँ अति न्यून मात्रा में तो खान से ही ताँबें के साथ मिली रही होंगी। किन्तु कुछ उपकरणों में इन धातुओं का मिश्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जो निश्चय ही जानबूझ कर मिलाया गया था। ताँबा एक अपेक्षाकृत कोमल धातु है और टिन आदि के मिश्रण से उसमें मजबूती आ जाती है। उपलब्ध साक्ष्य से पता लगता है कि सिंधु सभ्यता में टिन मिलाकर कांसा बनाने की विधि सभ्यता के प्रथम चरण में से ही ज्ञात थी, लेकिन यह देखा गया है कि टिन का मिश्रण नीचे के स्तरों की अपेक्षा ऊपरी स्तरों में अधिक है। यों अपवाद स्वरूप काफी गहरे निक्षेप से प्राप्त एक कांसे के उपकरण में 22% टिन पाया गया। मेसोपोटामिया और मिस्र में भी काँसे का प्रयोग काफी प्राचीन समय से प्रचलित था।

अग्रवाल धातु मिश्रण का विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कांसे के जो उपकरण मिले हैं उनमें लगभग 14% ही ऐसे हैं जिनमें टिन की मात्रा 8% से 12% तक है। उनकी दृष्टि में यों मजबूती लाने के लिए ताँबें में लगभग 11% टिन मिलाना ही उपयुक्त है। मकाइ के अनुसार तांबे में तीन प्रतिशत टिन के मिश्रण से भी उसके शुद्ध रूप की अपेक्षा बहुत कुछ मजबूती आ जाती है। अग्रवाल ने विभिन्न उपकरणों के रासायनिक विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि या तो सिंधु सभ्यता के लोगों को इस बात का ठीक ज्ञान न था कि अच्छे उपकरण बनाने के लिए तांबे में कितना प्रतिशत टिन मिलाना ठीक रहेगा, या वे इसकी जानकारी होते हुए भी ठीक मात्रा में टिन के मिश्रण को नियन्त्रित नहीं कर सके। उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया कि सिंधु सभ्यता के लगभग 70% उपकरण लगभग शुद्ध तांबे के ही हैं। संभवतः इसका कारण यह था कि टिन उन्हें पर्याप्त मात्रा में सुलभ नहीं था, अन्यथा टिन मिलाकर कांसा बनाने की तकनीक सीखने के बाद भी वे लोग टिन मिलाये बिना तांबे का इतना अधिक उपयोग उपकरणों के निर्माण के लिए नहीं करते। उन्होंने कांसे का प्रयोग मुख्यतः ऐसे ही उपकरणों में किया जिनमें मजबूत धार अपेक्षित थी।

जहाँ तक ताँबे के साथ अन्य धातुओं के मिश्रण करने का प्रश्न है अग्रवाल के अनुसार केवल आठ प्रतिशत उपकरणों में आर्सेनिक, चार प्रतिशत

में निकिल और छह प्रतिशत में शीशे का प्रयोग हुआ है। ताँबे और आर्सेनिक के मिश्रण से बने उपकरण ताँबे की अपेक्षा तो अधिक किन्तु काँसे की अपेक्षा कम मजबूत होते हैं। मकाइ का कहना है कि शायद सिंधु सभ्यता वालों ने ताँबे में आर्सनिक अलग से नहीं मिलाया, वह खान से ही ताँबे के साथ मिला हुआ था। अधिकांशतया धातु के उपकरण जीर्ण-शीर्ण अथवा खंडित अवस्था में मिले हैं।

ताँबे अथवा कांसे की कुल्हाड़ियों, कुल्हाड़ा-बसूला, बरछे, भालों की नोंक, बाणाग्र, चाकू और कटार का विवरण हमने 'युद्ध सम्बन्धी उपकरण' वाले अध याय में; सोने, चाँदी, ताँबे आदि के आभूषणों, मनके, वलय, अंगूठी और दर्पण इत्यादि प्रसाधनोपकरण का विवरण 'परिधान तथा आभूषण' अध्याय में; और तांबे और कांसे की मानव तथा पशु आकृतियों का विवरण पाषाण तथा धातु की मूर्तियाँ वाले अध्याय में दिया है। अतः उनकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नहीं। अन्य प्रकार की कुछ वस्तुओं का विवरण नीचे दिया गया है।

बर्तन

तांबे के कई छोटे-बड़े बर्तन मिले हैं। तांबे के बर्तन बनाने की एक सरल विधि है। धातु की चादर को काटकर उसे ठोंक-पीट कर इच्छित रूप देना। यों कांसे के बर्तनों को भी इस तरह बनाया जा सकता है पर तांबे की अपेक्षा कांसे के बर्तनों को इस तरह बनाना अधिक श्रमसाध्य है। दूसरी विधि है धातु को गलाकर सांचे से बनाना। ताँबा अपेक्षाकृत मुलायम धातु होने के कारण उसके बर्तनों पर दबाव पड़ने पर आसानी से गड्ढे पड़ जाते हैं। काँसे के बर्तनों को बनाने में श्रम भले ही अधिक पड़े, वे तांबे के बर्तनों से कहीं अधिक मजबूत होते हैं। अधिकांश धातु के बर्तनों का आकार-प्रकार मिट्टी के बर्तनों के आकार-प्रकार के अनुरूप है। किन्तु मिट्टी और धातु के बर्तनों के निर्माण में तकनीक का अन्तर होने के कारण धातु में मिट्टी के जैसे बर्तन बनाने में भाण्ड निर्माता को कुछ कठिनाई महसूस होना स्वाभाविक था। अपेक्षाकृत बड़े बर्तनों के निर्माण में सारे बर्तन को एक साथ न बना कर पेंदे को अलग से बनाया गया। कुछ बर्तनों पर मजबूती के लिए मोटा बनाने की इच्छा से बर्तन के पेंदे पर अलग से चादर का टुकड़ा जोड़ दिया गया। कुछ बर्तन ऐसे हैं जिनके अनुरूप मिट्टी के बर्तन नहीं मिले हैं। मकाइ का मत है कि लनकी तरह के मृद्भाण्ड अवश्य रहे होंगे लेकिन वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। कुछ ताँबें और कांसे के बर्तनों के कोर (रिम) ज्यादा पतले हैं, उपयोगिता की दृष्टि से इन्हें इतना पतला बनाना ठीक नहीं कहा जा सकता।

साधारण बर्तनों के अतिरिक्त तांबे की तश्तरियों के ढक्कन, घड़े के ढक्कन, तवा और कुछ बहुत छोटे बर्तन (जिनका प्रयोग अनुमानतः काजल रखने के लिए होता था) इत्यादि भी मिले हैं। एक तांबे के बर्तन के भीतर कार्नीलियन के मनकों की लड़ी और सोने तथा चाँदी के आभूषण मिले। कांसे के भी बर्तन, कटोरे तथा ढक्कन मिले हैं, लेकिन तांबे के बर्तनों की अपेक्षा इनकी संख्या अत्यन्त कम है। बहुत थोड़े से चांदी के भी बर्तन और उनके ढक्कन मिले हैं जिनके भीतर सोने और चांदी के आभूषण मिले। लेकिन जब हम संख्या की दृष्टि से धातु के बर्तनों की तुलना मृद्भाण्डों से करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि धातु के बर्तन अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। मकाइ का मत है कि इस विकसित सभ्यता में धातु के बर्तन काफी रहे होंगे; उनके कम संख्या में प्राप्त होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि जब मोहेंजोदड़ों निर्जन हुआ तो लोग शहर छोड़ते समय अपने साथ कीमती सामान के साथ धातु के बर्तन भी लेते गये होंगे।

आरी

मकाइ के द्वारा किये गये उत्खनन में मोहेंजोदड़ों से दो आरियाँ मिलीं। एक तांबे की है जो लगभग 42 सेमी. लम्बी है। इसके दाँत नियमित फासले पर नहीं हैं। दूसरी आरी कांसे की है, यह लगभग 32 सेमी. लम्बी हैं। तकनीकी दृष्टि से ये दोनों आरियाँ पर्याप्त विकसित हैं और विश्व में झुकाव लिये तथा तिरछे दांत वाली आरियों के प्राचीनतम उदाहरण लगती हैं। मकाइ की धारणा है कि इस तरह की विकसित आरियां रोमनकाल से पहले कहीं और नहीं मिलतीं। मोंहेजोदड़ों से एक अन्य कांसे की आरी मिली है जिसकी लम्बाई 46.5 सेमी. और अधिकतम चौड़ाई 16 सेमी. है तथा मोटाई 1.25 सेमी. है। इसके चूल में दो छेद हैं जिनसे उसे हत्थों से जोड़ा गया था। इसी स्थल से एक और खण्डित आरी मिली है। लोथल से भी एक आरी मिली है जो वक्राकार है और तकनीकी दृष्टि से पर्याप्त विकसित होने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

छेनियाँ

सिंधु सभ्यता में, विशेषतः मोहेंजोदड़ों में, छेनियाँ काफी संख्या में मिली हैं। इनमें से कुछ साँचे से बनी हैं और कुछ को ठोंक-पीट कर ही छेनी का आकार दिया गया है। इनके आकार-प्रकार में पर्याप्त विविधता है। मकाइ ने इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है :-

(1) आयताकार या वर्गाकार काट वाली छेनियाँ; ऐसी छेनियों की मोटाई पूरी लम्बाई में एक सी है।

(2) आयताकार या वर्गाकार काट की छेनियाँ जिनके चूल चपटे हैं।

(3) गोल काट वाली छेनियाँ, इन्हें साधारण छड़ से काट कर बनाया गया है।

(4) छोटी मजबूत छेनियाँ, जिनकी काट गोल, आयताकार या वर्गाकार है, और

(5) छोटी नुकीली छेनियाँ।

पहले प्रकार की छेनियाँ पर्याप्त संख्या में मिली हैं और यह प्रकार कई अन्य प्राचीन संस्कृतियों में भी पाया गया है। इन्हें आयताकार ढाली हुई छड़ों को पीटकर बनाया गया था। कुछ उदाहरणों में उनका सिरा भी पतला है जो हथौड़े से पीट-पीटकर बनाया गया था। शीर्ष और धार वाले भागों को अधिक मजबूत बनाना आवश्यक था क्योंकि छेनी को ठोंकते समय इन्हीं दो हिस्सों पर विशेष जोर पड़ता था। दूसरे प्रकार की छेनियाँ सिंधु सभ्यता की अपनी विशिष्टता है और अन्यत्र नहीं पायी गयी। मकाइ का अनुमान है कि सम्भवतः इसके शीर्ष पर हत्था लगा था और हथौड़े की चोट सीधे छेनी के शीर्ष पर न पड़कर इस हत्थे पर पड़ती थी। किन्तु कुछ इस प्रकार की छेनियों के सिरों पर निशान इस बात के द्योतक हैं कि हथौड़े की चोट सीधे उनके सिर पर की गयी थी। मकाइ का यह भी मत है कि पहले तीन प्रकार की छेनियों का प्रयोग बहुत सख्त वस्तुओं पर नहीं होता था। इनका प्रयोग या तो लकड़ी के काम में या सेलखड़ी जैसे मुलायम पत्थर की वस्तुओं के निर्माण के सन्दर्भ में ही होता था। शेष दो प्रकार की छेनियाँ अपेक्षाकृत अधिक मजबूत थीं।

अन्य वस्तुएँ

सिंधु सभ्यता के सन्दर्भ में तांबे के बने 'सर्जरी सेट', (आ. 16, 17) अंजन लगाने की सलाइयाँ, नहनी, उस्तरा (आ. 16, 11), सूजा आदि मिले हैं। इस सन्दर्भ में लोथल से प्राप्त उस सुई का विशेष उल्लेख करना समीचीन होगा जिसमें नोक की ओर छेद है। तकनीकी दृष्टि से यह एक अत्यन्त विकसित उपकरण है। उस्तरों के लम्बे चूल हैं जिन्हें हत्थे में लगाया जाता रहा होगा। तांबे का एक हसिया का फाल मोहेंजोदड़ों में मिला है। मछली पकड़ने के कांटों को (आ. 16, 15) तांबे की चादर से काट कर फिर ठोंक-पीट कर आकार दिया गया था, लोथल में प्राप्त खांचे वाला बर्मा विशेष उल्लेखनीय है। इसी स्थल से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तक्षणी यन्त्र का भाग भी मिला है।

मकाइ का कहना है कि मोहेंजोदड़ों के ऊपरी सतह में जो ताम्र उपकरणों की निधियां उपलब्ध हुई हैं वे इस बात की द्योतक हैं कि लोगों को इस बात की सूचना थी कि शीघ्र ही बाह्य आक्रमण होने वाला है। लगता है कि उपकरणों को तो उन्होंने गाड़ दिया लेकिन वे अपना जीवन नहीं बचा सके, और ये उपकरण गड़े ही रह गये। यह भी हो सकता है कि लोग किसी संक्रामक रोग के फैलने पर उससे बचने के लिए नगर छोड़कर अन्यत्र चले गये, और किन्हीं कारणों से लौट नहीं सके।

पत्थर के उपकरण तथा वस्तुएँ

पाषाण की मूर्तियों, मनकों, सिल-बट्टों, बाट-बटखरों, हल के फालों (?), छल्लों इत्यादि का कुछ विस्तार से उल्लेख हमने इसी कृति में अन्यत्र किया है।[1] कुछ अन्य पाषाण उपकरणों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

उत्खननों से चकमक पत्थर के शल्क और क्रोड मिले हैं। (फ. XXI, 1) ये दोनों ही प्रकार कई घरों के भीतर से भी मिले हैं। मकाइ ने इससे अनुमान लगाया है कि लोग घरों में क्रोड रखते थे और जैसे ही औजार की जरूरत हुई घर पर ही नौकर या घर का कोई सदस्य क्रोड से शल्क निकाल लेता था। जिन क्रोड से ये शल्क निकले हैं उन्हें शलक निकालने के लिए भलीभाँति तराश कर तैयार किया गया है। इन क्रोडों से शल्क निकालना कठिन कार्य न था। परीक्षण से देखा गया है कि लकड़ी का हथौड़ा ही फलक निकालने के लिए पर्याप्त था। मोहेंजोदड़ों में चकमद पत्थर लगभग 56 मील दूर स्थित सक्कर से लाया गया था। पत्थर के पालिश करने के लिए प्रयुक्त किये गये उपकरण भी मिले हैं। सख्त पत्थर के चमकाने के लिए प्रयुक्त उपकरण भी मिले हैं। उनसे धातु की वस्तुओं को चमकाया जाता रहा होगा। सान के लिए प्रयुक्त पत्थर बहुत कम प्राप्त हुए। इनकी कम संख्या से अनुमान लगाया गया है कि लोग घरों में इस तरह के पत्थर नहीं रखते थे और औजार को तेज करने के लिए धातुकर्मियों के पास ले जाते थे।

---

1. पाषाण-मूर्तियों के लिए 'पाषाण तथा धातु की मूर्तियाँ', मुद्राओं के विवरण के लिए 'मुद्राएं', सिल-बट्टों, बाट-बटखरों और हल के फाल के लिए 'आर्थिक जीवन', तथा छल्लों के लिए 'धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान' अध्याय देखिए।

पत्थर के बने बर्तन मोहेंजोदड़ों में बहुत कम मिले हैं और इनमें से अधिकांशतः मुलायम श्वेत अलाबास्टर पत्थर के हैं। इस तरह का अलाबास्टर पत्थर मोहेंजोदड़ों के समीप ही उपलब्ध था। ये बर्तन अधिकांशतः खंडित अवस्था में मिले हैं। इनमें केवल सूखी वस्तुएँ या बहुत गाढ़े तेल ही रखे जा सकते थे। कुछ तो निश्चय ही प्रसाधन-पेटिका की तरह प्रयुक्त होते थे। मकाइ का अनुमान है कि शायद इन्हें खान पर बनाया जाता था। मोहेंजोदड़ों में हरिताभ धूसर सेलखड़ी के बर्तन का टुकड़ा निम्न स्तर से मिला है। मकाइ का अनुमान है कि मूलतः बर्तन में दो खाने रहे होंगे। इसकी बाहरी सतह पर चटाई का सा डिजाइन है। यह टुकड़ा 5 सेमी. X 3.81 सेमी X 7.5 सेमी. आकार का है। इस टुकड़े पर प्राप्त डिजाइन सूसा की प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त टुकड़े से मिलता-जुलता है। किश में भी इस तरह के बर्तनों के टुकड़े मिले हैं। दो छोटे बर्तन ऐसे पत्थर के बने हैं जो आरोगैनाइट (Aroganite) पत्थर से मिलता-जुलता है। आरोगैनाइट पत्थर प्राचीन मिस्र और सुमेर में काफी प्रयोग में लाया जाता था। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक बर्तन तो मिस्र में प्राप्त बर्तनों से बहुत मिलता-जुलता है। एक फुक्साइट पत्थर का बर्तन मिला है। इस तरह का पत्थर मैसूर में मिलता है और शायद यह वहीं से लाया गया होगा।

काँचली मिट्टी के उपकरण

काँचली मिट्टी का प्रयोग सिंधु सभ्यता में विभिन्न उपकरणों के निर्माण के लिए होता था। यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कांचली मिट्टी बनाने की विधि सबसे पहले किस देश ने ज्ञात की, तथापि उपलब्ध साक्ष्य इसके पक्ष में है कि मिस्र में ही इस विधि का आविष्कार हुआ होगा। मिस्र में राजवंश से पहले के काल में, चतुर्थ सहस्राब्दी ई.पू. में सुमेर में, लगभग तीन हजार ई.पू. में पश्चिमी एशिया के बड़े क्षेत्र में, और तृतीय सहस्राब्दी के मध्य क्रीट में इसका प्रयोग होता था। इसमें पत्थर के चूरे को आटे की तरह सान कर वस्तुएं बनाई जाती थीं और फिर उन पर ग्लेज कर उन्हें पकाया जाता था। सिंधु सभ्यता की कांचली मिट्टी की वस्तुएं साधारणतः सफेद या भूरे पेस्ट की बनी हैं जो शायद भूमिगत लवण या नमी से हल्की नीली या हरी हो गयी हैं। मिस्र में कांचली मिट्टी कैसे तैयार की जाती थी, यह ठीक तरह से ज्ञात नहीं। कुछ का कहना है कि यह स्फटिक (क्वार्ट्ज) पत्थर का चूरा है। सिंधु सभ्यता के लोगों ने इसके लिए सेलखड़ी के चूरे का प्रयोग

किया। मिस्र और सिंधु दोनों सभ्यताओं में ही पत्थर से आकृति बना कर उस पर ग्लेज करने की प्रथा थी। सेलखड़ी से आकृति बनाकर ग्लेज करने की अपेक्षा सेलखड़ी के चूरे से वस्तुएं बनाना अधिक उन्नत तकनीकी ज्ञान का द्योतक है। एक उदाहरण में ग्लेज के ऊपर चित्रण किया गया था।

सिंधु सभ्यता में कांचली मिट्टी से बने विभिन्न जानवरों, यथा भेड़, बन्दर, कुत्ता, गिलहरी की आकृतियाँ बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। कांचली मिट्टी के बने मनके विशाल संख्या में प्राप्त हुए हैं। इस पदार्थ से निर्मित कुछ छोटे आकार के बर्तन भी मिले हैं। ये या तो देवताओं को चढ़ाये जाते थे या फिर इनमें प्रसाधन के लिए कीमती तेल, इत्र इत्यादि रखे जाते थे। ये बहुत सावधानी से बने हैं और आसानी से टूटने वाले हैं, अतः इन्हें बच्चों के खिलौने मानना ठीक नहीं होगा। क्रीट को छोड़कर अन्य प्राचीन सभ्यताओं में कांचली मिट्टी के बर्तन उपलब्ध नहीं। कांचली मिट्टी के थोड़े से उत्खनन भी मिले हैं। कुछ उत्खनन पेस्ट के भी मिले हैं। इनमें से कुछ बर्तनों को अलग टुकड़ों में बनाकर उसे पेस्ट से जोड़ा गया है।

हाथी दाँत और हड्डी के उपकरण

यद्यपि अनेक मुद्राओं पर हाथी का चित्रण है, जिससे इन पशु से सिंधु सभ्यता के लोगों के भलीभाँति परिचित होने और उनके काफी संख्या में होने की सम्भावना लगती है, फिर भी सिंधु सभ्यता में हाथीदांत की बनी वस्तुएं अपेक्षाकृत कम हैं। मोहेंजोदड़ों की अपेक्षा हड़प्पा में ये अधिक मिली हैं। इनके कम मिलने के कारण के बारे में मकाइ ने यह अनुमान लगाया है कि शायद हाथी पवित्र माना जाता था और इसलिये लोग हाथी दांत की प्राप्ति के लिये उसे मारते नहीं थे और केवल इसके मरने के बाद ही जो हाथी दांत उपलब्ध हो पाते थे उन्हीं का उपयोग होता था। पर ऐसी सम्भावना कम है। हाथीदांत निर्मित कुछ वस्तुएं तो काफी अच्छी दशा में मिली हैं लेकिन कुछ क्षतिग्रस्त हैं। मोहेंजोदड़ों के 'एल' (L) क्षेत्र में एक खंडित हाथीदांत के फलक, जो लगभग 4.86 सेमी. लम्बा 2.55 सेमी. चौड़ा और 1 सेमी. मोटा है, के मुख-भाग में एक पुरुष आकृति बायीं ओर मुख किये है, उसके हाथ कमर पर हैं। यह पुरुष बहुत कुछ मुद्राओं में अंकित मानवाकृति वाले लिपिचिन्ह के समान है। यह एक टोपी पहने है और एक छोटा लंगोटा। उसकी पीठ पर धनुष जैसी वस्तु है। हाथी दाँत की कुछ ऐसी वस्तुएं मिली हैं जो सम्भवतः किन्हीं धार्मिक

अनुष्ठानों में प्रयुक्त होती थीं। हाथीदांत की कंघी भी मिली है। कुछ बेलनदार लेखयुक्त हाथीदांत की कृतियाँ शायद मुद्राएँ थीं। बालों पर लगाने की पिनें और सुइयाँ भी बहुत अल्प संख्या में मिली हैं। हाथी दांत के कुछ हत्थे भी हैं। हाथी दाँत की पैनी नोक वाली मोटी सुई की तरह के उपकरणों का प्रयोग भोजपत्र जैसी वस्तु पर लिखने के लिए भी हो सकता था। मोहेंजोदड़ों से हड्डी की बनी सुइयों जैसे उपकरण प्राप्त हुए हैं। हिरन के सींग के ही अत्यल्प संख्या में हत्थे भी उपलब्ध हैं।

शंख

सिंधु सभ्यता के लोगों को शंख अपार मात्रा में उपलब्ध था और यद्यपि इसकी भंगुरता के कारण इसकी वस्तुएँ बनाना हाथीदाँत की अपेक्षा कुछ कठिन होता है, पर कुछ मानों में यह उपकरणों के निर्माण के लिए हाथीदांत से भी उपयुक्त वस्तु है। सिंधु सभ्यता के कारीगर शंख से वस्तुएँ बनाने में अत्यन्त दक्ष थे। मोहेंजोदड़ों के 'एल' क्षेत्र में अनेक स्थलों पर थोड़ी संख्या में पूरे और आधा काम किये शंख पाये गये जिससे स्पष्ट है कि वहाँ पर शंख का काम होता था। शंख की मुख्यतः चूड़ियाँ व मनके बने हैं। उत्खनन के लिए भी शंख का प्रयोग होता था। उत्खनन हेतु पंखुड़ियाँ (जो फूल के डिजाइन का अंग रही होंगी), सीढ़ीनुमा डिजाइन, क्रास डिजाइन, फुल्लिका, हृदय की आकृति का डिजाइन, पत्ती आदि डिजाइन मिलते हैं। शंख के बड़े चमचे काफी संख्या में प्राप्त हुए। मेसोपोटामिया में भी इस तरह के चमचे मिले हैं। शंख के तश्तरी की जैसी आकृति के बहुत थोड़े बर्तन भी हैं। सुमेर में इस तरह के बर्तन अपेक्षाकृत अधिक मिले हैं। लोथल से शंख का बना उपकरण मिला है जिसकी पहचान एक दिशामापक यन्त्र के रूप में की गयी है। यह बेलनाकार और अन्दर से खोखला है। उसके छोरों पर चार दरारें हैं। इस उपकरण की सहायता नगर-निर्माण में भवनों तथा नालियों की सीध बाँधने में और भूमि की पैमाइश में ली जाती रही होगी।

●●●

अध्याय 11

धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान

सिंधु सभ्यता काल के धार्मिक जीवन से संबंधित कोई साहित्यिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। जानकारी के सभी स्रोत पुरातत्व संबंधी हैं। मुद्राओं, मृद्‌भाण्डों आदि पर जो लेख मिले हैं, वे पढ़े नहीं जा सके हैं। धार्मिक जीवन के संबंध में ज्ञान प्राप्ति के पुरातात्त्विक स्रोतों में मूर्तियाँ, मुद्राएं, मृद्‌भाण्ड, पत्थर तथा अन्य पदार्थों से निर्मित लिंग और चक्र की आकृतियाँ, ताम्र फलक, कुछ विशिष्ट भवन तथा कब्रिस्तान मुख्य हैं। सिंधु सभ्यता जैसी विकसित सभ्यता में धार्मिक कर्मकाण्डों के साथ-साथ दार्शनिक विचार धाराएं भी रही होंगी। किन्तु पुरातात्त्विक स्रोतों से धर्म के गूढ़ तथा दार्शनिक पक्ष का उद्‌घाटन नहीं हो सकता, केवल तत्कालीन लोकप्रिय धार्मिक विश्वासों तथा मान्यताओं पर ही कुछ प्रकाश पड़ता है; और इस संबंध में भी जो मत विद्वानों ने व्यक्त किये हैं वे सब अनुमान पर आधारित हैं और विवादास्पद हैं। तत्कालीन धर्म के स्वरूप का अनुमान लगाने के लिए दो मुख्य आधार हैं - एक समकालीन अथवा लगभग समकालीन मेसोपोटामिया का साक्ष्य और दूसरा ऐतिहासिक काल का भारतीय साक्ष्य। सिंधु सभ्यता के लोगों और सुमेरी तथा तत्कालीन अन्य संस्कृतियों के लोगों में परस्पर व्यापारिक संबंध थे और उन्होंने एक दूसरे की संस्कृति तथा धर्म को भी प्रभावित किया होगा। चूँकि प्राचीन मेसोपोटामिया के लेखों की लिपि पढ़ लिए जाने के कारण वहाँ पर उस समय प्रचलित धर्म के विषय में बहुत कुछ निश्चित जानकारी प्राप्त है, अतः लिखित साक्ष्यों के अभाव में सिंधु सभ्यता के अवशेषों का मेसोपोटामिया के अवशेषों के संबंध में प्राप्त हुई जानकारी से तुलनात्मक अध्ययन सिंधु सभ्यता के लोगों के धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालने में सहायक सिद्ध हो सकता है। परम्परा की कड़ियाँ मजबूत होती हैं, वे कठिनाई से मिटती हैं। अतः जब हम पुरैतिहासिक काल के अवशेषों में ऐतिहासिक कालीन मूर्तियों के जैसे कुछ लक्षण पाते हैं अथवा धार्मिक आख्यानों का कुछ प्रतिरूप देखते हैं तो उनके एक ही धार्मिक परम्परा पर आधारित होने की संभावना मानना स्वाभाविक सा है। दूसरे शब्दों के ज्ञात (ऐतिहासिक काल के) साक्ष्य से हम अज्ञात (पुरैतिहासिक काल) के बारे में अनुमान लगा सकते हैं। किन्तु इस तरह के साक्ष्यों पर आधारित निष्कर्ष निश्चित नहीं कहे जा सकते, और उन पर मतभेद होना स्वाभाविक है। सिंधु सभ्यता के उद्‌घाटन से पूर्व अधिकांश विद्वानों की यह धारणा रही है कि भारतीय धर्म और संस्कृति के

अन्य क्षेत्रों में जो भी अच्छी और महत्त्वपूर्ण बातें हैं वे सब आर्यों की देन हैं और अनार्यों का संस्कृति के निर्माण में अत्यल्प और महत्त्वहीन योगदान रहा है, और उनके इस योगदान में बर्बर तथा निम्नकोटि के तत्त्व ही अधिक हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसका खण्डन भी किया था और उन्होंने हिन्दू-धर्म के कुछ महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वासों को अनार्यों की देन माना था, तथापि निश्चित साक्ष्यों के अभाव में उनके मत की पुष्टि न होने के कारण यह मत अधिकांश लोगों को ग्राह्य नहीं हो सका था। अतः सिंधु सभ्यता के विभिन्न उपकरणों से उस काल के धर्म का स्वरूप निर्धारण करना इस संदर्भ में और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

हड़प्पा संस्कृति में ऐसा कोई भवन नहीं मिला है जिसे सर्वमान्य रूप से मंदिर की संज्ञा दी जा सके। जबकि समकालीन मेसोपोटामिया के उत्खननों में मंदिर के अनेक निश्चित और महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं। व्हीलर का कहना है कि मोहेंजोदड़ों के उत्खात क्षेत्र में दो या तीन ऐसे भवन हैं जो मंदिर हो सकते थे। 'एच आर' क्षेत्र में एक आयताकार घर, जो छोटा किन्तु सुदृढ़ और महत्त्वपूर्ण है, में प्रवेश के लिए द्वार और दो सीढ़ियाँ हैं। इस भवन में दो पत्थर की मूर्तियाँ मिली थीं। उन्होंने उसी क्षेत्र स्थित एक भवन को पुरोहितों का 'कालेज' और उसके समीप स्थित भवन के मंदिर होने की संभावना व्यक्त की है। मोहेंजोदड़ों के गढ़ी में जिस स्थान पर परवर्ती (कुषाण) काल में स्तूप का निर्माण किया गया वह संभवतः सिंधु सभ्यता के समय में भी पवित्र स्थल रहा हो, और इस धारणा के आधार पर उसके नीचे प्राचीन धार्मिक भवन के अवशेष मिलने की संभावनाएँ व्यक्त की गई हैं। किन्तु जब तक इस स्थल पर उत्खनन द्वारा नीचे की परतों को उद्घाटित नहीं किया जाता तब तक इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। यह भी सुझाव दिया गया है कि उस काल के मंदिर लकड़ी के बने थे, जो अब नष्ट हो गये हैं। लेकिन यह तर्क बहुत प्रभावशाली नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा सभ्यता के लगभग सभी क्षेत्रों में परम्परा और रूढ़िवादिता का प्रभाव दिखता है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि सिंधु सभ्यता का शासन तंत्र भी प्राचीन मेसोपोटामिया (जहाँ के बारे में निश्चित अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं) के समान ऐसे शासक द्वारा चलाया जाता था जो शासन के साथ ही धर्म का सर्वोच्च अधिकारी था। यदि यह धारणा सही है तो धार्मिक क्रिया-कलापों और अनुष्ठानों का इस सभ्यता में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक था। उत्खननों से कोई मूर्ति ऐसी नहीं मिली है जिसे निश्चयपूर्वक देवता की मूर्ति कहा जा सके। वैसे

कुछ ऐसी मूर्तियाँ हैं जिन्हें धार्मिक उद्घोषित किया गया है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर सिंधु सभ्यता के लोगों के बारे में जो भी अनुमान लगाये गये हैं, उनका विवरण निम्नलिखित पृष्ठों में दिया गया है।

भारत में पुराकाल से ही जल की पवित्रता का विशेष महत्त्व रहा है। शुभ तिथियों और पुनीत अवसरों पर तीर्थ-स्थान पुण्य कर्म माना जाता रहा है। केवल दैनिक स्नान ही नहीं अपितु दिन में दो-तीन बार स्नान करने का विधान शास्त्रों में मिलता है। साधारणतया प्रत्येक महत्त्वपूर्ण मन्दिर के साथ एक तालाब भी जुड़ा रहता है। मोहेंजोदड़ों के उत्खननों में मोटी दीवालों से बनी विशाल तथा सुदृढ़ इमारत मिली जिसे 'विशाल स्नानागार' नाम दिया गया है। इसके आँगन में जो कुण्ड है उसका प्रयोग कदाचित् धार्मिक पर्व में विशिष्ट व्यक्तियों के स्नान-कार्य के लिए होता था। इस भवन के चारों ओर कुछ अन्य इमारतें और स्नानागार थे। स्नानागारों के ऊपर भी एक मंजिल थी। कुछ पुराविदों का अनुमान है कि यहाँ पुजारी लोग निवास करते थे और विशेष अवसरों पर ही स्नान के लिए नीचे उतरते थे। जैसा कि मार्शल ने लिखा है, 'स्नान का जितना प्रबन्ध सिंधु सभ्यता में किया गया था उतना शायद ही विश्व के किसी प्राचीन सभ्यता में रहा हो।' यह सही है कि अधिकांश मेसोपोटामिया के मन्दिरों के पास भी एक कुआं पाया गया है जो इस बात का द्योतक है कि मन्दिरों में लोग हाथ-पांव धोकर प्रवेश करते थे, लेकिन सिंधु सभ्यता में तो स्नानकक्ष हर घर का आवश्यक अंग था। विद्वानों का मत है प्रत्येक घर में स्नानकक्ष का निर्माण केवल स्वच्छता के कारण ही नहीं किया गया था बल्कि इसके पीछे धार्मिक भावना भी अन्तर्विष्ट रही होगी।[1]

हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों, चन्हुदड़ो इत्यादि स्थलों की खुदाई में मिट्टी की अनेक नारी आकृतियाँ उपलब्ध हुई हैं (फ. XI, XII)। वे प्रायः पंखाकार शिरो-भूषा, कई-कई लड़ी वाले हार, चूड़ियाँ, मेखला तथा कर्णाभरण पहने हैं। पंखाकार शिरोभूषा के दोनों ओर दायें-बायें दीपक जैसी आकृतियाँ बनी हैं जिनमें कालिख लगी मिली है। कालिख इस बात का द्योतक लगती है कि इनमें दीप-बाती या धूप जलाई गई होगी। मकाइ का मत है कि सम्भवतः इनमें तेल

---

1. ऋग्वेदिक युग में नदियों का लोगों के जीवन में पर्याप्त महत्त्व रहा। वे इन्हें 'विश्वस्य मातराः' मानते थे। इसी ग्रन्थ के 'नदीसूक्त' में गंगा, यमुना, सिंधु, नर्मदा, कावेरी आदि नदियों का उल्लेख है। परवर्ती काल में सिंधु क्षेत्र में जल-पूजा का विशेष प्रचलन रहा है; यहाँ पर एक सम्प्रदाय 'दरियापंथी' था जो 'नदी पूजक' थे।

बाती डालकर इनका प्रयोग दिये की तरह किया गया होगा। यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिक काल में मूर्ति को ही दिया की तरह प्रयोग की प्रथा नहीं मिलती। यह धारणा कि ये धब्बे मूर्ति पर घी जैसी किसी चीज के लगाने से पड़े हैं इसलिए ठीक नहीं मालूम देता कि ऐसे धब्बों का लम्बे समय तक मूर्ति के भूमि में दबे रहने के कारण बने रहना कठिन था! किसी-किसी मूर्ति में नारी आकृति के साथ शिशु भी दिखलाया गया है। मकाइ का कहना है कि ये मूर्तियाँ दीवारों के आलों में रखकर पूजी जाती थीं। उनका पृष्ठ भाग सफाई के साथ न बना होना इस बात का द्योतक है कि वह भाग दिखलायी नहीं देता था, और यह भी मकाइ के उपर्युक्त मत की पुष्टि करता है। जैसे मकाइ ने व्यक्त किया है, जन साधारण के लिए मातृदेवी की पूजा पुरुष देवताओं की अपेक्षा अधिक सहज है क्योंकि माँ के रूप में वह अन्य देवताओं की अपेक्षा, भक्त के अधिक निकट हो सकती है। प्रायः सभी विद्वान सिंधु सभ्यता काल की अधिकांश नारी मृण्मूर्तियों को मातृ-देवी की मूर्तियाँ मानते हैं।

जिन मृण्मूर्तियों में गर्भिणी नारी का रूपांकन है उन्हें पुत्र-प्राप्ति हेतु चढ़ाई गई उद्देशिक भेंट माना जा सकता है। चन्हुदड़ों से प्राप्त इस वर्ग की मूर्तियाँ विशेष आकर्षक हैं। इनमें से कुछ मृण्मूर्तियाँ मात्र खिलौने के लिए भी अभिप्रेत हो सकती थीं।

बलूचिस्तान स्थित कुल्ली नामक स्थान में पायी गयी नारी मृण्मूर्तियों में सौम्य रूप मिला है लेकिन बलूचिस्तान की ही झोब संस्कृति की नारी मृण्मूर्तियों में रौद्र रूप व्यक्त हुआ है। ये मृण्मूर्तियाँ मातृ-देवी के सौम्य तथा रौद्र रूप की परिचायक लगती हैं। अफगानिस्तान के मुण्डीगाक से प्राप्त मूर्तियों तथा हड़प्पा संस्कृति की मृण्मूर्तियों में पर्याप्त साम्य है। ये विशेष सुन्दर नहीं हैं और सौम्य रूप की परिचायक लगती हैं। भारत के बाहर प्राचीन एलम, मेसोपोटामिया, ट्रान्स-काकेशिया, एशिया-माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, क्रीट, बाल्कान और मिस्र में विशाल संख्या में प्राप्त हुई नारी आकृतियाँ इस बात के प्रमाण हैं कि पुराकाल में पश्चिमी एशिया, मिस्र आदि देशों में मातृदेवी की उपासना प्रचलित थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि एशिया-माइनर के अनातोलिया क्षेत्र से ही मातृदेवी की पूजा का प्रारंभ हुआ है।

जैसा कि पुराविद् मार्शल का मत है, भारत में मातृदेवी की मान्यता की जड़ें बहुत गहरी हैं। आज भी ग्राम देवता के रूप में अधिकाँशतः मातृदेवी ही प्रतिष्ठित मिलती है। आदिम भारतीय जातियों और अधिकांश ग्रामीणों के धर्म में मातृदेवी की उपासना सर्वोपरि है और उनमें उनकी पूजा के लिए पुजारी का

काम ज्यादातर पिछड़ी जाति के लोग करते हैं, ब्राह्मण नहीं। उसे प्रकृति और सृष्टि की अनादि शक्ति और पुरुष की सहचारिणी के रूप में मान्यता प्राप्त है। वैदिक काल में 'पृथ्वी', 'अदिति' आदि देवियों का उल्लेख है लेकिन वैदिक काल में मातृदेवियों की संख्या और उनका महत्त्व इतना नहीं था जितना कि इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि पुरुष देवताओं का। बाद में शाक्त धर्म में देवी को सृष्टिकर्त्री तथा विनाशकर्त्री कहा गया है और यह धारणा दृढ़ होती गयी कि वही पुरुष के साहचर्य से विश्व की सृष्टि करती है। वह अत्यन्त अतीत युग से 'शक्ति' के रूप में पूजनीय है। दुर्गा, गौरी, पार्वती, काली तथा चामुण्डा उसी के विभिन्न रूप हैं। शाक्तों के अनुसार वह प्राण-शक्ति है, जिसके बिना जीवन संभव नहीं। शिव भी बिना देवी की शक्ति के शव मात्र हैं। सिंधु सभ्यता में भी इस तरह की कोई धारणा थी, यह कहना अत्यन्त कठिन है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि मिस्र, फिनीशिया, एशिया-माइनर और अन्य देशों की प्राचीन संस्कृतियों में देवी के सहचर की कल्पना की गयी है जिसकी सृष्टि भी देवी स्वयं करती है। क्या पता समकालीन सिंधु सभ्यता में ऐसे ही देवी के सहचर की धारणा रही हो।

यह कहना कठिन है कि उस काल में मातृदेवी की पूजा स्वतंत्र रूप से होती थी अथवा किसी देवता की शक्ति के रूप में। वैसे इन आकृतियों के वक्षस्थल के निरूपण के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि अधिकांशतः कुमारी के रूप में ही उसकी पूजा की जाती थी। अन्य समकालीन सभ्यताओं में देवी की पूजा पुरुष देवता की सहधर्मिणी या माता के रूप में प्रचलित थी। अधिकांश पुराविदों का विचार है कि आर्यों ने भी (जिनके देवशास्त्र में देवियों का स्थान पुरुष देवताओं की अपेक्षा गौण है) प्राग् आर्य लोगों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप मातृदेवी को एक महान देवता के रूप में अपना लिया।

मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ मुद्राओं के अध्ययन से भी पृथ्वी या मातृदेवी की उपासना पर प्रकाश पड़ता है। हड़प्पा से प्राप्त एक अभिलेख युक्त मुद्रा पर दाहिनी ओर स्त्री सिर के बल खड़ी है। उसकी योनि से एक पौधा प्रस्फुटित होता दिखलाया गया है। बायें ओर दो बाघ हैं। इस चित्रण में संभवतः मातृदेवी की प्रजनन शक्ति वाले स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह आकृति पृथ्वी देवी की हो सकती है जो कि संपूर्ण वनस्पति जगत की उत्पत्ति का आधार है। ऐसी धारणा से प्रेरित मातृदेवी के उदाहरण मेसोपोटामिया से भी उपलब्ध हैं। भीटा के एक कुषाणकालीन गोल चपटे फलक

पर जिसमें नारी के शरीर से पुष्प निकलता दिखलाया गया है, इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई लगती है। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त मुद्रा के दूसरी ओर एक नारी और पुरुष दिखाए गए हैं। पुरुष के हाथ में हसिया जैसी कोई वस्तु है। स्त्री बैठी है और उसके हाथ ऊपर उठे हैं तथा बाल बिखरे हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष बैठी हुई स्त्री का वध करने वाला है। मार्शल का सुझाव है कि कदाचित् यह मुद्रा के दूसरी ओर दिखाई गई पृथ्वी देवी को बलि दिये जाने का अंकन है।

मोहेंजोदड़ों तथा हड़प्पा से विभिन्न पदार्थों से बने चक्र (फ. XXV, 1) विशाल संख्या में पाये गये हैं। इनका व्यास 1.27 सेमी. से 1.21 मीटर तक है। बड़े चक्र पत्थर के हैं तथा छोटे पत्थर, काँचली मिट्टी शंख तथा कार्नीलियन के। कुछ चक्रों का निचला हिस्सा चपटा है, ऊपर चतुर्पन्नी है, और कुछ के ऊपर और नीचे की सतह नतोन्नत है। हेनरी कजिन्स के अनुसार इनका उपयोग संभवतः स्तंभों के शीर्ष भाग को अलंकृत करने में किया जाता था। बड़े चक्रों के लिए तो ऐसा सोचा जा सकता है किन्तु कुछ चक्र तो इतने छोटे हैं कि उनका स्तम्भ के शीर्ष के रूप में उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। कुछ विद्वान इस तरह के चक्रों को पाषाण मुद्रा होने का सुझाव देते हैं। पाषाण-मुद्रा प्रचलन के साक्ष्य कुछ आदिम सभ्यताओं में अवश्य मिलते हैं किन्तु सिंधु जैसी विकसित नगर सभ्यता में, जिसका व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध सुदूर देशों के साथ था और जिसके निवासी सोना, चाँदी, ताँबा आदि अनेक धातुओं का विभिन्न वस्तुओं के निर्माण के लिए प्रयोग करते थे, विनिमय के लिए पाषाण-मुद्रा अपनाये जाने की संभावना कम लगती है।

पाषाण एवं अन्य पदार्थों से निर्मित बीच में छेद वाले चक्र भारत में अतिप्राचीन काल से देवी शक्ति से संपन्न माने जाते हैं। मौर्य और शुंग काल के पाषाण-चक्र लक्षशिला, रोपड़, अहिच्छत्रा, मथुरा और पाटलिपुत्र आदि अनेक ऐतिहासिक स्थानों से पाये गये हैं। इनमें से कुछ चक्रों पर वृक्षों या पशुओं के साथ-साथ नग्न नारी आकृतियाँ दिखाई गई हैं। संभवतः इनका संबंध भी मातृ-देवी की उपासना से था। यह चक्र योनि के प्रतीक भी हो सकते हैं। यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि आरेल स्टाइन को बलूचिस्तान के पेरियानों-घुंडई नामक स्थल में योनि का यथार्थ अंकन मिला है जो इस बात का द्योतक है कि पुरैतिहासिक काल में योनि का यथार्थ तथा प्रतीक दोनों रूप में ही अंकन होता था। हो सकता है कि सिंधु सभ्यता के कुछ चक्र स्तम्भ-शीर्ष की तरह प्रयुक्त होते रहे हों किन्तु जिन चक्रों का इस तरह का कोई उपयोग

नहीं सुझाया जा सकता उनका धार्मिक महत्त्व स्वीकार करना ही समीचीन लगता है और इन्हें प्रजनन शक्ति का प्रतीक मानना गलत न होगा। आज शैव मन्दिरों में लिंग-योनि की संयुक्त आकृतियाँ स्थापित की जाती हैं, किन्तु यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि हड़प्पा सभ्यता के संदर्भ में लिंग और योनि एक दूसरे से संबद्ध नहीं मिलते।

मोहेंजोदड़ों के उत्खननों से एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा (मार्शल, सं. 420) की उपलब्धि हुई (फ. XVI, 1) जिससे हड़प्पा संस्कृति के लोगों के धार्मिक विश्वास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। इस मुद्रा पर एक पुरुष आकृति अंकित है जो त्रिमुखी लगती है। वह योगासन में एक चौकी पर बैठी है। उसके सिर पर सींग की सी आकृति बनी है। कलाई से कंधे तक उसकी भुजाएं चूड़ियों से लदी हैं। मार्शल के अनुसार उसका वक्ष कवच से आवृत्त है। आकृति के दायी ओर हाथी और बाघ तथा बायीं ओर गैंडा और महिष हैं। आसन के नीचे दो हिरण दिखलाये गये थे जिनमें से एक की आकृति खंडित है। मुद्रा पर लेख भी हैं जो पढ़ा नहीं जा सका है। मार्शल इस अंकन को 'शिव पशुपति' का प्राग् रूप मानते हैं।

साहित्य में शिव को 'त्रिवक्त्र' एवं 'त्रिशीर्ष' कहा गया है। ऐतिहासिक काल में शिव की मूर्तियाँ तीन, चार अथवा पाँच मुख वाली बनायी जातीं थी। उनको त्रिनेत्र भी दिखाया जाता है। ये 'त्रयम्बक' भी कहलाते हैं। 'त्रिक्' की कल्पना मेसोपोटामियाँ और भारत में प्राचीन काल से प्रचलित थीं। मेसोपोटामिया में सिन, शमेश और इश्तर तथा अनु, इनिल और इअ तिकड़ियाँ थी।

आकृति को योगासान में दिखलाया जाना महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक काल में देवताओं में मुख्यतया शिव ही योगी के रूप में विख्यात हैं। वह 'महातप', 'महायोगी', 'योगीश्वर', 'योगाध्यक्ष' कहे गये हैं। भारत में दैवी शक्ति प्राप्त करने के अनेक माध्यम माने गये हैं जिनमें मानसिक अनुशासन तथा ध्यान-समाधि का विशेष महत्त्व होता है। शैव धर्म के मुख्य तत्त्व तथा योग दोनों ही प्राग् आर्य-कालीन विशेषताएं प्रतीत होती हैं, जो आगे चलकर भारतीय धर्म एवं दर्शन के महत्त्वपूर्ण अंग हो गये।

शिव योगीश्वर होने के साथ-साथ पशुपति भी कहे जाते हैं। वैदिक काल में रुद्र-शिव, वन्य तथा पालतू पशुओं के देवता थे। मिनिआन-क्रीट की कलाकृति में एक देवी और एक देवता को जिसकी पहचान ठीक से नहीं हो सकी है, सिंह अथवा चीते के साथ अनेकशः दिखलाया गया है। अनातोलिया में सिबेल (Cybele) देवी को भी सिंहों के साथ दिखाया गया है। कुछ के

अनुसार मोहेंजोदड़ों की मुद्रा पर प्राप्त चार पशु चार दिशाओं के द्योतक हो सकते हैं, और प्रतीकात्मक रूप से देवता को चारों दिशाओं का स्वामी दिखाना अभीष्ट हो सकता है। संदर्भ में अशोक के सारनाथ स्तंभ के शीर्ष की चौकी पर अंकित चार पशुओं-हाथी, घोड़ा, बैल और सिंह की प्रतीकवाद से तुलना की गई है और यह भी संभावना व्यक्त की गई है कि संभवतः उपर्युक्त सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर शिव को भी चार मुख वाला दिखाने की चेष्टा की गई है; तीन मुख तो लगते ही हैं, और चतुर्थ मुख के पीछे की ओर होने की कल्पना करनी पड़ेगी। बाघ को आक्रामक मुद्रा में शिव की ओर झपटते हुए अंकित किया गया है। हिरणों को छोड़कर बाकी पशुओं के अंकन में भी यही हिंसा भावना दिखाना अभिप्रेत लगता है। महायोगी समाधिस्थ आसीन है। इस पुस्तक के प्रथम लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व सुझाया था कि क्या पता इस काल में, बाद के काल की भाँति, शिव से संबंधित कोई ऐसा आख्यान रहा हो जिसमें शिव की आक्रामक पशुओं पर विजय की बात हो जिसके उपलक्ष में उन्हें 'पशुपति' नाम से विभूषित किया गया हो, और बाद में शिव भक्तों ने पशुपति का दार्शनिक अर्थ किया हो जिसके अनुसार सभी मानव पशु हैं और शिव उनके स्वामी हैं।

शृंग का भी शिव के साथ संबंध है। महाभारत में शिव को 'त्रिशृंग शीर्ष' कहा गया है। बंगाल में शिव की कुछ मूर्तियों में शिव के हाथ में सींग का एक वाद्य यंत्र दिखाया जाता है। मोहेंजोदड़ों की कुछ मृण्मूर्तियों में भी शृंग दिखलाया गया है। हड़प्पा की मुद्राओं पर शृंगयुक्त आकृति का अंकन है। सुमेर तथा बेबीलीन में शृंग देवत्व का सूचक माना जाता था। मानव रूप में जन्म लेने के पहले देवता पशु रूप में होते हैं, ऐसी धारणा पुराकाल में कुछ देशों में प्रचलित थी। इसी परम्परा की अभिव्यक्ति उनकी मूर्तियों में भी हुई है। मार्शल का अनुमान है कि संभवतः इसी दो सींग के अभिप्राय को परवर्ती काल में शिव के त्रिशूल का रूप दे दिया गया। (अगर दोनों सींगों के बीच में एक नोंक और हो तो त्रिशूल की आकृति बन जाती है)। ऐसा भी मत है कि कालांतर में बौद्धों ने त्रिक् के भाव को त्रिरत्न के रूप में व्यक्त किया।

इस मुद्रा पर आसन के नीचे हिरण युग्म का होना कम महत्त्व का नहीं है। मध्यकालीन योगदक्षिणा मूर्तियों में शिव हिरण पकड़े दिखलाये गये हैं। हिरण युग्म को बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन मूर्तियों में भी दिखलाया गया है।

इस प्रकार मोहेंजोदड़ों की इस मुद्रा पर शिव की ऐतिहासिक कालीन कुछ विशेषताओं का अंकन हुआ लगता है, और इसीलिए मार्शल ने इसे

ऐतिहासिक शिव पशुपति के प्राग् रूप की संज्ञा दी। उस युग में यह देवता किस नाम से जाना जाता था, यह ज्ञात नहीं।

यद्यपि अधिकांश विद्वानों ने मार्शल की धारणाओं से सहमति प्रकट की है तथापि कुछ ने इससे भिन्न मत भी प्रकट किये हैं। सैलेतोरे ने इस आकृति को अग्नि पहचाना है। राय चौधरी का कहना है कि पशुओं में शिव के वाहन वृषभ की अनुपस्थिति के कारण इस आकृति की पहचान शिव (पशुपति) से करना समुचित नहीं है। उनके अनुसार शिव-पशुपति का प्राग् रूप हिताइत देव-मंडली में प्राप्त है। हिताइत लोगों के प्रमुख देवता तेशुव वैदिक रुद्र की भाँति ही हैं; वह आंधी से संबंधित हैं, वृषभारूढ़ और त्रिशूल-धारी है। उनकी पत्नी हेयत, शिव-पत्नी दुर्गा की भाँति त्रिशूलधारिणी और सिंहवाहिनी हैं।

इस आकृति की पहचान के संबंध में केदारनाथ शास्त्री का मत सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार मुद्रा पर जो आकृति उभारी गई है वह तीन मुखी तो है ही नहीं मानवमुखी भी नहीं है। उनके अनुसार यह महिष-सिर वाला देवता है। इसके अंग अलग-अलग पशुओं के हैं। इसकी भुजाएं कनखजूरे और पैर सर्प से बने हैं। इनका धड़ बाघ का और सिर महिष का है। उनके अनुसार इस देवता को विभिन्न पशुओं के अंगों से बनाने की कल्पना का आधार यह था कि भक्त लोग देवता को इन सभी पशुओं की विशेषताओं से युक्त देखना चाहते थे और उससे उन गुणों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना करते थे। वे इस संदर्भ में यह भी उल्लेख करते हैं कि ऐतरेय ब्राह्मण में रुद्र को अत्यन्त भयानक तत्त्वों से बना हुआ बताया गया है। टी.एन. रामचन्द्रन ऋग्वेद के एक मंत्र के आधार पर इसे सोम की आकृति के रूप में पहचानते हैं। ऋग्वेद में सोम के विषय में लिखा है कि यह देवताओं में ब्रह्मा है, कवियों में श्रेष्ठ, ऋषियों में ऋषि, पशुओं में महिष और पक्षियों में बाज हैं। रामचन्द्रन के अनुसार मोहेंजोदड़ों की इस मुद्रा पर अंकित देवता को ऋग्वेद में पशुपति, अधिक मुख वाले होने के कारण ब्रह्मा और भैंस के सींग के कारण महिष कहा है। हर्बर्ट सुल्लिवान का कहना है कि संभवतः आकृति पुरुष की नहीं, नारी की है। उनके अनुसार इस मुद्रा पर नारी आकृति को पशुओं से घिरे दिखाने का उद्देश्य संभवतः मातृदेवी को पशु-जगत की स्वामिनी दिखाना था। लेकिन यदि उनका यह तर्क मान लिया जाय कि इसमें आकृति ऊर्ध्वलिंग नहीं दिखायी गयी है, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि नारी के विशिष्ट अंग भी इसमें स्पष्ट रूप से नहीं दिखलाये गये हैं। कुछ विद्वानों ने इसकी पहचान विश्वरूप त्वाष्ट्र से की है जिसका

विवरण ऋग्वेद (10.99.6) में है और जिसमें उसे तीन सिर और छह आंख वाला बताया गया है। दीनबन्धु पाण्डेय ने इस आकृति को ऋग्वेद में संदर्भित श्रृंग शिरोभूषण धारण करने वाले विषाणिनों का देवता मानने का सुझाव दिया है।

मोहेंजोदड़ों से प्राप्त दो अन्य मुद्राओं पर भी इससे मिलती-जुलती आकृतियाँ हैं। इनमें से एक (आरेख 9.6) में देवता चौकी पर योगासन मुद्रा में बैठें हैं, हाथ दोनों ओर फैलाये हैं और हाथों में कई चूड़ियाँ पहने हैं। शिरोभूषा के रूप में एक टहनी है जिससे पीपल जैसी पत्तियाँ निकलती दिखाई गई हैं। आकृति त्रिमुखी है, एक मध्यवर्ती और दो पार्श्ववर्ती मुख हैं। दूसरी (मकाइ न. 235) मुद्रा पर की आकृति भी श्रृंगयुक्त है तथा उसके सिर से वनस्पति निकलती दिखायी गयी है लेकिन वह एकमुखी है और भूमि पर बैठी है। इन आकृतियों की वनस्पति के देवता होने की संभावना है, और शिव का भी वनस्पति जगत से बहुत कुछ संबंध रहा है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है। यों उपर्युक्त इन दोनों आकृतियों और 'शिव पशुपति' की आकृति में पर्याप्त समानता है, यथा तीनों लंगोट जैसे वस्त्र पहने हैं और शेष शरीर नग्न है, तीनों हाथों में कई कंगन पहने हैं, तीनों श्रृंगयुक्त हैं। किन्तु केवल दो के ही सिर से वनस्पति निकलती दिखाई गई है। दो त्रिमुखी हैं, एक एकमुखी। कालीबंगाँ के एक मृत्पिड पर एक ओर सींग वाले देवता का अंकन है; दूसरी ओर मानव द्वारा बलि के लिए लाई बकरी को दिखाया है। यह भी शिव जैसे किसी देवता का अंकन लगता है।[1] हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा (वत्स नं. 307) में एक देवता जैसी आकृति के शिरोभूषा में तीन पंख जैसी आकृति दिखाई गई है। यह भी कई भुजबंध पहने हैं। यहीं से प्राप्त एक अन्य मुद्रा (318) में भी देवता की इसी तरह की शिरोभूषा है। मोंहेजोदड़ों की एक मुद्रा (मकाइ नं. 347) पर एक आकृति है जो आधा मानव आधा बाघ है। इसके सींग हैं जिनके बीच से फल और पत्ती निकल रही है। चोटी भी है। अगर आकृति पुरुष की है तो यह भी 'शिव' का प्रागूरूप हो सकता है।

हड़प्पा की एक मुद्रा पर मध्य में कोई आकृति बैठी हुई अंकित है जो

1. सांकलिया इस सिलसिले में यह संभावना व्यक्त करते हैं कि हिसार (ईरान) में सोने के श्रृंगयुक्त सिर और कोटदीजी, गुमला और बुर्जाहोम के बर्तनों पर वृषभ के सिर का अंकन कालीबंगाँ के इस श्रृंगयुक्त शीर्ष वाली आकृति के पूर्व रूप हो सकते हैं।

किसी देवता की लगती है। एक पेड़ भी दिखाया गया है जिस पर बने मचान पर एक आदमी बैठा है। पेड़ के नीचे बाघ है। इस मुद्रा की दूसरी ओर एक बैल त्रिशूल के सम्मुख खड़ा है। फिर एक खड़ी आकृति एक काष्ठ (?) की इमारत के सामने दिखाई गई है। बैठी आकृति की पहचान शिव से की गई है। बैल उसका वाहन है, त्रिशूल उसका आयुध तथा इमारत उसका पूजा गृह है। खड़ी आकृति भी शायद उसी देवता का अंकन है।

मोहेंजोदड़ों से प्राप्त मिट्टी की एक मुद्रा पर योगासीन मानवाकृति के दोनों ओर एक-एक पुरुष खड़े अंकित हैं। पुरुष हाथ जोड़े है, उनके शरीर के पीछे सर्प के फन दिखाए गए हैं। ये पुरुष नाग देवता हो सकते हैं। ऐतिहासिक काल में शिव का संबंध सर्पों के साथ अनिवार्य रूप में मिलता है। नागोपासना भी संभवतः प्रागार्यकालीन भारत में प्रचलित थी जिसे कालान्तर में सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप शैव धर्म में भी स्थान मिल गया।

एक ताम्र फलक पर पत्तों के बने वस्त्र पहने पुरुष हाथ में धनुष बाण लिए अंकित है (आ. 9, 4)। यह वनस्पति या उत्पादिका शक्ति से संबंधित देवता हो सकता है। ऐतिहासिक काल में शिव के किरात रूप की भी कल्पना की गई है जिसमें उन्हें शिकारी के रूप में दिखाया गया। हो सकता है कि ऐतिहासिक काल की इस धारणा के पीछे प्रागैतिहासिक काल की कोई परम्परा नहीं हो। वैसे मार्शल ने इस आकृति के बारे में कहा है कि यह मेसोपोटामिया के आख्यानों के गिल्गामेश का भी अंकन हो सकता है। लेकिन वे इसके बारे में निश्चित नहीं हैं। एक मुद्रा पर एक व्यक्ति बर्छे से भैंसे पर वार कर रहा है। मकाइ के अनुसार यह बाद की शिव द्वारा दुँदुभी राक्षस को मारने के आख्यान से मिलते-जुलते आख्यान का द्योतक हो सकता है। जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने तुलना के लिए इस संदर्भ में मार्कण्डेय पुराण में वर्णित दुर्गा द्वारा महिषासुर वध का वर्णन उद्धृत किया है।

आज शिव की विभिन्न प्रकार की मानवाकृतियाँ निर्मित्त होती हैं, लेकिन मंदिरों में पूजा के लिए शिव की मूर्ति नहीं अपितु शिवलिंग की स्थापना की जाती है। मार्शल का कहना है कि यह निर्धारित करना कठिन है कि सिंधु सभ्यता में शिव की पूजा मानव रूप में की जाती थी अथवा पूजा के लिए उनके प्रतीक का ही प्रयोग होता था।

सिंधु सभ्यता की सींगवाली पुरुष मृण्मूर्तियाँ देवता की परिचायक लगती हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि एक समय ऐसा था जब देवता को पशु के

रूप में पूजा जाता था। कालान्तर में जब उन्हें मानव रूप में दिखाया जाने लगा तो पशु के सींगों को देवता के परिचायक के रूप में बनाये रखा गया और मानव आकृति के साथ उन्हें संबद्ध कर दिया गया। लिंग के समान आकृतियाँ बलूचिस्तान और हड़प्पा संस्कृति के मोहेंजोदड़ों, हड़प्पा तथा लोथल इत्यादि स्थानों से पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुई हैं (फ. XXV, 2, 3)। ये पत्थर, सीप, कांचली मिट्टी और पेस्ट की बनी हैं। ये विभिन्न आकार की हैं जिनकी ऊँचाई लगभग 1.27 सेमी. से लेकर लगभग 1 मीटर तक है। बड़े आकार के लिंग पत्थर के बने हैं। कुछ तो लिंग का यथार्थवादी मूर्त रूप हैं। ये इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि भारत में प्रागैतिहासिक काल में लिंग पूजा प्रचलित थी। बहुत से तो परम्परागत ढंग से बने लिंग लगते हैं। आज अधिकांश लिंग परम्परागत शैली में ही बनते हैं जो वास्तविक लिंग की आकृति से काफी भिन्न होते हैं। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ऑरल स्टाइन को बलूचिस्तान के मोगल घुंडई नामक पुरैतिहासिक स्थल से लिंग का यथार्थ रूपांकन मिला है। सिंधु सभ्यता के कुछ लिंगों के नीचे के हिस्से में छेद दिखता है और मार्शल का सुझाव है कि शायद नीचे की ओर के इस छिद्र की सहायता से लिंग को योनि से जोड़ा गया होगा। आजकल तो लिंग को योनि के ऊपर ही बनाने की प्रथा है। विद्वानों का यह भी मत है कि कुछ छोटे आकार के क्षिगों को ताबीज की तरह शरीर पर बांधा जाता रहा होगा। लेकिन पारंपरिक लिंग की तरह के छोटे-छोटे उपकरणों में से कुछ शतरंज की तरह के किसी खेल की गोटियाँ भी हो सकती हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह निर्धारित करना कठिन है कि लिंग की पूजा शिव पूजा का ही अंग थी या स्वतंत्र रूप से प्रचलित थी। वैसे पाषाणपूजा की परम्परा भारत तथा इतर देशों में अति प्राचीन है। कुछ पाषाणों को उनके विशिष्ट आकार-प्रकार के कारण आदि काल से ही लोगों द्वारा धार्मिक महत्त्व दिया जाने लगा था। बाद में उन पर देवी-देवताओं और मृतकों की आत्माओं का निवास मान लिया गया और उन्हें जीवन्त भी समझा गया। यह धारणा प्रचलित रही है कि मानव द्वारा पूजे जाने पर ये उनके खेतों में फसल की रखवाली करते हैं और मानव तथा पशुओं के स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं। आज भी पत्थर शलिग्राम के रूप में विष्णु लिंग के रूप में शिव और योनि के रूप में देवी के प्रतीक माने जाते हैं। ऐतिहासिक काल में लिंगों का वर्गीकरण अनेक धार्मिक ग्रंथों में मिलता है और प्राकृतिक रूप में प्राप्त लिंग की सी आकृति वाला पत्थर स्वयंभू लिंग कहा गया है।

सफेद सेलखड़ी का एक धड़ जिसका विस्तृत विवरण 'पाषाण तथा धातु की मूर्तियाँ' अध्याय में दिया गया है, धार्मिक महत्त्व का लगता है। उनके नेत्रों का अधखुला होना और दृष्टि नासिका पर केन्द्रित होना उसके योगी होने का परिचायक है और शाल पर तिपतियाँ अलंकरण भी (जो धार्मिक अभिप्राय लगता है) उसे धर्म से सम्बद्ध करता है। कुछ विद्वान इसे योगी की मूर्ति मानते हैं, कुछ देवता की और कुछ पुजारी की।[1]

वृक्ष-पूजा

ऐतिहासिक काल की भाँति सिंधु सभ्यता युग में भी वृक्ष पूजा प्रचलित थी। मार्शल ने विभिन्न मुद्राओं पर चित्रित वृक्षों से अनुमान लगाया है कि ऐतिहासिक कालीन लोगों के समान सिंधु सभ्यता के लोग वृक्षों को दो तरह से पूजते थे – एक तो उसकी जीवन्त रूप में कल्पना कर और दूसरे प्राकृतिक रूप में। भरहुत और साँची की कला में भी इन दोनों ही रूपों में वृक्षों को दिखाया गया है। सिंधु सभ्यता के अवशेष ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस सभ्यता में भी वृक्ष पूजा प्रचलित थी। एक मुद्रा (फ. XVII, 3) पर एक देवता को एक वृक्ष की शाखाओं के मध्य खड़ा अंकित किया गया है। देवता नग्न हैं, उसके बाल लंबे हैं, उसके सींग त्रिशूल की आकृति के हैं और वह भुजवध पहने हैं। उसके सामने एक व्यक्ति (उपासक या लघु-देवता) हाथ जोड़े बैठा है। उसके भी बाल लम्बे और सिर पर सींग है। इसके पीछे एक मिश्र पशु है जिसकी मुखाकृति पुरुष की, शरीर का कुछ भाग बकरी का तथा बाकी भाग बैल का है। इसके बाद सात नारी आकृतियों की एक कतार है। नारी आकृतियाँ घुटनों तक वस्त्र पहने हैं। उनके केश लंबे हैं और सिर के पीछे लटक रहे हैं। सिर पर वृक्ष की टहनियाँ हैं, जो पीपल की लगती हैं। पीपल अति प्राचीन काल से पवित्र वृक्ष माना जाता रहा है। ये सात नारी आकृतियाँ ऐतिहासिक काल की 'सप्तमातृका' की याद दिलाती हैं। यों मकाइ ने इस मुद्रा के अंकन के संदर्भ में शीतला देवी और उनकी छह बहनों का उल्लेख किया है। मानव सिर वाली पशु आकृति देवता और भक्त के मध्यस्थ के रूप में हो सकती है। लेकिन टी.एन. रामचन्द्रन इसे अग्नि देवता की पूजा से संबद्ध मानते हैं। मकाइ का मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक अन्य

---

1. टी.एन. रामचन्द्रन की पहचान इन सबसे भिन्न है। उनके अनुसार यह वैदिक यज्ञ करने वाले राजा की आकृति है जिसमें वह यज्ञ के अवसर के उपयुक्त सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहने हुए हैं।

मुद्रा का विवरण इस प्रकार है – दायें एक शृंगयुक्त आकृति है जो हाथ में कंगन पहने है। यह आकृति दो पीपल के वृक्षों के मध्य है। बायीं ओर मालाओं से अलंकृत बकरा है। इसके पीछे एक दूसरी शृंगयुक्त आकृति है जो हाथ में कंगन पहने है। यह आकृति दो पीपल के वृक्षों के मध्य हैं। बायीं ओर मालाओं से अलंकृत बकरा है। इसके पीछे एक दूसरी शृंगयुक्त देवता (देवी?) की आकृति है। शायद इस अंकन में वृक्ष देवता का ही निरूपण है। मेसोपोटामिया की संस्कृति में पशुओं के देवता और उपासक के बीच मध्यस्थ होने की धारणा प्रचलित थी। कुछ का यह भी मत है कि उसे पशु को बलि दिये जाने के संदर्भ में पहचानना चाहिए; लेकिन जैसा वत्स ने कहा है, यदि पशु को बलि के निमित्त दिखाना होता तो उसे बंधा हुआ दिखाया गया होता। एक अन्य मुद्रा (आ. 9, 1) पर पीपल वृक्ष के दो तनों के संगम स्थान से एक शृंगी पशु का सिर निकलते दिखाया गया है। ऊपर सात नारी आकृतियों के संदर्भ में पीपल वृक्ष का उल्लेख आ चुका है। अन्य मुद्राओं तथा मृद्भाण्डों पर भी पीपल वृक्ष दिखाया गया है। एक मृण्मुद्रा पर एक वृक्ष है जो पदार्थ के साथ संबद्ध है, जिसके सिरे पर पशु का सिर है और सींगों के बीच से वनस्पति निकलती दिखायी गयी है। वृक्ष ऊँचे चबूतरे पर दिखाया गया है। यहाँ पर एक भैंसे द्वारा एक मनुष्य उछाला जाता दिखाया गया है। शायद यह भैंसा इस वृक्ष का रक्षक था। एक दूसरी मुद्रा पर भी उसी तरह का पूजा पदार्थ है जो वृक्ष और नुकीले स्तंभ से संबद्ध है। इसके साथ ही दो बकरे हैं और दो व्यक्ति भी दिखाये गये हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा-छाप पर पीपल की टहनी को मेहराब की आकृति में झुका दिखाया गया है और इस मेहराब के भीतर देवता दिखाया गया है जो जांघिया जैसा वस्त्र पहने हैं और जिसके सिर से मोर की कलगी की तरह तीन नुकीली वस्तुएँ निकली दिखाई गई हैं।

एक अन्य मुद्रा पर दो व्यक्ति अंकित हैं जिनमें से प्रत्येक के हाथ में एक-एक पेड़ है। ऐसी संभावना व्यक्त की गई है कि मुद्रा पर इस अंकन के पीछे महाभारत में उल्लिखित कृष्ण द्वारा यमलार्जुन वृक्ष को उखाड़ कर उनकी आत्मा मुक्त करने जैसी कहानी रही हो। यह भी हो सकता है कि वृक्षों को देवता की पूजा में रोपा जा रहा हो। वृक्षों की पूजा प्राकृतिक रूप में भी की जाती थी। इस मुद्रा के दूसरी ओर एक झुका व्यक्ति एक पेड़ (जो नीम-सा लगता है) की पूजा कर रहा है। कुछ वृक्षों (जैसे पीपल) को वेदिका से वेष्ठित दिखलाया गया है। ऐतिहासिक काल में सिक्कों पर वेदिका वेष्ठित वृक्ष का अंकन अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। पीपल की पवित्रता आज तक वर्तमान है।

इसकी परिक्रमा की जाती है। बहरीन द्वीप की खुदाई में प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में प्राप्त पत्थर के वृत्ताकार अवशेषों को कुछ विद्वानों ने खजूर वृक्ष के लिए बनाया गया घेरा माना है। उनका मत है कि मध्य पूर्व और कुछ अन्य क्षेत्रों में भी खजूर के वृक्ष का पर्याप्त धार्मिक महत्त्व था। मोहेंजोदड़ों के 'एच आर' क्षेत्र के एक भवन के पास 1.22 मीटर व्यास का घेरा मिला। अन्यत्र भी इस सभ्यता में इस तरह के घेरे मिले हैं जो वृक्षों की पवित्रता के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पुत्र-प्राप्ति हेतु इसकी पूजा आज भी की जाती है। पितरों के तर्पण के लिए इन पर मिट्टी के बर्तनों में पानी रखा जाता है। पीपल के नीचे बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। प्राचीन मेसोपोटामिया में ज्ञान-तरु और जीवन-तरु की धारणा विद्यमान थी। आज वृक्षों को जीवन्त मानने का बड़ा साक्ष्य यह है कि लोग प्रतीक रूप में उनका विवाह भी करते हैं, और कभी तो प्रतीक रूप में कुछ जातियाँ कन्या का विवाह किसी पुरुष से करने से पहले उसका वृक्ष से विवाह रचाते हैं। यह कहना कठिन है कि यही धारणा सिंधु सभ्यता के काल में भी थी। जिस पारंपरिक शैली में पीपल का चित्रण सिंधु सभ्यता के काल में हुआ है। वह बेबीलोन में प्राप्त 'जीवन-तरु' के चित्रण की शैली से मिलती-जुलती है। इस संदर्भ में एक मुद्रा (मार्शल, संख्या 387) में किये गये अंकन का उल्लेख समीचीन होगा जिसमें कि पीपल के वृक्ष की टहनी को दो एक-शृंगी पशुओं के संयुक्त सिर से निकलता हुआ दिखलाया गया है। मार्शल ने सुझाव दिया है कि शायद एक शृंगी पशु उस समय पीपल देवता का वाहन माना जाता था। मृद्भाण्डों पर पीपल की पत्तियों का चित्रण मिला है। जिन अन्य वृक्षों के चित्रण बर्तनों और मुद्राओं पर मिले हैं उनमें नीम और बबूल उल्लेखनीय हैं।

पशु-पूजा

वृक्ष-पूजा की अपेक्षा सिंधु सभ्यता में पशु-पूजा के अधिक साक्ष्य उपलब्ध लगते हैं। यह साक्ष्य मुद्राओं और उनकी छापों, मिट्टी, कांचली मिट्टी और पत्थर के उपकरणों के माध्यम से हम तक पहुँचे हैं। पशु दो तरह के दिखाये गये हैं – वास्तविक और काल्पनिक। केवल एक शृंगी पशु का चित्रण ही ऐसा है जिसके बारे में विद्वानों में मतभेद है कि यह वास्तविक पशु का अंकन है या काल्पनिक पशु का।

मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृति में मानव-मुखी सिंहों को देवता का रूप माना जाता था। कीलाकार अभिलेखों में इन्हें देवता कहा गया है। सिंधु

सभ्यता की कुछ मुद्राओं पर मिश्र जीवों का अंकन है (XVI. 4, 5, 6)। जिन पशुओं के अंगों के समाकलन से मिश्र पशु आकृतियाँ बनायी गयी हैं उनमें भैढ़ा, बकरा, बैल, बाघ और हाथी प्रमुख हैं। इनमें से कुछ मिश्र-जीवों की मुखाकृति मानवीय लगती हैं।[1] हो सकता है कि इनमें दो या अधिक शक्तियों का समन्वित रूप दिखाने का आशय रहा हो।[2] यह भी संभव है कि जिन मुद्राओं पर इस तरह के जानवर रूपांकित हैं वे ताबीज की तरह भी प्रयोग में लाये जाते रहे हों। शायद मिश्र पशुओं की मूर्तियों को पूजा-ठौर पर रखकर उनकी पूजा की जाती रही होगी। संभवतः मिश्र पशु आकृतियाँ पहले अलग-अलग रूप में पूजे जाने वाले पशुओं का धार्मिक सहिष्णुता एवं धार्मिक एकता के फलस्वरूप बाद में सम्मिलित रूप से पूजे जाने का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। मुखाकृति को मानवीय दिखाना इस बात को इंगित करता है कि देवताओं को पशु रूप में दिखाने की परम्परा से उन्हें मानव रूप में दिखाने का विकास होने लगा था।

एक मुद्रा (मार्शल सं. 382) में एक शृंगी पशु के तीन सिर दिखाये गये हैं। इसमें सबसे नीचे के सींग भैंसे के और बीच और ऊपर के सिर सींग बकरे के हैं। एक दूसरे उदाहरण में एक शृंगी पशु के शरीर से निकले तीन सिरों में सबसे नीचे वाला भैंसे का, उसके ऊपर वाला एक-शृंगी पशु का और उसके ऊपर बकरे का है। एक अन्य मुद्रा में तीन बाघों के शरीर एक दूसरे में गुंथे हुए दिखाए गए हैं (फ. XVI, 7)।

मोहेंजोदड़ों से मकाइ को एक ऐसी मुद्रा मिली है। जिस पर एक-शृंगी पशु और गैंडे के शरीर के अवयवों का समाकलित रूप है। इसका शरीर तो एक-शृंगी पशु का है किन्तु कान, सींग और पैर गैंडे के हैं। इनके आगे भी उसी तरह का अभिप्राय दिखाया गया है जैसे एक-शृंगी पशु के आगे मिलता है।

मोहेंजोदड़ों की कुछ मुद्राओं पर अर्ध-मानव अर्ध-पशु आकृति को शृंगयुक्त

---

1. इस संदर्भ में ऐतिहासिक काल के साहित्य एवं कला में शिव के प्रमथों और गणों का उल्लेख करना समीचीन होगा जिन्हें कभी मानवमुखी और पशु शरीर वाला दिखाया जाता है। इसी तरह गरुड़, गंधर्व, किन्नर, कुम्भाण्ड आदि को भी मानव और पशु के समाकलित रूप में साहित्य में वर्णित और कला में अंकित किया गया है।

2. ऊपर उस मुद्रा के संबंध में, जिसे मार्शल ने 'शिव-पशुपति' की संज्ञा दी है, केदार नाथ शास्त्री की इस धारणा का उल्लेख किया जा चुका है कि इस मुद्रा पर अंकित आकृति एक ऐसी मिश्र आकृति है जिसके अवयवों को भिन्न-भिन्न पशुओं अथवा उनके अवयवों जैसा बनाया गया है।

बाघ पर आक्रमण करते अंकित किया गया है (फ. XVI, 6)। सुमेरी धर्मगाथा में एक ऐसा आख्यान मिलता है जिसके अनुसार गिल्गामेश को पराजित करने के लिए देवता ने आधा-मानव आधा दैत्य शरीर धारी इंकिडू उत्पन्न किया, किन्तु उसने गिल्गामेश को पराजित करने के बजाय उससे मित्रता कर ली और वह उसके साथ मिलकर जंगली जानवरों से लड़ते दिखाये जाने की परम्परा सिंधु सभ्यता से काफी पहले से प्रचलित थी। कुछ विद्वान् इसे मेसोपोटामिया की संस्कृति का धर्म के क्षेत्र में सिंधु संस्कृति पर प्रभाव का सूचक मानते हैं। कुछ इसे स्वतंत्र रूप से विकसित धार्मिक परम्परा का द्योतक मानते हैं जो संयोगवश ही मेसोपोटामिया की परम्परा से मेल रखता है।

एक-शृंगी पशु को आकृति (फ. XVII, 1) सिंधु सभ्यता की सबसे अधिक मुद्राओं पर मिली है। इसके बारे में यह निश्चय करना कठिन है कि वे वास्तविक हैं या काल्पनिक। इसकी पीठ पर काठी दिखायी गयी है, और गले में छल्ले। यों तो ऐसा सोचा जा सकता है कि चूँकि कलाकार ने पशु का पार्श्वचित्र बनाया है अतः पशु के दूसरे सींग को उसके पहले सींग से ढका हुआ मानकर उसे एक ही सींगवाला दिखाया हो। किन्तु इसकी संभावना कम है क्योंकि मुद्राओं पर वृषभ की आकृति पार्श्ववर्ती दिखाये जाने पर भी उसके दोनों शृंग स्पष्टतया प्रदर्शित किये गये हैं। अधिक संभावना यही है कि कलाकार के द्वारा एक सींग वाले पशु का ही चित्रण अभिप्रेत था। यह असंभव तो नहीं कि हड़प्पा काल में इस तरह का कोई पशु रहा हो जिसकी नस्ल पूर्णतया विनष्ट हो गयी हो, तथापि इस संबंध में पुष्ट साक्ष्यों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर प्राप्त अंकनों में इस पशु के सामने एक विशिष्ट पात्र रखा मिलता है जो एक छोटे से डंडे के ऊपर बनाया गया है। वास्तव में यह एक के ऊपर एक दो पात्र का सामन्वित रूप सा है। मार्शल का कहना है कि यह धूपदानी का अंकन लगता है और इससे इस पशु की पूजा में धूप का उपयोग किये जाने के बारे में जानकारी मिलती है। सहूलियत के लिए हमने भी इसे धूपदानी ही लिखा है। एक मुद्रा में व्यक्ति उसके पीछे ध्वज लिए है। ऐसा प्रतीत होता है कि पशु रूपी देवता को प्रसन्न करने के लिए उसे खाद्य-सामग्री भेंट की जाती थी। इसके अतिरिक्त उसकी पीठ पर काठी कसी होना और गले पर मालाओं का होना भी उसके धार्मिक महत्त्व का सूचक प्रतीत होता है। राव का कहना है कि बाद के साहित्य में विष्णु को 'एक-शृंग' कहना शायद एक-शृंगी पशु से इस देवता का संबंध जोड़ता है। दो मुद्राओं पर एक-शृंगी पशु की आकृति को चौकी पर रखकर ले जाते दिखाया गया है। मिस्र में भी धार्मिक उत्सवों में पशु आकृतियों

को उत्सव में ध्वज के रूप में ले जाने की परम्परा थी। इस बात के साक्ष्य हैं कि ऊपर वर्णित धूपदानी की अलग से पूजा होती थी और शायद बाद में इसे एक-शृंगी पशु के साथ जोड़ दिया गया।

सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर कुछ जानवरों का देव (Genil) की तरह चित्रण हुआ है। सिंह भी देव माने जाते हैं। इनकी मुद्रा मेसोपोटामिया, भारत और यूनान में प्रचलित थी। इनका उद्भव पूर्व अथवा पश्चिम में हुआ, यह विवादास्पद विषय है। जल-भैंस, कूबड़वाला बैल (फ. XVII, 2), गैंडा (फ. XVII, 4), छोटे सींग वाला बैल, बाघ, हाथी (फ. XVIII, 1), और घड़ियाल शायद महान शक्ति सम्पन्न होने के कारण पूजे जाते थे। रामचन्द्रन ने गैंडे को वैदिक वराह या यज्ञवराह माना है। मुद्राओं के अंकन में इनके सामने प्रायः एक पात्र रखा हुआ मिलता है। चूंकि यह पात्र जंगली और पालतू दोनों ही प्रकार के जानवरों के सामने रखा अंकित है अतः इसे उनका पालतू होना जताने के लिए नहीं दिखाया गया बल्कि यह उनके धार्मिक महत्त्व के कारण उन्हें भोग लगाने का प्रतीक लगता है।

ऐतिहासिक काल में वास्तविक पशुओं में बैल सर्वाधिक धार्मिक महत्त्व का पशु रहा है। मध्य तथा मध्य-पूर्व की संस्कृतियों में इसे सौम्य और रौद्र दोनों ही रूपों में पूजनीय माना जाता था। उसे रक्षक और आंधी का दैत्य माना जाता था। हड़प्पा संस्कृति में बैल 'शिव-पशुपति' के प्राग् रूप वाले देवता से संबंधित था, यह निश्चयतः ज्ञात नहीं है। रामचन्द्रन बैल को वैदिक परंपरा में धर्म-विजय की घोषणा करने वाला कहते हैं। वैसे परवर्ती काल में बैल का शैव धर्म के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कभी-कभी तो शिव की ही वृषभ के रूप में कल्पना की गयी। एक मुद्रा पर एक भैंसा कुछ लोगों के समूह पर आक्रमण करने के पश्चात् विजेता की तरह खड़ा दिख रहा है। मकाइ का अनुमान है कि यह किसी देवता द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्ति का प्रतीक है। बकरा आज बलि के लिए विशेष रूप से चढ़ाया जाता है। कुछ प्राचीन सभ्यताओं में बकरा प्रजनन शक्ति के प्रतीक रूप में देवी के साथ संबद्ध मिलता है।

जाज के हिन्दू धर्म में कुछ पशु-पक्षी देव-वाहन के रूप में ख्यात हैं, जैसे भैंसा यम का, बैल शिव का, गरुड़ विष्णु का, हाथी इन्द्र का और मकर गंगा का इत्यादि। हो सकता है कि उस युग में भी ऐसी ही कोई कल्पना रही हो जो मुद्राओं पर चित्रित कुछ पशु तत्कालीन देवताओं के वाहन के रूप में जाने जाते रहे हों।

छोटे सींग वाले बैल को क्रुद्ध मुद्रा में दिखाने का कारण यह हो सकता है कि उसकी कल्पना एक संहारकारी देवता के वाहन अथवा किसी अन्य रूप में की गई हो। प्राचीन सुमेर में कभी-कभी जल देवता इअ (EA) और एंकि (ENKI) को कछुए की आकृति के द्वारा दिखाया जाता था। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता में भी कछुए की आकृति द्वारा किसी देवता का रूपांकन किया जाता था। यों ऐतिहासिक काल में कछुए की यमुना नदी के वाहन के रूप में कल्पना की गई है, और विष्णु का एक अवतार भी कछुआ (कच्छप) है। चूना पत्थर से बनी कुछ जानवरों यथा मेढ़ा, बैल इत्यादि की आकृतियाँ आयताकार पीठिका पर स्थित हैं। मकाइ के अनुसार ये पशुओं के रूप में देवताओं को दर्शाते हैं और इन मूर्तियों को मंदिरों में स्थापित किया गया होगा। ये पशु-आकृतियाँ तथा मानवाकृतियाँ भी क्षतिग्रस्त हैं और इस बात की संभावना व्यक्त की गयी है कि किसी आक्राँता ने धार्मिक भेदभाव के कारण जानबूझ कर इन्हें क्षतिग्रस्त किया हो।

हड़प्पा में बैल, भेड़ आदि पशुओं की हड्डियों का ढेर मिला जो सामूहिक पशुबलि दिये जाने का द्योतक लगता है। कालीबंगाँ में भी पशु बलि के साक्ष्य मिले हैं। मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा की मुद्राओं की कुछ आकृतियाँ सुमेरी कथानक से साम्य रखती हैं। इनमें तीन पर मनुष्यों को दो बाघों से लड़ता दिखाया गया है। (आ. 9, 3)। मनुष्य की आकृति सुमेरी गिल्गामेश (जो सुमेरिया के आख्यानों के अनुसार इंकिडू का मित्र था) की आकृति से कुछ मिलती है। इतना अन्तर अवश्य है कि सुमेरी अंकनों में गिल्गामेश को दो सिंहों के साथ दिखाया गया है।[1] चूँकि इस तरह के कथानक मेसोपोटामिया में बहुत पहले से मिलते हैं और यदि हम इसे सुमेरो प्रभाव स्वीकार कर लें तो इस अभिप्राय का उद्भव स्थान होने का श्रेय मेसोपोटामिया को ही दिया जा सकता है। ये अभिप्राय परस्पर संबंधों के फलस्वरूप हड़प्पा संस्कृति तक पहुँचे होंगे और सिंधु सभ्यता के लोगों ने सिंहों से विशेष परिचय न होने के कारण ही सिंहों के स्थान पर बाघों को अंकित किया होगा।

नाग-पूजा भारत में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। सिंधु सभ्यता में इसके अधिक उदाहरण नहीं मिले। सिंधु सभ्यता के मिट्टी के बर्तनों पर सांप के कुछ चित्रण हैं। लोथल के तीन मृद्भाण्ड के टुकड़ों पर

---

1. वत्स के अनुसार तो हड़प्पा की एक तिकोन मुद्राछाप पर पशु का शरीर तो खंडित हो गया है लेकिन पंजों से पशु के सिंह होने की संभावना लगती है।

प्रत्येक पर दो सर्प बने हैं। मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर देवता के दोनों ओर एक-एक सर्प दिखाया गया है जो परवर्ती काल में बौद्ध धर्म से संबंधित शिल्प में नागों के बुद्ध को पूजने के अंकन की याद दिलाता है।[1] वैदिक काल में भी नाग-पूजा का प्रचलन था।

फाख्तों की मिट्टी की बनी बहुत-सी आकृतियाँ मिली हैं। मेसोपोटामिया में प्राप्त इस तरह की आकृतियों से ये मिलती-जुलती हैं। मेसोपोटामिया में इस पक्षी को धार्मिक महत्त्व का माना जाता था, शायद सिंधु सभ्यता में भी ऐसी ही कोई धारणा रही हो। अनुमानतः कुछ पशु-देवता कुछ विशिष्ट दैवी गुणों से युक्त, कुछ देवताओं के वाहन और कुछ देवताओं के दूत या माध्यम माने जाते रहे होंगे।

पुराविदों का विचार है कि सिंधु संस्कृति के काल में प्रचलित धर्म में भी मेसोपोटामिया की भाँति यदि मंदिर होने की कल्पना कर ली जाय तो यह सोचना गलत न होगा कि नृत्य भी धार्मिक अनुष्ठानों का एक अंग रहा होगा। मोहेंजोदड़ों की कांस्य नर्तकी और स्लेटी पत्थर की नृत्य मुद्रा में निर्मित मूर्ति इस संबंध में उल्लेखनीय है। भारत में परवर्ती काल में देवता को नृत्य द्वारा प्रसन्न करने के उद्देश्य से मंदिरों में देवदासियाँ रखी जाती थीं। एक कांचली मिट्टी की मुद्रा पर एक व्यक्ति को ढोल बजाते हुए दिखाया गया है और कुछ को नाचते हुए। दूसरी मुद्रा पर एक व्यक्ति बाघ के सामने ढोल बजा रहा है। मनोरंजन के अतिरिक्त धार्मिक क्रिया-कलाप से भी इसका संबंध हो सकता है। संभवतः सिंधु सभ्यता में आज की ही भाँति मानव और पशुओं की मूर्तियों का देवता के लिए चढ़ावे के रूप में भी प्रयोग होता था। गर्भवती स्त्रियों और गोद में बच्चा लिए स्त्रियों की मूर्तियाँ संभवतः उस काल की नारियों द्वारा क्रमशः पुत्रवती बनाये जाने के लिए और पुत्रवती बनने के पश्चात् धन्यवाद के रूप में मंदिरों अथवा धार्मिक स्थानों में चढ़ाई जाती थीं।

बलि हेतु प्रयुक्त गर्त और अग्निवेदियाँ

हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों से अग्निकुण्डों या वेदी के निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त हुए हैं। वैसे मार्शल ने मोहेंजोदड़ों के 'एच आर' क्षेत्र में एक गड्ढा पाये

---

1. इस मुद्रा में अंकन स्पष्ट नहीं है। मार्शल ने इस बात की संभावना व्यक्त की है कि नाग का पुच्छ संभवतः भक्त के पैरों से जुड़ा था।

जाने का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने इस साक्ष्य को संदिग्ध प्रमाण माना है। लेकिन कालीबंगाँ और लोथल के उत्खनन इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जो सिंधु सभ्यता के युग में यज्ञ-बलि प्रथा होने का संकेत करते हैं।

कालीबंगाँ में गढ़ी वाले टीले में एक चबूतरे पर एक कुआँ, अग्निवेदी और एक आयताकार गर्त मिला है जिसके भीतर चारों ओर पालतू पशु की हड्डी और हिरन के सींग मिले हैं (फ. XXVI, 2)। अनुमानतः इनका धार्मिक अनुष्ठान में पशुबलि से संबंध था। कुछ विद्वानों ने जो सिंधु सभ्यता और आर्य सभ्यता को एक ही मानते हैं इस साक्ष्य को वैदिक बलि-प्रथा से जोड़ने का प्रयास किया है।

कालीबंगाँ में ही एक चबूतरे के ऊपर कुएं के पास सात आयताकार अग्निवेदियाँ एक कतार में मिली।[1] निचले नगर के अनेक घरों में भी अग्नि वेदिकाएं प्राप्त हुई हैं। अग्नि वेदिकाओं का भी धार्मिक महत्त्व लगता है। गर्तों में प्राप्त सामग्री के आधार पर ब्रजवासी लाल और बालकृष्ण थापर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन उथले गड्ढों को खोद कर इनमें आग जलाई जाती थीं, फिर उसे बुझा दिया जाता था, जैसा इनमें प्राप्त कोयले के साक्ष्य से स्पष्ट है। मध्य में बेलनाकार या आयताकार धूप में सुखाया मिट्टी का एक खण्ड खड़ाकर दिया जाता था। और फिर किसी धार्मिक अनुष्ठान की पूर्ति हेतु उनमें पक्की मिट्टी के तिकोने पिण्ड रख दिये जाते थे। इनका धार्मिक महत्त्व इससे और अधिक स्पष्ट हो जाता हैं जब हम देखते हैं कि एक मृत्पिण्ड पर ऐसा दृश्य अंकित है (फ. XVIII, 2) जिसे विद्वानों ने मानव द्वारा बकरी की बलि दिए जाने का चित्रण माना है। दूसरी ओर एक देवता का अंकन है जिसके सिर पर सींग हैं। सींग के कारण शिव-पशुपति जैसे देवता से पहचान समीचीन है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कालीबंगाँ के चबूतरों का धार्मिक महत्त्व था और संभवतः इनके ऊपर जो भवन रहे होंगे वे पुरोहितों के आवास रहे होंगे। हड़प्पा, मोहनजोदड़ों और लोथल के सन्दर्भ में विद्वानों ने चबूतरों के

---

1. राव ने लोथल में (देखिये नीचे), इससे मिलते-जुलते उदाहरण पाये और कसाल ने भी आमरी में इस तरह के अवशेष पाये। सांकलिया का कहना है कि संभवतः हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में भी ऐसे उदाहरण रहे होंगे, किन्तु यहाँ पर तीव्र गति से उत्खनन किये जाने के कारण उनकी पहचान नहीं हो पाई। देखिये सांकलिया, **प्रोहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री आफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान,** द्वितीय संस्करण, पृष्ठ, 350।

निर्माण को बाढ़ से सुरक्षा के लिए माना है, किन्तु कालीबंगाँ में बाढ़ का कोई साक्ष्य नहीं है। या तो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में प्राप्त चबूतरों का भी धार्मिक महत्त्व स्वीकार करना होगा, या फिर मानना होगा कि कालीबंगाँ के लोगों ने हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के नगर निर्माण की शैली का अंधानुकरण किया। लोथल में एक चबूतरे पर ईंटों की बनी वेदी मिली। इससे बैल (या गाय) की जली हड्डियाँ और उसके साथ सोने का लटकन, कार्नीलियन का मनका, चित्रित मृद्भाण्ड के खंड और राख मिली। यह लोथल-वासियों द्वारा पशुबलि दिये जाने का साक्ष्य लगता है। वैदिक काल में भी बैल की बलि दिये जाने के साक्ष्य मिलते हैं। कालीबंगाँ में निचले नगर के बाहर पूर्व में एक छोटे से टीले के उत्खनन से ईंटों के घेरे के भीतर पाँच अग्निवेदिकाओं का समूह मिला। वहाँ पर आवासीय स्तरों का कोई साक्ष्य न था।

लोथल के निचले नगर में कई घरों में फर्श के नीचे, या कच्ची ईंटों के चबूतरे के ऊपर आयताकार या वृत्ताकार मिट्टी के घेरे बने थे। इनमें से कुछ में राख, पक्की मिट्टी के तिकोने मृत्पिण्ड और कभी-कभी मिट्टी के बर्तन भी मिलते हैं। इनसे आकार-प्रकार से स्पष्ट है कि इनका प्रयोग चूल्हे की तरह नहीं होता था, और ये इतने बड़े हैं कि भाण्ड के रखने के लिए भी इनका उपयोग किया जाना नहीं लगता।

शि. रंगनाथ राव के विवरण के अनुसार लोथल के घरों में ही नहीं अपितु कुछ सार्वजनिक स्थानों में भी थोड़ी ही ऊँची वेदियों के समान पक्की ईंटों के घेरे मिले हैं। इनके भीतर भी तिकोने मिट्टी के केक, अंडाकार मिट्टी की गोलियाँ, राख और मृद्भाण्ड के टुकड़े मिले हैं। इनमें से कुछ में गड्ढे मिले हैं जिनमें मूलतः लकड़ी के खम्भे लगे रहे होंगे। एक स्थान पर वेदी के साथ पक्की मिट्टी का चम्मच भी मिला जिस पर धुएं के धब्बे थे। रंगनाथ राव का अनुमान है कि इनका प्रयोग आग में तरल पदार्थ डालने के लिए किया जाता था। गढ़ी में इस तरह के अग्निकुण्ड बनाने का कार्य निचले नगर से बाद में प्रारंभ हुआ। एक अग्नि-स्थल के समीप तो एक कलात्मक चित्रित बर्तन भी मिला जिसका संबंध भी अग्निपूजा से सम्बन्धित अनुष्ठान से लगता है। सांकलिया परवर्ती भारतीय साक्ष्य के आधार पर इन अग्निवेदियों को सार्वजनिक धार्मिक अनुष्ठान स्थल मानने के पक्ष में नहीं हैं, और इन्हें पारिवारिक अनुष्ठानों के लिए प्रयुक्त मानते हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि कुछ मुद्राछापें और मुद्राएं भी ताबीज की

तरह इस्तेमाल की जाती थीं। इनमें से कुछ ताबीज प्रजनन शक्ति के प्रतीक के रूप में पहने जाते रहे होंगे। सीप के एक उपकरण में गांठदार अभिप्राय चित्रित है। गांठ का पूर्व और पश्चिम दोनों में धार्मिक महत्त्व रहा है। इस गांठ पर दो छेद हैं जो संभवतः इस बात के द्योतक लगते हैं कि उसे कपड़े पर सिया गया होगा। कदाचित कुछ मनके भी, विशेषतः वे जिन पर त्रिपत्र अलंकरण हैं, ताबीज की तरह प्रयोग में लाये जाते रहे थे। त्रिपत्र डिजाइन का धार्मिक महत्त्व था और कुछ के अनुसार शायद वह तारे का द्योतक था। मिट्टी के कुछ मुखौटे मिले हैं जिनका प्रयोग धार्मिक उत्सवों पर किसी नाटक की भूमिका में पात्रों द्वारा किया जाता रहा होगा। मुद्राओं पर एक-शृंगी पशु के सामने जो वस्तु दिखाई गई है उसकी पहचान कुछ लोगों ने धूपदानी से की है। इस अभिप्राय का एक-शृंगी पशु के संदर्भ से अलग भी धार्मिक महत्त्व था। यह कुछ मुद्रा छापों पर उसके स्वतंत्र रूप से अंकित होने से स्पष्ट है। दो कांचली मिट्टी की मुद्रा छापों पर एक ही तरह की छाप है और पाँच अन्य कांचली मिट्टी की मुद्राछापों पर अलग ढंग से धूपदानी (?) दिखाई गई है।

स्वस्तिक और 'यूनानी सलीब' (क्रास) का अंकन काफी संख्या में मिलता है। एलम और कुछ अन्य प्राचीन सभ्यताओं की कलाकृतियों में भी इस अभिप्राय का अंकन मिलता है। मोहेंजोदड़ों में वामवर्ती और दक्षिणावर्ती दोनों ही प्रकार के स्वस्तिक पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, लेकिन हड़प्पा में कुछ अपवादों को छोड़कर ऐतिहासिक काल के समान ही स्वस्तिक दक्षिणावर्ती हैं। स्वस्तिक का संबंध सूर्यपूजा से हो सकता है। कुछ विद्वान तो इसे निश्चित रूप से सूर्य का प्रतीक मानते हैं। एक मुद्रा पर एक-शृंगी पशु के आगे सूर्य सा बना है जिससे बहुत-सी किरणें फूट रही हैं। ऐसा लगता है मानो स्वयं एक-शृंगी पशु भी उसकी ही एक किरण हो। मकाइ के अनुसार इस मुद्रा के साक्ष्य से एक-शृंगी पशु का सूर्य से संबंध ज्ञात होता है।

शवों के साथ मिट्टी के बर्तन एवं अन्य सामग्री रखी मिली है। इससे उनकी मृत्यु के पश्चात् के जीवन की धारणा होने के बारे में जानकारी मिलती है। शवों को साधारणतः उत्तर-दक्षिण दिशा में लिटाया गया है, जो धार्मिक विश्वास का ही फल हो सकता है। लोथल की तीन कब्रों में दो-दो शवों को गाड़ा गया है। यदि इनमें एक स्त्री और एक पुरुष साथ-साथ गाड़े गये हैं तो ये धार्मिक परम्परा के आधार पर पति के मरण के साथ पत्नी के भी जीवन-त्याग का साक्ष्य हो सकती है।

सिंधु सभ्यता के लोगों के धार्मिक जीवन के संबंध में लिखित साक्ष्य

प्राप्त न होने से यह कहना कठिन है कि किस देवता का उनके जीवन में सर्वाधिक प्रभुत्व एवं मान्यता थी। मार्शल, मकाइ, व्हीलर आदि विद्वानों का मत है कि संभवतः उस अतीत युग में मातृदेवी की उपासना सबसे अधिक प्रचलित थी और देवताओं में उसका स्थान सर्वोपरि था। केदारनाथ शास्त्री ने वैदिक धर्म की भाँति ही हड़प्पा-वासियों के धर्म में भी पुरुष देवताओं का अधिक महत्त्व माना है। उसके अनुसार सिंधु सभ्यताकाल में मातृदेवी की अपेक्षा पीपल देवता की अधिक महत्ता थी जिसका अंकन मुद्राओं पर सर्वाधिक लोकप्रिय रहा। कालीबंगाँ और लोथल की खुदाइयों से प्राप्त कुछ अग्निकुण्ड सिंधु सभ्यता के धर्म के विषय के कौतूहलवर्धक साक्ष्य उपस्थित करते हैं। इनमें प्राप्त पशुओं की हड्डियों और मिट्टी के पिण्ड, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, पशु बलि के सूचक लगते हैं।

लोथल में नारि मृण्मूर्तियाँ बहुत कम मिली हैं। रंगनाथ राव तो इन थोड़ी सी नारी आकृतियों में से केवल एक मृण्मूर्ति को ही मातृदेवी की मूर्ति मानते हैं। कोटदीजी में मातृदेवी की मूर्तियाँ तो मिली हैं किन्तु लिंग और योनि नहीं मिले। आमरी, कालीबंगाँ, रंगपुर, रोपड़, आलमगीरपुर में भी मातृदेवी की उपासना लोकप्रिय नहीं लगती, बल्कि यह भी संभव है कि इन स्थलों में इसका प्रचलन ही नहीं था। कालीबंगाँ में भी 'लिंग' और 'योनि' नहीं मिले। वहाँ पर न पत्थर की ही कोई ऐसी मूर्ति मिली है जिसकी देवता की मूर्ति होने की संभावना हो और न मुद्राओं पर ही किसी देवता का अंकन है। अन्य क्षेत्रों की मुद्राओं पर भी मोहेंजोदड़ों की मुद्रा पर प्राप्त शिव-पशुपति जैसा देवता नहीं मिलता। इसका अर्थ यह हुआ कि भौगोलिक तथा अन्य भिन्नताओं के संदर्भ में सिंधु सभ्यता में भी परिवर्तन व परिवर्धन हुए। यह भी संभव है कि परिवर्तन का कारण आर्य संस्कृति के लोगों के साथ संपर्क रहा हो। इस संबंध में साक्ष्य इतने पुष्ट नहीं हैं कि कोई सर्वमान्य और निश्चित अभिमत व्यक्त किया जा सके। यह कहना भी कठिन है कि धर्म के क्षेत्र में सिंधु सभ्यता ने अन्य संस्कृतियों से कब और कितना ग्रहण किया, किन्तु अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि परवर्ती धार्मिक विश्वासों में अनेक तत्त्व ऐसे हैं जिनका मूल सिंधु सभ्यता में ढूँढा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन उस युग के धर्म के बारे में एकांगी और अपर्याप्त सूचना देते हैं। वास्तव में ये साक्ष्य धर्म की जीवन्त रूपरेखा प्रस्तुत करने की बात तो दूर रही उसका पूरा ढाँचा भी नहीं प्रस्तुत करते हैं। भौतिक प्रतीकों की धार्मिक धारणाओं और विश्वासों को अभिव्यक्त करने की अपनी सीमा है।

फिर अनेकशः एक ही वस्तु एक संदर्भ में धार्मिक हो सकती है और दूसरे संदर्भ में लौकिक; मानिये तो देवता न मानिये तो पत्थर वाली बात सिंधु सभ्यता के कई संदर्भों में लागू हो सकती है। ऐतिहासिक काल में भी अक्सर धार्मिक और लौकिक का भेद करना कठिन हो जाता है; फिर साहित्यिक साक्ष्य-रहित प्रागैतिहासिक काल की तो बात ही अलग है। जैसे व्हीलर लिखते हैं एक माता-पुत्र का अंकन एक ओर साधारण लौकिक अंकन हो सकता है, दूसरी ओर धार्मिक देवी का। अनेक प्राचीन संस्कृतियों में राजत्व और देवत्व का अभिन्न संबंध था। जो व्यक्ति शासक था वही देवताओं का विशेष कृपापात्र, दैवी शक्ति से संपन्न, अथवा देवता का अवतार मानकार पूजा भी जा सकता था। आज के शासक के बारे में जनता की जो धारणा है वह प्राचीन काल की धारणा से पूरी तरह मेल नहीं खाती। फिर भी इन साक्ष्यों से जो भी जानकारी मिलती है उससे कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और निकाले गये हैं जो सर्वमान्य भले ही न हों, बहुमान्य अवश्य हैं।

ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के धर्म में देवी-देवताओं की मानव, पशु और प्रतीक तीनों रूपों में कल्पना की गई है, और उनके स्वरूप के बारे में तीनों धारणाओं का प्रचलन साथ-साथ था। नागों को अर्धमानव अर्धसर्प दिखाने की जो परंपरा ऐतिहासिक काल में मिलती है उसका मूल सिंधु सभ्यता में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक काल में हिन्दू धर्म में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो सिंधु सभ्यता में विद्यमान लगते हैं किन्तु वैदिक धर्म में नहीं मिलते या अपेक्षाकृत गौण रूप में मिलते हैं। इनमें शिव, मातृदेवी, नाग, वृक्ष, पशु, लिंग आदि पूजा और योग क्रिया उल्लेखनीय हैं और यदि मान लिया जाय कि बाद के लोगों ने आर्यों से पूर्व की इस संस्कृति के तत्त्वों को ग्रहण किया तो यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि ये तत्त्व उन्होंने एक आदिम संस्कृति से नहीं वरन् प्राचीन विश्व की एक अत्यधिक विकसित संस्कृति से ग्रहण किये थे, और यह भी असंभव नहीं कि हिन्दू धर्म के कुछ दार्शनिक सिद्धान्त भी इसी संस्कृति की देन हों। यद्यपि इस तरह के सिद्धान्तों को निश्चित रूप से पहचान सकना कठिन है, तथापि आर्यों के साहित्य में हिन्दू दर्शन के जो तत्त्व नहीं मिलते उनमें से कुछ का स्रोत इस सभ्यता को मानना अनुपयुक्त न होगा। सिंधु सभ्यता के धर्म से मिलते-जुलते अनेक तत्त्व मेसोपोटामिया के धर्म में मिलते हैं। इस सन्दर्भ में गिल्गामेश और इंकिडू की तरह की आकृतियाँ, जानवरों को देवता का माध्यम मानना, सींगों को देवत्व का चिह्न मानना, और तिपतियाँ अलंकरण विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है कि

ये भावना और अभिप्राय की समानता प्राचीन मेसोपोटामिया और सिंधु संस्कृति के मध्य संपर्क का फल था या ये स्वतंत्र रूप से विकसित हुए, और समानता मात्र आकस्मिक है।

ह्रोजनी (Hrozny) के मतानुसार तो कई आद्य भारतीय देवता हिताइत देवशास्त्र से लिये गये हैं, कुछ हुरी देवशास्त्र से और कुछ बेबीलोनी देवशास्त्र से। यदि परस्पर संपर्क के ही कारण समानता है तो चूंकि कालक्रम की दृष्टि से मेसोपोटामिया के देवशास्त्र में इस तरह के धार्मिक विश्वास और देवता सिंधु सभ्यता के काल से पहले ही मिलने लगते हैं, अतः सिंधु सभ्यता ने इन्हें मेसोपोटामिया से ग्रहण किया होगा। यह भी हो सकता है कि किसी तीसरे स्रोत से दोनों क्षेत्रों की सभ्यताओं ने ये तत्त्व ग्रहण किये हों। यह भी संभव है कि सिंधु सभ्यता के कोई खास धार्मिक विश्वास समाज के किसी खास वर्ग में ही प्रचलित थे। कदाचित् आजकल के कुछ हिन्दुओं की तरह उस काल में भी कुछ लोग किन्हीं खास धार्मिक विश्वासों को विशेष रूप से मानते हुए भी अन्य कई धार्मिक विश्वासों को भी अपने धर्म का ही अंग मानते थे। यह बात भी कुछ विचित्र है कि मातृदेवी की मिट्टी की तो अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, किन्तु पत्थर में उसकी एक भी मूर्ति नहीं मिली, और न मुद्राओं पर ही उसके उस रूप का अंकन मिलता है जिसे हम मृण्मूर्तियों में पाते हैं।

●●●

अध्याय 12

आर्थिक जीवन

सिंधु सभ्यता के नगरों के मकानों के भग्नावशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है कि अधिकांश लोगों का जीवन सामान्य रूप से समृद्ध था। सुख और समृद्ध के लिए लोगों ने विभिन्न साधनों का उपयोग किया था। वे कृषि करना जानते थे। कलात्मक वस्तुओं के प्रति उनकी अभिरुचि थी। उनकी कुछ वस्तुओं की विदेशों में भी खपत थी। विदेशों को किये गये निर्यात से प्राप्त आय से लोगों की खुशहाली में और भी वृद्धि हुई होगी। संभवतः तांबे के खान पर और सक्कर रोहरी के चर्ट भण्डार पर सिंधु सभ्यता के लोगों ने अपना नियंत्रण रखा था ताकि उपकरण बनाने के लिए उन्हें वांछित मात्रा में और अबाध रूप से ताम्र और पाषाण प्राप्त होते रहें।

सिंधु सभ्यता-काल में कौन-कौन से पशु पाले जाते थे, इसका पता हमें उस सभ्यता के संदर्भ में पाए जाने वाले पशुओं के अस्थि-अवशेषों मृद्भाण्ड-चित्रणों, मुद्रा-अंकनों तथा खिलौनों से होता है। उपलब्ध साक्ष्यों से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि उनके द्वारा पाली हुई बकरी उसी नस्ल की थी जो आज कश्मीर में पायी जाती है और जो अपनी अच्छी ऊन के लिए सुविख्यात है। भेंड़ सियाल्क प्रथम में प्राप्त भेंड़ों की तरह की थी। भेंड़-बकरी का पालन मांस, दूध और ऊन के लिए होता रहा होगा। गाय-बैल की हड्डियाँ प्रभूत मात्रा में मिली हैं। वे लोग गाय का दूध पीते रहे होंगे। त्स्वाइनर के अनुसार कूबड़वाला बैल का विकास 'बास नोमेडिकस' से हुआ जो भारत में अभिनूतन (प्लीस्टोसीन) काल से पाया जाता है। ऐसा प्रायः माना जाता है कि इस पशु का सबसे पहले पालन दक्षिणी एशिया से प्रारंभ हुआ। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या सिंधु सभ्यता में कूबड़े बैल की नस्ल मध्य-पूर्व से लायी गयी थी। वैसे यह भी संभव है कि यह मूलतः सिंधु प्रदेश की नस्ल हो। बलूचिस्तान में रानाघुडई के दूसरे काल में इस तरह के बैल की हड्डियाँ मिली हैं। तांबे और मिट्टी की बनी भैंसे की मूर्तियाँ पायी गयी हैं। भैंसे का उपयोग आज सामान ढोने, गाड़ी खीचने और हल चलाने में होता है। भैंस से दूध और घी की प्राप्ति होती रही होगी। सुअर पालतू भी था और वन्य भी। और इन दोनों तरह के सुअरों का मांस लोग खाते रहे होंगे। सुअर के बाल आज ब्रश बनाने में काम आते हैं। उस समय घी उनका कोई ऐसा ही उपयोग रहा था। यह निश्चित रूप से कहा

नहीं जा सकता। ऊँट का अंकन सिंधु सभ्यता की एक भी मुद्रा पर नहीं है, परन्तु उसकी हड्डियाँ अल्प संख्या में खुदाइयों में पायी गयी हैं। ये हड्डियाँ कूबड़ वाले ऊँट की हैं। इसका प्रयोग सवारी के लिए और माल ढोने के लिए होता रहा होगा। ऊँट की हड्डियों की अल्पता और मुद्राओं पर उसके चित्रण का अभाव इस बात के द्योतक हैं कि ये अधिक संख्या में नहीं रहे होंगे। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि फारसी मकरान के खुसरों की एक कब्र में प्राप्त एक तांबे की गैंती पर ऊँट का चित्रण मिला है जिसकी तिथि द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. आंकी गई है। हाथी वैभव और सम्पन्नता का प्रतीक माना जाता है। इस पशु का अंकन कई मुद्राओं पर हुआ है। आजकल भारत में प्राप्त दोनों ही नस्लों के हाथियों के सिंधु सभ्यता के समय होने के साक्ष्य मिले हैं। मुद्राओं पर अंकित पशुओं के गैंडे का सर्वप्रथम अंकन आमरी के मृत्पात्रों पर मिलता है। सिंधु संस्कृति की मुद्राओं पर इसका पर्याप्त रूप से अंकन है। सिंधु नदी की घाटी में यह 18वीं शती तक पाया जाता रहा। ऐतिहासिक काल में इसके चर्म से ढाल बनायी जाती थी। बारहसिंघा, साँभर, हरिण इत्यादि का उपयोग मांस तथा खाल के लिए रहा होगा। ताँबे के बने मछली पकड़ने के कांटे उपलब्ध हुए हैं। मछली पकड़ना यहाँ के निवासियों का एक प्रमुख उद्योग रहा होगा। खुदाई में मछलियों की हड्डियों के कई ढेर मिले हैं जिससे स्पष्ट है कि मछली भोजन का महत्त्वपूर्ण अंग रही होगी। मछली के अतिरिक्त लोगों के भोजन में कछुए का मांस भी सम्मिलित रहा होगा। हड़प्पा, लोथल और मोहेंजोदड़ों इत्यादि सिंधु सभ्यता के स्थलों पर खुदाइयों से तरह-तरह के कछुओं की हड्डियाँ मिली हैं।

वे लोग कुत्ता भी पालते थे। कुत्ते की कई नस्लें थीं, जैसा कि इस पशु की मूर्तियों से स्पष्ट है। कुत्ते रखवाली के लिए और शायद शिकार में सहायता के लिए भी पाले जाते रहे होंगे। हड़प्पा की एक मूर्ति में कुत्ते को मुंह में एक खरगोश पकड़े हुए दिखाया गया है। सिंधु सभ्यता के लोगों को अश्व की जानकारी थी या नहीं इसके बारे में प्रारंभ से ही विद्वानों में मतभेद रहा है। राना-घुण्डई प्रथम काल, जो सिंधु सभ्यता से काफी पहले के काल का है, से प्राप्त हुए दांतों की पहचान कुछ विद्वानों ने घोड़े के दांत से की है, किन्तु त्स्वाइनर का मत है कि ये घोड़े के न होकर एक प्रकार के गधे के हैं। मोहेजोदड़ों में ऊपर की सतह पर प्राप्त घोड़े की हड्डियों को कुछ विद्वान सिंधु संस्कृतिकाल की, और कुछ परवर्ती काल की मानते हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त मिट्टी की बनी घोड़े जैसी एक आकृति के बारे में भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा

जा सकता कि वह घोड़ा ही है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसे यही पशु माना है। लोथल से भी ऐसे तीन मृण्मय खिलौने मिले हैं जिन्हें कुछ विद्वान घोड़े की अनुकृति मानते हैं। सुरकोटड़ा में भी सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में घोड़े की अस्थियाँ मिली हैं। इन साक्ष्यों से इस सभ्यता को अनार्य सिद्ध करने वाले प्रमुख तर्कों में से एक महत्त्वपूर्ण कम हो जाता है। हड़प्पा में गधे की हड्डियाँ मिली हैं। इस पशु का प्रयोग बोझा ढोने और शायद रथ चलाने में होता रहा होगा। खच्चर के उपयोग के साक्ष्य नहीं मिलते।

बत्तख का चित्रण लोथल के बर्तनों पर बहुत मिलता है। मोर का चित्रण तो प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सिंधु-संस्कृति के स्थलों से प्राप्त बर्तनों पर किया गया है। बत्तख और शायद मोर का भी मांस लोग खाते रहे होंगे। आज तो लोग आमतौर से मोर का माँस खाना अच्छा नहीं मानते, किन्तु कम से कम अशोक के समय में (तृतीय शती ई.पू.) इसका मांस राजा की रसोई तक में बनता था। अतः आश्चर्य नहीं कि सिंधु सभ्यताकाल में इसका प्रयोग भोज्य सामग्री के रूप में होता रहा हो।

सिंध और पंजाब में प्रतिवर्ष नदियों द्वारा लाई उपजाऊ मिट्टी में कृषि कार्य अधिक श्रमसाध्य नहीं रहा होगा। इस नरम मिट्टी में कृषि के लिए शायद तांबे की पतली कुल्हाड़ियों को लकड़ी के हत्थे पर बाँध कर तत्कालीन किसान भूमि खोदते रहे होंगे। चर्ट के फलकों को लकड़ी के हत्थे पर चिपका कर हँसिये की तरह प्रयोग किया गया होगा। ऐसा भी सुझाव दिया गया है कि पत्थर की कुछ छुरियों का उपयोग उन्हें लकड़ी के हत्थे पर लगाकर भूमि खोदने के लिए होता रहा हो। मोहेंजोदड़ों से पत्थर के तीन ऐसे उपकरण मिले हैं जिनके आकार-प्रकार और भारपीन से इनके शस्त्र के रूप में प्रयुक्त होने की संभावना कम लगती है। इन्हें कुछ लापरवाही के साथ बनाया गया है। एक 25.91 सेमी. लम्बा 8.13 सेमी. से लेकर 10.92 सेमी. तक चौड़ा और 5.33 सेमी. मोटा है। दूसरा 25.15 सेमी. लंबा, 7.62 सेमी. से 10.52 सेमी. चौड़ा और 3.55 सेमी. मोटा है। तीसरा कुछ टूट गया है। ये तीनों पर्याप्त भारी हैं। ऐसा सुझाव दिया गया है कि ये हल के फाल थे। नदियों द्वारा लाई गई बिना कंकड़ पत्थर की मिट्टी वाली जमीन को जोतने के लिए इसका प्रयोग भलीभाँति किया जा सकता था। हल लकड़ी के रहे होंगे जो अब नष्ट हो गये हैं। लोथल की एक पकाई मिट्टी की प्लेट पर बीज-वपित्र जैसे यन्त्र का अंकन है जो राव के मतानुसार कृषि का महत्त्वपूर्ण उपकरण था। कालीबंगाँ में सिंधु संस्कृति से पूर्व

की संस्कृति के संदर्भ में नगर की सुरक्षा दीवार के बाहर जुते हुए खेत के चिह्न मिले हैं।[1] हड़प्पा सभ्यता में जो उससे भी अधिक विकसित थी, निश्चय ही हल का प्रयोग होता रहा होगा। सिंचाई के लिए बांध और नहरें थीं जो अब बाढ़ द्वारा लाई मिट्टी के नीचे दब गई हैं। नगर के आसपास की भूमि में इतना अनाज पैदा होता रहा होगा कि वहाँ के लोग अपनी जरूरत के लिए अनाज रख लेने के बाद शेष अनाज इन नगरों के लोगों के लिए भेज सकते थे।

सिंधु जैसी समृद्ध सभ्यता के पर्याप्त जनसंख्या वाले महानगरों की स्थिति और विकास एक अत्यन्त उपजाऊ प्रदेश की पृष्ठभूमि में ही संभव था। नागरिक सभ्यता के पनपने के लिए लोगों को धातु से विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाने का ज्ञान अत्यन्त सहायक है। विभिन्न प्रकार का धातुओं और अन्य प्रकार की सामग्री से निर्मित उपकरणों के निर्माण में दक्षता तभी प्राप्त हो सकती है जब कुछ लोग पेशे के तौर पर एक मात्र उन्हीं के निर्माण का कार्य करें और पेशेवर शिल्पी तभी हो सकते हैं जब किसान लोग उस अन्न से न केवल अपना ही अपितु शिल्पियों का भी भरण-पोषण करने में समर्थ हों। सिंधु सभ्यता के विकसित तकनीक से बने विभिन्न उपकरणों से स्पष्ट है कि वे पेशेवर शिल्पियों की कृतियाँ हैं, और उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय के कृषक निश्चय ही पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त अन्न पैदा करते थे। सिंधु सभ्यता के लोग गेहूँ उपजाते थे जो रोटी बनाने के लिए उपयुक्त था। गेहूँ की दो प्रजातियाँ थीं जिन्हें आज की वैज्ञानिक भाषा में ट्रिटीकम कम्पेक्टम और स्फरोकोककम कहा जाता है। जो की दो प्रजातियाँ, होरडियम वल्गैर और हैक्सास्टिकम, उगाई जाती थीं। मेसोपोटामिया और मिस्र के साक्ष्य से स्पष्ट है कि वहाँ पर जौ की खेती सिंधु सभ्यता से पहले से होती थी। जिस जंगली जौ के प्रकार से यह खेती द्वारा उपजाया जौ का प्रकार प्राप्त हुआ है वह अब भी तुर्किस्तान, ईरान और उत्तरी अफगानिस्तान में मिलता है। वेविलोव (Vatvilov) ने सुझाया है कि मानव द्वारा प्रयुक्त गेहूँ का मूल स्थान हिमालय के पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान में रहा होगा, जबकि कुछ विद्वान जगरोस (Zagros) पर्वत और कैस्पियन सागर के बीच वाले क्षेत्र को इसका मूल स्थल मानते हैं।

---

1. इस खेत में जो सीते हैं वे पूर्व पश्चिम में 30 सेंटीमीटर की दूरी पर और उत्तर दक्षिण की दिशा में 190 सेंटीमीटर की दूरी पर हैं।

गेहूँ और जौ तो सिंधु सभ्यता के लोगों के मुख्य खाद्यान्न थे ही, वे खजूर सरसों, तिल और मटर भी उगाते थे। सरसों तथा तिल की खेती मुख्य रूप से तेल के लिए करते रहे होंगे। वे राई भी उपजाते थे। हड़प्पा में तरबूज के बीज मिले। सेलखड़ी की बनी नींबू की पत्ती से स्पष्ट है कि वे लोग नींबू से परिचित थे। यहीं से एक विचित्र बर्तन की आकृति अनार की और दूसरे चित्रित बर्तन की नारियल की तरह है जो सिंधु सभ्यता के लोगों का इन दोनों फलों से परिचित होने का सूचक है। लोथल ओर रंगपुर से धान (चावल) की उपज के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिली है। वहाँ से प्राप्त मुद्रा-छापों के पीछे धान की भूसी लगी पायी गयी है। परीक्षण से पता चला है कि धान निम्न कोटि का था। वैसे यह उल्लेखनीय है कि सिंधु सभ्यता के प्रमुख नगरी, यथा हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों, से धान की जानकारी होने का कोई साक्ष्य नहीं प्राप्त हुआ है। सौराष्ट्र में बाजरे की खेती होती थी। लोथल के उत्खनन के बाजरे के दाने मिले हैं।

राजकीय स्तर पर अनाज के संरक्षण के लिए हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों और लोथल में विशाल अन्नागारों में अन्न का आगमन और निर्गमन शासन द्वारा नियंत्रित रहा होगा। इसके लिए शासन की ओर से उच्च पदाधिकारी, लिपिक, लेखाकार, मजदूर आदि नियुक्त रहे होंगे। कर के रूप में वसूल किया गया अनाज इन अन्नागारों में संग्रहीत होता रहा होगा और एक तरह से ये अन्नागार उस समय के सरकारी बैंक या खजाने का कार्य करते रहे होंगे। उस युग में सिक्कों के प्रचलन का कोई निश्चित साक्ष्य नहीं मिलता, कदाचित् अनाज के रूप में ही राज्यकर्मचारियों को वेतन भी दिया जाता रहा होगा। यही नहीं, अनाज विनिमय का एक सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम भी रहा होगा। अन्नागारों का परिपूर्ण होना या खाली होना तत्कालीन शासक की समृद्धि अथवा विपन्नता का द्योतक रहा होगा। समकालीन दजला-फरात की घाटी में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में अन्नागार थे जिनमें से कुछ तो अत्यन्त विशाल थे।[1] इनमें से कुछ

---

1. उर के एक लेख में इस बात का उल्लेख है कि एक अन्नागार इतना बड़ा था कि उसमें 4020 दिवस की मजदूरी में देय अन्न संग्रहीत था। दूसरे लेख में अन्नागार के अधीक्षक का उल्लेख है जिसके अन्नागार में 10,930 दिवस की मजदूरी देने के लिए पर्याप्त अन्न था। एक तीसरे लेख में राजकीय अन्नागारों से उधार लिए अन्न को ब्याज सहित लौटाने का उल्लेख है। इन उपर्युक्त लेखों की तिथि 2130-2000 ई.पू. के लगभग है और हड़प्पा सभ्यता के चरम विकास के समकालीन हैं। देखिए, व्हीलर, **'इंडस सिविलिजेशन'** तृतीय संस्करण, पृष्ठ 35।

मन्दिरों से संबद्ध थे और कुछ नहरों के किनारे स्थित थे। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा का विशाल अन्नागार नदी-तट पर स्थित था। मिस्र के प्राचीन लेखों में भी राजकीय अन्नागारों का और राजा के निजी अन्नागारों का विशद उल्लेख है।[1]

हड़प्पा में अन्नागारों के समीप ही अनाज कूटने के लिए बने चबूतरे और मजदूरों के निवास भी मिले हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि शासन द्वारा अन्नागारों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था और उनमें कार्य करने वालों के निवास की व्यवस्था समीप ही की गयी थी। लोग अपने लिए बड़े-बड़े घड़ों में अनाज संग्रह करके रखते थे। यह भी संभव है कि अनाज गड्ढों में भी रखा जाता रहा हो। हड़प्पा में भूमिगत तीन बड़े-बड़े बर्तन पाये गये जिनके किनारे पर ईंटों का घेरा था। शायद इनका उपयोग ऐसे ही काम के लिए होता था। अनाज और अन्य वस्तुओं को चूहों से बचाने के लिए लोगों ने चूहेदानियों का प्रयोग किया था। मिट्टी की बनी हुई चूहेदानियाँ उत्खनन से मिली हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में आटा पीसने की चक्की नहीं मिली। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अनाज को ओखली में (राजकीय स्तर पर कई विशाल ओखलियों की व्यवस्था किये जाने के प्रमाण मिले हैं) कूट कर या सिले-बट्टे[2] (फ. XXI, 2) द्वारा पीस कर आटा बनाया जाता था। सिल पर पीसने से आटे के साथ कुछ पत्थर के टुकड़े मिल जाते थे और इस तरह के आटे की रोटी खाने से दाँतों पर दुष्प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस सिलसिले में यह उल्लेखनीय है

1. यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों और लोथल में जो अन्नागार मिले हैं वे निर्माण की दृष्टि से ऐतिहासिक काल से पूर्व अपनी सानी नहीं रखते, लेकिन इनके स्वामित्व, उपयोग आदि के बारे में कुछ भी लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है, केवल अनुमान से ही कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। दूसरी ओर मेसोपोटामिया और मिस्र में वहाँ के प्राचीन अन्नागारों के बारे में तत्कालीन लेखों में विस्तृत उल्लेख है, किन्तु अभी तक उत्खनन से भवनों के ऐसे अवशेष वहाँ नहीं मिले हैं जिन्हें उनकी विशिष्टता के कारण निश्चित रूप से अन्नागार के रूप में पहचाना जा सके।

2. सिंधु सभ्यता के प्रायः सभी स्थलों से सिल-बट्टे प्राप्त हुए हैं। कई सिल लम्बे समय तक प्रयोग किये जाने के कारण काफी गहरे भी हो गये हैं। मोहेंजोदड़ों के सिल औसतन 53.34 सेमी. लंबे और 22.86 सेमी. चौड़े हैं। ये अधिकतर अलाबास्टर पत्थर के हैं लेकिन अन्य प्रकार के पत्थरों के बने सिल भी मिले हैं। बट्टे औसतन ग्यारह इंच लम्बे और चार इंच व्यास वाले हैं।

कि उत्खनन से प्राप्त कुछ मानव दाँतों के अत्यधिक घिसे होने के लिए मार्शल ने इस तरह के ही पत्थर मिश्रित आटे के निरंतर प्रयोग को कारण बताया है। लेकिन लोथल में एक वृत्ताकार चक्की के दो पाट मिले हैं। ऊपर वाले पाट में अनाज डालने के लिए छेद है। इस तरह की चक्की के प्रयोग से अनाज के महीन और शीघ्र पीसने में सिल पर पीसने की तुलना में काफी सहूलियत होती है। सांकलिया ने लोथल के इन चक्की के पाटों को सिंधु सभ्यता के काल के होने में संदेह व्यक्त किया है। उनका कहना है कि यह न केवल लोथल अपितु पूरी सिंधु सभ्यता में इस तरह का एकमात्र उदाहरण है; यदि लोग इस तरह की चक्की के प्रयोग से अवगत थे तो उन्होंने तकनीकी दृष्टि से अत्यधिक सुविधाजनक होने के कारण ऐसी चक्कियाँ पर्याप्त संख्या में बनायी होती। साथ ही सिंधु सभ्यता के अन्य स्थलों से, विशेषतः लोथल की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित एवं समृद्ध नगरों - हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों से भी, जिनसे लोथल का संपर्क था, इसके अवशेष मिलते। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मध्य-भारत तथा महाराष्ट्र की ताम्राश्मयुगीन संस्कृतियों में भी इस तरह की चक्की के अवशेष नहीं मिलते। ईरान, ईराक और अनातोलिया में भी इतनी प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में चक्की नहीं मिलती। सांकलियाँ कहता है कि प्रकार-विज्ञान (Iypology) से तो यह लोथल की चक्की ईसवीं सन् की पहली शताब्दियों की कृति लगती है। यह उल्लेखनीय है कि लोथल का उदाहरण टीले की सतह पर मिला; उत्खनन के दौरान नहीं। यद्यपि लोथल में प्रारंभ से अंत तक सिंधु अथवा उपसिंधु सभ्यता के ही अवशेष मिले हैं तथापि यह असंभव नहीं कि प्रथम शती या उसके बाद यहाँ पर छोटी-मोटी बस्ती रही हो जिसके अवशेष बह गए लेकिन चक्की का पाट भारी होने से बचा रह गया हो।

सिंधु सभ्यता के लोग कपास की खेती करते थे। वस्त्र-निर्माण उनका एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय रहा होगा। मोहेंजोदड़ों से एक चाँदी के बर्तन में कपड़े के अवशेष पाये गये हैं। यह मजीठ के लाल रंग में रँगा हुआ था। बाद में वहीं से दो उदाहरण में ताँबे के उपकरणों को लपेटे सूत का कपड़ा और धागा मिला है। यह साधारण किस्म की कपास का बना है जो भारत में आज भी उगायी जाती है। कालीबंगाँ से एक बर्तन का टुकड़ा मिला है जिस पर सूती कपड़े के निशान हैं। यहीं एक उस्तरे पर भी कपास का वस्त्र लिपटा हुआ मिला। लोथल में मुद्राछापों के पृष्ठ भाग पर कपास के बने कपड़े के निशान हैं। लोथल और रंगपुर के आसपास का क्षेत्र कपास उपजाने के लिए बहुत ही

उपयुक्त था। शायद कपास का क्षेत्र होने के कारण यहाँ पर सिंधु सभ्यता के लोगों को अपनी बस्ती बसाने की प्रेरणा मिली हो। आलमगीरपुर में एक मिट्टी की नांद पंर बुने कपड़े के निशान हैं। मेसोपोटामिया में लगश के समीप स्थित उम्मा (Umma) से मिली सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर कपास से बना कपड़ा लगा था।

कताई-बुनाई के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तकुए छोटे-बड़े सभी तरह के घरों में पाये गये हैं। ये साधारणतया मिट्टी, कांचली मिट्टी, शंख, पेस्ट आदि के बने हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि सम्पन्न और गरीब दोनों ही कताई बुनाई करते थे। इनमें से कुछ पर दो और कुछ पर तीन छेद हैं। अधिकांश पर बारीक छेद हैं जो मकाइ के अनुसार इस बात के द्योतक हैं कि इन पर लगी डंडी लकड़ी की न होकर धातु की रही होगी। इनमें से अधिकांश काफी हल्के हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि इन पर अपेक्षाकृत पतला सूत काता जाता था। कुछ चरखियाँ भी मिली हैं। सिंधु सभ्यता के मेसोपोटामिया के साथ व्यापार में, सूती वस्त्रों का महत्त्वपूर्ण भाग रहा होगा।[1] सूती वस्त्र कितनी मात्रा में निर्यात किये जाते थे इसका अनुमान लगाना कठिन है। समकालीन मिस्र में वस्त्र निर्माण के लिए अतसी (फ्लैक्स) का प्रयोग होता था। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त पुरोहित (?) की शिल्प-मूर्ति में शाल पर तिपतिया अलंकरण दिखाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्रों पर कढ़ाई भी होती रही होगी। स्वाभाविक है कि वस्त्र उद्योग एक महत्त्वपूर्ण उद्योग रहा होगा और कुछ लोग जुलाहे का काम पेशे के तौर पर करते रहे होंगे।

हड़प्पा संस्कृति में कला-कौशल का पर्याप्त विकास हुआ था। संभवतः ईंटों का उद्योग भी राज-नियंत्रित था। सिंधु सभ्यता के किसी भी स्थल के उत्खनन में ईंट पकाने के भट्ठों के अवशेषों का न मिलना इस बात का द्योतक है कि धुएं के दुष्प्रभाव से बचने के हेतु भट्ठे नगर के बाहर लगाये गये थे। यह ध्यान देने योग्य है कि मोहेंजोदड़ों में अंतिम प्रकाल (जबकि नागरिक स्तर में अत्यधिक ह्रास हो चुका था) को छोड़कर नगर के भीतर मृद्‌भाण्ड बनाने के भट्ठे नहीं मिलते। बर्तन बनाने वाले कुम्हारों का एक अलग वर्ग रहा होगा। अंतिम प्रकाल में तो इनका नगर में ही एक अलग मुहल्ला रहा होगा, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। यहाँ के कुम्हारों ने कुछ

---

1. इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक काल में मेसोपोटामिया में कपास के लिए "सिंधु" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसे ग्रीक भाषा में सिन्डोन (Sindon) रूप दिया गया।

विशेष आकार-प्रकार के बर्तनों का ही निर्माण किया, जो अन्य सभ्यता के बर्तनों से अलग पहचाने जाते हैं।

पत्थर, धातु और मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण भी महत्त्वपूर्ण उद्योग रहे होंगे। मनके बनाने वालों की दुकानों और कारखानों के बारे में चन्हुदड़ों और लोथल के उत्खननों से जानकारी मिली है। मुद्राओं को तैयार करने वालों का एक विशेष वर्ग रहा होगा। कुछ लोग हाथीदाँत का काम करते थे। गुजरात क्षेत्र में उस काल में पर्याप्त संख्या में हाथी रहे होंगे और इसलिए इस क्षेत्र में हाथीदाँत सुलभ रहा होगा। हाथीदाँत की वस्तुओं के निर्माण और व्यापार में लोथल का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा होगा। सिंधु सभ्यता से कीमती पत्थरों के मनके और हाथीदाँत की वस्तुएँ पश्चिमी एशिया में निर्यात की जाती थीं। मछुओं की संख्या भी कम नहीं रही होगी। व्यापारियों का संपन्न वर्ग रहा होगा। पुरोहितों, वैद्यों, ज्योतिषियों के भी वर्ग रहे होंगे और संभवतः उनका समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा।

सिंधु सभ्यता के हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों, लोथल आदि नगरों की समृद्धि का मुख्य स्रोत व्यापार और वाणिज्य था जो भारत के अन्य क्षेत्रों तथा विदेशों से जल-स्थल दोनों मार्गों द्वारा हुआ करता था। वास्तव में व्यापार के बिना न तो सुमेर की सभ्यता और न सिंधु सभ्यता के ही विकास की संभावना थी क्योंकि दोनों ही क्षेत्रों में कच्चे माल और प्राकृतिक सम्पदा का पर्याप्त अभाव है। जैसा कि डेल्स का मत है, बिना विशाल पैमाने पर व्यापार के मेसोपोटामिया और निष्पुर के नगरों और सिंधु सभ्यता के हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों जैसे नगरों का विकास संभव नहीं हो सकता था। निश्चय ही इतनी दूर के देशों से बड़े पैमाने पर इतर क्षेत्रों से व्यापार के लिए अच्छा व्यापारिक संगठन रहा होगा और व्यापार में पर्याप्त लाभ ही इस विदेशी व्यापार के लिए प्रेरणा स्रोत रहा होगा। नगरों में कच्चा माल पास-पड़ोस तथा सुदूर स्थानों से उपलब्ध किया जाता था। जिन-जिन स्थानों से कच्चे माल का मोहेंजोदड़ों में आयात किया जाता था इनके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनुमान लगाया है। इसका संक्षिप्त उल्लेख निम्न है :-

डामर (बिटूमिन) - मार्शल के अनुसार सिंधु के दाहिनी तीर पर स्थित इस खेल या बलूचिस्तान, या फरात नदी के तीर पर स्थित हिट से बिटूमिन लाया जाता रहा होगा।

अलाबास्टर - यह संभवतः बलूचिस्तान से प्राप्त होता था।

सेलखड़ी - अधिकांश सेलखड़ी बलूचिस्तान और राजस्थान से लायी

जाती थी। राव का कहना है कि धूसर और कुछ पाण्डु रंग की मेलखड़ी शायद दक्कन से आती थी। लेकिन सांकलियाँ ऐसा नहीं मानते। वे इस बात की संभावना मानते हैं कि लोथल में सेलखड़ी उत्तरी गुजरात के देवनीमोरी या किसी अन्य स्थल से लाई गयी होगी।

चाँदी – यह मुख्यतः अफगानिस्तान अथवा ईरान से आयातित होती थी। आभूषणों के अतिरिक्त इस धातु से निर्मित अल्प संख्या में बर्तन भी मिले हैं। राव का कहना है कि यदि कोलार खदान से सोना निकालने वाले चाँदी व सोना अलग कर सकते थे तो लोथल में, जहाँ पर चाँदी का प्रयोग बहुत कम मिलता है (केवल एक चूड़ी और एक अन्य वस्तु जिसकी पहचान कठिन है, ही मिली है), चाँदी कोलार की खान से आयी होगी। दूसरा संभावित स्रोत व राजस्थान में उदयपुर के समीप जवार-खान को मानते हैं।

सोना – जैसा इडविन पास्को ने सुझाया है, सोना अधिकतर दक्षिण भारत से आयात किया गया होगा। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों से प्राप्त सोने में चांदी का मिश्रण है जो दक्षिण के कोलार की स्वर्ण खानों की विशेषताः है। मास्की, पिक्लिहल, तेक्कल कोटा जैसे कोलार स्वर्ण क्षेत्र के निकटवर्ती स्थलों में नवपाषाण युगीन संस्कृति के संदर्भ में सिंधु सभ्यता प्रकार के सेलखड़ी के चक्राकार मनके मिले हैं और तेक्कल कोटा से ताँबे की कुल्हाड़ी भी। इससे दक्षिणी क्षेत्र से सिंधु सभ्यता का संपर्क होना लगता है। यों ईरान और अफगानिस्तान से भी कुछ सोना आ सकता था और कुछ नदियों की बालू छान कर भी प्राप्त किया जाता रहा होगा। विभिन्न प्रकार के आभूषणों, मुख्यतः मनके और फीतों, के निर्माण हेतु इसका प्रयोग किया जाता था।

ताँबा – सिंधु घाटी और राजस्थान के हड़प्पा स्थलों में ताँबा मुख्यतः राजस्थान के खेती क्षेत्र से आता रहा होगा। ताँबे का प्रयोग अस्त्र-शस्त्र, दैनिक जीवन में उपयोग के उपकरण, बर्तन और आभूषण बनाने में होता था। रासायनिक विश्लेषणों से खेती के ताम्र अयस्क और हड़प्पा व मोहेंजोंदड़ों के ताम्र उपकरणों में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर हुई। खेती से प्राप्त तांबे में आर्सेनिक और निकिल पर्याप्त मात्रा में मिलता है और हड़प्पा मोहेंजोदड़ों के ताम्र उपकरणों के विश्लेषण से उनमें भी यही बात पायी गई। लोथल में प्राप्त ताँबा ऐसी खान से आता था जिसमें आर्सेनिक नहीं है। राव का अनुमान है कि शायद दक्षिणी अरब के ओमन से लोथल में ताँबा आयात किया जाता था। लोथल में प्राप्त ताँबे की सिल का आकार और तौल सूसा में प्राप्त ताँबे की सिलों के समान

है। लेकिन सांकलिया का मत है कि संभवतः लोथल का ताँबा, कम से कम उसका कुछ भाग, स्थानीय खान या खानों से प्राप्त हुआ होगा।

टीन - यह धातु शायद अफगानिस्तान या ईरान से आयातित होती थी। कुछ का कहना है कि हजारी बाग (बिहार) से भी कुछ टीन आता होगा। लेकिन हजारीबाग से सीधा व्यापारिक मार्ग उस काल में था और वहाँ से पर्याप्त मात्रा में यह धातु प्राप्त हो सकती थी, इस पर कुछ विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। दूसरी ओर ईरान से तो सिंधु सभ्यता के लोगों का संपर्क था ही, अतः वहाँ से इसका आयातित होना अधिक आसान था। टीन का स्वतंत्र रूप से उपयोग न करके 6 से 13 प्रतिशत तक तांबे में मिलाकर कांसा बनाया जाता था। इस मिश्रित धातु से निर्मित उपकरण शुद्ध ताँबे के बने उपकरणों से कहीं अधिक मजबूत हैं और उनकी धार भी अधिक प्रखर है।

सीसा - यह ईरान, अफगानिस्तान और मुख्यतः राजस्थान (अजमेर) से लाया गया होगा। इसका प्रयोग बहुत कम था।

फीरोजा (टक्वाईज) - यह खोरासान (उत्तर-पूर्वी फारस) या अफगानिस्तान से प्राप्त होता था। मोहेंजोंदड़ों में इससे बनी थोड़ी सी ही मुद्राएं मिली हैं।

जेडाइट - यह पामीर या और पूर्वी तुर्किस्तान से आया होगा। यों तिव्बत और उत्तरी वर्मा में भी यह उपलब्ध है। इसके भी मनके मिले हैं जो अत्यल्प संख्या में हैं।

लाजवर्द - बदख्शां (अफगानिस्तान के उत्तरी क्षेत्र) से यह लाया गया होगा। इसका प्रयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ है। लाजवर्द के बने मोहेंजोदड़ों से दो मनके और एक गोटी, हड़प्पा से तीन मनके और खचित करने के लिए प्रयुक्त एक टुकड़ा, चन्हुदड़ों से दो अधबने मनके और लोथल से दो मनके मिले हैं। लाजवर्द के मनके मेसोपोटामिया में पर्याप्त संख्या में मिले हैं, अतः यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि सिंधु सभ्यता की लाजवर्द की वस्तुएं मेसोपोटामिया से आयी होंगी। किन्तु इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि चन्हुदड़ों के अधूरे बने मनके इस बात के द्योतक हैं कि उनका निर्माण वहीं पर हुआ था। यहाँ पर यह भी उल्लेख करना समीचीन होगा कि नाल में सिंधु सभ्यता के विकसित चरण से पूर्व की तिथि वाले स्तर में लाखवद के मनकों से बनी कई लड़ियों के हार मिले हैं।

लाल रंग - यों तो यह कच्छ और मध्य भारत में भी मिलता है, किन्तु फारस की खाड़ी के द्वीप होरमुज में बहुत चमकदार लाल रंग मिलता है, अतः इसके वहीं से लाये जाने की अधिक संभावना है।

हीमाटाइट - यह राजपूताना से आता था।

शंख, घोंघे - ये भारत के पश्चिमी समुद्रतट से और फारस की खाड़ी से प्राप्त किये जाते थे।

गोमेद, **कार्नीलियन (तामड़ा),** **सुलेमानी,** **कैल्सेडोनी,** **स्फटिक**	ये राजपूताना, पंजाब, मध्य भारत और काठियावाड़ में मिलते हैं। काठियावाड़ में सिंधु सभ्यता के महत्त्वपूर्ण स्थल लोथल, रंगपुर आदि के होने से इस क्षेत्र से उनके प्राप्त किये जाने की संभावना अधिक है।

स्लेटी पत्थर - यह राजस्थान से लाया गया होगा।

सूर्यकान्त (जैस्पर) - अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसका राजस्थान से आयात होता था लेकिन राव का कहना है कि रंगपुर के समीप भादर नदी के तल में जैस्पर मिलता है।

संगमरमर - 1950 में व्हीलर द्वारा की गई खुदाइयों में मोहेंजोदड़ों में संगमरमर के कुछ टुकड़े मिले जो किसी भवन में प्रयुक्त रहे होंगे। यह राजस्थान से लाया गया होगा।

चर्ट - यह सक्कर रोहरी से प्राप्त होता था।

ब्लड स्टोर - राजस्थान से लाया गया होगा।

फुक्साइट - मोहेंजोदड़ों से एक साढ़े चार इंच ऊँचा जेड की तरह के रंग का प्याला मिला है जिसकी निर्माण वस्तु की पहचान फुक्साइट से की गई है। इस पत्थर को मैसूर से प्राप्त किया गया होगा।

जमुनिया - यह दक्कन की पहाड़ियों (ट्रैप) से लाया जाता रहा होगा।

अमेजोनाइट - पहले यह धारणा थी कि संभवतः सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा यह पत्थर दक्षिणी नीलगिरि पहाड़ी या काश्मीर से प्राप्त किया गया होगा, लेकिन आज यह मान्य है कि वह अहमदाबाद के उत्तर में हीरापुर पठार से लाया गया होगा जो कि सौराष्ट्र के सिंधु सभ्यता के स्थलों के अत्यन्त समीप है।

देवदार **शिलाजीत**	ये दोनों हिमालय से लाये जाते थे।

'पुए' के आकार की तांबे की सिल - ये लोथल में मिली है। ये फारस की खाड़ी के द्वीपों से लायी जाती थी।

सिंधु सभ्यता के नगरों का व्यापारिक संबंध मेसोपोटामिया तथा फारस की खाड़ी से होने के बारे में पर्याप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य प्राप्त हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य सिंधु सभ्यता की वे मुद्राएं हैं (देखिये अध्याय काल निर्धारण) जो मेसोपोटामिया के विभिन्न नगरों में पायी गयी हैं। ये वस्तुतः व्यापार के माध्यम से वहाँ पहुँची थीं। कुछ विद्वानों का मत है कि मेसोपोटामिया में सिंधु सभ्यता के व्यापारियों की एक बस्ती थी।[1] मेसोपोटामिया के लोग भी सिंधु सभ्यता के नगरों में आते थे इसकी जानकारी हमें उस शवाधान से होती है जिसमें शव को मेसोपोटामिया की परंपरा में सरकंडों से ढक कर लकड़ी के ताबूत में रखकर दफनाया गया था (देखिए अध्याय 'शव-विसर्जन')।[2] लोथल में सेलखड़ी की वृत्ताकार बटन जैसी मुद्रा मिली है। इसके पुरोभाग पर दो

---

1. ऊपरी तौर पर तो यह मत पर्याप्त तर्क संगत लगता है। ऐतिहासिक काल में इस बात के साक्ष्य हैं कि रोमवासियों ने व्यापारिक लाभ की दृष्टि से अरिकमेडू (दक्षिणी भारत) में अपनी बस्ती बसायी थी। लेकिन लैम्बर्ग कार्लोब्सकी नामक विद्वान का मत है कि सिंधु सभ्यता में निर्मित जिस तरह की वस्तुएं मेसोपोटामिया में मिली है वे इस बात के लिये पर्याप्त साक्ष्य नहीं प्रस्तुत करती कि मेसोपोटामिया में व्यापारिक लाभ के लिए सिंधु सभ्यता के लोगों ने बस्ती बसायी थी; वे वस्तुएँ तो सीधे संपर्क के बिना, बिचौलियों द्वारा भी वहाँ पहुँचायी जा सकती थीं। सीधे संपर्क के मत के विरोध में और बिचौलिये वाले मत के पक्ष में उन्होंने निम्न तर्क दिये हैं :- (1) सिंधु सभ्यता के स्थलों से एक भी मेसोपोटामिया की मुद्रा अथवा लेख नहीं मिला। (2) मेसोपोटामिया में केवल एक ही ऐसी मुद्रा उम्मा नामक स्थान से मिली है जिसे निश्चयपूर्वक सिंधु सभ्यता का माना जाय। (3) सिंधु सभ्यता के स्थलों के उत्खननों से कहीं भी मेसोपोटामिया की शैली के भवन नहीं मिलते। (4) मेसोपोटामिया के किसी भी एक स्थल से पर्याप्त संख्या में विभिन्न प्रकार के सिंधु सभ्यता के उपकरण नहीं मिलते।

2. सिंधु सभ्यता की मुद्राएं एवं अन्य कई उपकरण मेसोपोटामिया के विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुये हैं किन्तु सिंधु सभ्यता के स्थलों से मेसोपोटामिया में निर्मित उपकरण बहुत कम मिले हैं। ऐसा लगता है कि चूंकि मेसोपोटामिया में कच्चे माल और खनिज पदार्थों का नितान्त अभाव था अतः वहाँ से ऐसी वस्तुएं ही निर्यात की जाती थीं जो इतनी लम्बी अवधि तक सुरक्षित नहीं रह सकीं। इनमें वस्त्र, ऊन, सुगंधित तेल और चमड़े का समान जैसी चीजें रही होंगी। लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कुछ विद्वान मेसोपोटामिया में निर्मित इन वस्तुओं के सिंधु सभ्यता के स्थलों में अभाव का कारण सीधे संपर्क का अभाव और बिचौलियों की भूमिका मानते हैं।

हिरनों को पहरेदार सांप (ड्रैगन) के दोनों ओर दिखाया गया है, मुद्रा के पृष्ठ भाग में घुंडी है (फ. XVII, 5)। ऐसी ही मुद्राएँ बहरीन द्वीप और फारस की खाड़ी के अन्य स्थलों में विशेष रूप से मिली हैं। (विस्तार के लिए देखिए अध्याय 'मुद्राएँ')। इसी तरह की कुछ मोहरें मेसोपोटामिया से भी मिली हैं। ऐसा लगता है कि बहरीन के व्यापारी भारत और मेसोपोटामिया के व्यापारियों के बीच बिचौलिया का काम करते थे और उसी संदर्भ में ये मुद्राएं लोथल पहुँची होंगी। लैम्बर्ग कार्लोब्सकी के मतानुसार टेपे याह्या ने भी सिंधु सभ्यता और मेसोपोटामिया के मध्य व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी। इसके अतिरिक्त और भी कई वस्तुएँ पायी गयी हैं जो अपने निर्माण-क्षेत्र से दूर किसी दूसरे देश या क्षेत्र के अवशेषों के साथ मिली हैं जिनका इसी पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख किया गया है। उत्तरी सीरिया में रास शम्रा (Ras Shamra) की खुदाइयों से हाथी दांत की छड़ें मिली हैं जिन्हें सिंधु सभ्यता से लाया माना गया है। सूसा (ईरान) से सिंधु सभ्यता निर्मित एक मुद्रा, एक घनाकार बाट, हाथीदांत की एक गोटी व रेखांकित मनके मिले हैं। तांबे की सिल बैल के आकार का ताबीज एवं स्वस्तिक चिह्न अंकित मिट्टी के बर्तनों के ढक्कन लोथल तथा सूसा दोनों ही स्थलों में पाये गये हैं।

मेसोपोटामिया से प्राप्त एक प्राचीन लिखित साक्ष्य में मेलुह्ह, दिल्मुन तथा मगन से मेसोपोटामिया में विभिन्न आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची दी हुई है। उसमें कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें सुलभता से निर्यात करने वाला सिंधु सभ्यता का कोई क्षेत्र ही हो सकता है। यह सही है कि दिल्मुन, मेलुह्ह और मगन की पहचान के बारे में मतभेद है और विद्वानों ने अलग-अलग स्थलों से इनकी पहचान सुझाई है जिसका कुछ विस्तार से उल्लेख इसी पुस्तक में अलग परिशिष्ट के रूप में किया गया है, लेकिन इससे प्रायः सभी सहमत हैं कि मेसोपोटामिया की वस्तुओं के निर्यात करने के इन स्रोत स्थलों में से कम से कम एक की पहचान सिंधु सभ्यता से करनी चाहिए और अन्य भी सिंधु और मेसोपोटामिया के बीच के ही किसी क्षेत्र के द्योतक हैं।

सुमेरी ताम्रपट्टिकाओं और अंकित लेखों के साक्ष्य बताते हैं कि जहाज दिल्मुन से लगश के उर-नक्शे (2450 ई.पू.) के काल में लकड़ी लेकर और अक्कद के सारगान के काल (लगभग 2350 ई.पू.) में दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह से विभिन्न सामग्री लेकर राजधानी अगेड (बेबीलोन) में आते थे। 2100 ई.पू. के लगभग उर और मेलुह्ह के बीच सीधा संपर्क टूट चुका था तथापि तांबा, हाथी दांत, कीमती पत्थर और कुछ खास जानवर फिर भी वहाँ से लाये जा रहे थे। लेकिन पुनः लार्सा राजवंश (लगभग 1950 ई.पू.) के

समय दिल्मुन से लौटे व्यापारियों ने निन्गल देवी को व्यापार के लिए लाई वस्तुओं सोना, चाँदी, ताँबा, हाथीदाँत की कंघी, उत्खनन, लाजवर्द, कीमती पत्थरों के मनके, लकड़ी और मोती में से कुछ अंश चढ़ाए। ओपेनहाइम ने निष्कर्ष निकाला कि 2350 ई.पू. में उर का मगन और मेलुह्ह के साथ सीधा सम्पर्क था लेकिन 2100 ई.पू. के लगभग मेलुह्ह और 1900 ई.पू. में मगन के साथ उसका सीधा संपर्क टूट गया। इन संदर्भों से ऐसा लगता है कि उर की तरह से दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह एक दूसरे से क्रमशः अधिक दूरी पर स्थित थे।

बलूचिस्तान, राजस्थान, गुजरात आदि के क्षेत्र में सिंधु सभ्यता के कई स्थल मिले हैं और इसलिए वहाँ से विभिन्न प्रकार की निर्माण-वस्तुओं को प्राप्त करना कठिन नहीं रहा होगा। मध्य एशिया, फारस, अफगानिस्तान भी सिंधु सभ्यता के क्षेत्र के बहुत ही निकट स्थित थे। मेसोपोटामिया से संपर्क स्थल और जल दोनों ही मार्गों से रहा होगा। सिंधु सभ्यता के स्थल और मेसोपोटामिया के मध्य थल मार्ग से होने वाले व्यापार में बलूचिस्तान और ईरान ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सिंधु सभ्यता के स्थलों का मेसोपोटामिया की अपेक्षा मिस्र से कम संपर्क था। सिंधु-सभ्यता के मिस्र से संपर्क में लोथल की ही विशेष भूमिका रही होगी। रंगनाथ राव ने लोथल से प्राप्त एक मृण्मूर्ति को गोरिल्ला की आकृति पहचाना है। उनके अनुसार पूर्वी अफ्रीका के क्षेत्र से संपर्क के फलस्वरूप ही लोथल के कलाकार की इस पशु की आकृति को बनाने की प्रेरणा मिली होगी। लोथल से प्राप्त मिट्टी में जो 'ममी' का माडल मिला है उसको बनाने का प्रेरणा-स्रोत भी मिस्र ही रहा होगा। राव का कथन है कि लोथल की समुद्र-देवी का नाम सिकोतरी माता है जो पूर्वी अफ्रीका के समुद्र तट के द्वीप सकोतरो (Sakotaro) के नाम पर आधारित लगता है। पूर्वी अफ्रीका के समुद्रतट के स्थलों में कीमती पत्थरों से बने भारतीय मनके मिले हैं।

भारतीय और भारतेतर प्रदेशों में व्यापार के कारण एक सुसंगठित व्यापारी वर्ग का उदय हो गया होगा। ऐसा लगता है कि वे व्यापारी अपने माल को बांध कर बंडलों पर अपनी मुद्रा अंकित कर देते थे जिससे यह पहचान हो सके कि माल किसने भेजा है। मुद्रा-छाप का बंडल पर लगे रहना इस बात का भी द्योतक होता है कि वह बंडल पहले किसी ने खोला नहीं है। यह भी हो सकता है कि राजकीय अधिकारी अथवा व्यापारिक संगठनों के कर्मचारी माल का निरीक्षण कर उस पर मुद्रा लगाते थे। ऐसी स्थिति में बंडल पर मुद्रा का लगा होना इस बात का भी द्योतक रहा होगा कि माल निर्धारित कोटि का है। लोथल

के अन्नागारों या भाँडागार में लगभग सत्तर मुद्रा-छापें मिलीं। जिनके पीछे चटाई जैसे कपड़े और बटी रस्सी के निशान मिले हैं। स्पष्ट है कि वस्तुओं को कपड़े में लपेट कर रस्सी से बाँधा गया था और रस्सी की गांठ पर मोहर लगायी गई थी। इसी जगह कुछ मिट्टी के लोंदे पर कई मुद्रा-छापें हैं, जिससे लगता है कि कई व्यापारियों का साझा व्यापार भी चलता था और किसी साझे लेन-देन के सिलसिले में उन सभी ने अपनी-अपनी मुहर लगाई थी। अनेक मुद्राओं पर एक ही प्रकार के लेख और अभिप्राय हैं जो किसी व्यापारी विशेष या राजकर्मचारी के लगते हैं।

व्यापारियों के कारवां व्यापार के सिलसिले में तत्कालीन व्यापारिक पंथों पर आते-जाते रहें होंगे। उनके इन मार्गों पर रुकने के लिए सराय इत्यादि की व्यवस्था रही होगी, और इस संदर्भ में पिगट अमीलानो नामक स्थल के ऐसे ही एक व्यापारिक मार्ग पर स्थित एक सराय होने का उल्लेख करते हैं। व्यापार में सामान की ढुलाई के लिए ऊँट का विशेष रूप से प्रयोग होता रहा होगा। बैल और भैंसे पर भी सामान लाद कर ले जाया जाता रहा होगा। यदि घोड़े से विकसित सिंधु सभ्यता के लोग परिचित थे तो उनका भी, विशेषतः पहाड़ी क्षेत्र में, इस संदर्भ में उपयोग होता रहा होगा और आजकल के रिवाज को देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि पहाड़ी क्षेत्र में बकरियों का भी प्रयोग इस काम में हो सकता था। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पिगट के अनुसार सिंधु नदी द्वारा निरंतर अपना मार्ग बदलते रहने के कारण उसका मुहाना, जहाँ दलदल बढ़ जाता था, समुद्री व्यापार के लिए अधिक उपयुक्त न था, और मेसोपोटामिया के साथ थल मार्ग से होने वाले व्यापार में कुल्ली के व्यापारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की होगी।

सिंधु सभ्यता में भारी यातायात के लिए बैलगाड़ी निश्चित रूप से प्रयुक्त होती थी। इसके द्वारा आवागमन की गति धीमी थी। इसके चक्के ठोस होते थे और वे आकार-प्रकार में, जैसा कि बैलगाड़ी के मिट्टी के माडलों से अनुमान लगाया जा सकता है, सिंधु क्षेत्र में आजकल प्रयुक्त की जा रही बैलगाड़ियों से अधिक भिन्न नहीं थीं। खुदाई के दौरान पहियों के जो निशान प्राप्त हुए हैं उनमें दो पहिये के बीच की दूरी एक मीटर से थोड़ी अधिक है। यही दूरी इस क्षेत्र में आजकल प्रयुक्त बैलगाड़ियों में भी सामान्यतया पायी जाती है। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त मिट्टी के खिलौने में दो-पहियों वाली गाड़ी के साक्ष्य ही अधिक हैं। कांसे की भी दो पहियों वाली खिलौना-गाड़ियाँ यहाँ से मिली हैं।

चन्हुदड़ों से जो मिट्टी की खिलौना गाड़ियाँ मिली हैं वे चार पहिये वाली गाड़ी की नकल लगती हैं, जिनमें आगे के पहिए पीछे के पहियों से कुछ बड़े हैं। कुछ खिलौना-गाड़ियाँ से इनकी सहज तुलना की जा सकती है। इसका प्रयोग लोगों के आने-जाने के लिए और सामान ढोने के लिए किया जाता रहा होगा। लोथल में कुछ मिट्टी की खिलौना-गाड़ियाँ तो मिली ही हैं, अलाबास्टर का एक पहिया भी मिला है। यहीं के एक मृद्भाण्ड के टुकड़े पर एक व्यक्ति को दो पहियों पर खड़ा दिखाया है जो असीरिया के मृद्भाण्डों पर चित्रित रथ हांकने वाले की आकृति में मिलता-जुलता है। लोथल में उत्खनन कराने वाले राव का मत है कि लोथल के लोग घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथों से भी परिचित थे।

उस काल में जल मार्ग से भी पर्याप्त मात्रा में व्यापार होता था। सिंधु सभ्यता के किसी भी स्थल से नाव के अवशेष नहीं मिले। लकड़ी की बनी होने के कारण नावों का इतने समय तक सुरक्षित रह सकना कठिन था। अतः इनकी प्राप्ति की संभावना कम ही थी। लेकिन नाव के चित्रण मिले हैं। नाव का एक चित्रण मोहेंजोदड़ों से लापरवाही से निर्मित एक बर्तन (आ. 10, 1) पर मिला है जिसमें ऊँचा पोताग्र और पोतपार्श्व, मस्तूल, लपेटी हुई पाल और एक लंबी संचालन-पतवार दिखायी गयी है। दूसरा चित्रण मोहेंजोदड़ों की ही एक मुद्रा (आ. 10, 1) पर है जो अपेक्षाकृत सावधानी से बना है। इसमें भी नाव का ऊँचा पोताग्र और पोत-पार्श्व दिखाए गए हैं। डेल्स को प्राप्त मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर नाव का चित्रण पक्षियों तथा जल जीवों के साथ है। नाव के बीच में घर जैसा बना है (आ. 10, 3)। ये नाव के चित्रण इस बात के द्योतक हैं कि सिंधु सभ्यता की नावें प्राचीन क्रीट और मेसोपोटामिया की नावों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थीं और यद्यपि उनका उपयोग अधिकतर नदियों में ही रहा होगा, तथापि समुद्र में भी उनका उपयोग हो सकता था। आज भी अरब के लोग छोटी-छोटी नौकाओं को समुद्र में भी चलाते हैं। लोथल से नावों के पांच माडल मिले हैं। इनमें कुछ पर पाल दिखाये गये हैं और कुछ पर नहीं। इनमें से केवल एक ही माडल ऐसा है जो समूचा बचा है, बाकी खण्डित हैं। इसकी 'कील' सुस्पष्ट और नुकीली है। पोताग्र नुकीला और पृष्ठभाग ऊँचा व चपटा है। नाव में तीन छेद हैं - एक पृष्ठभाग के पास मस्तूल स्थापित करने के लिए दूसरा पोताग्र के सामने वाला रस्सी के लिए और तीसरे में एक खंभा है जो पतवार को सहारा दिये था। लोथल से प्राप्त मृद्भाण्ड के टुकड़े पर भी

नाव के चित्रण मिले हैं। मकाइ ने (फ. ए., पृ. 647) आधुनिक युग के साक्ष्य के आधार पर सिंधु सभ्यता के व्यापारियों द्वारा दजला-फरात तक पहुँचने के बारे में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं। कराची के बंदरगाह से बसरा की समुद्र यात्रा में लगभग 1400 मील की दूरी है। प्राचीन काल में दजला और फरात तथा सिंधु नदियों के मुहाने आज की अपेक्षा समुद्र तट से काफी अंदर थे और इसलिए यात्रा कुछ और अधिक मील दूर की रही होगी। फिर सिंधु सभ्यता के काल में नावें समुद्र तट के निकट चलती रही होंगी जिससे यात्रा की दूरी और बढ़ जाती रही होगी। आजकल की बड़ी नावों (लगभग 60 टन वाली को बसरा से करांची आने में करीब दो मास लगते हैं और ये साल के हर मौसम में यात्रा कर सकती हैं, किन्तु छोटी (लगभग 5 टन वाली नावें) केवल दिसम्बर, जनवरी और फरवरी में ही चल पाती हैं। मकाइ का अनुमान है कि सिंधु सभ्यता के काल में भी काफी बड़ी नावें, जो वर्ष भर यात्रा के उपयुक्त थीं, प्रयुक्त होती रही होंगी।

जब तक सिंधु सभ्यता के हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों ही प्रमुख ज्ञात नगर थे, लोगों का यही मत था कि मेसोपोटामिया और सिंधु सभ्यता के मध्य व्यापारिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान में इन्हीं दो नगरों का योगदान रहा होगा। इन दो नगरों की विशालता एवं संपन्नता तो अभी भी सिंधु सभ्यता के स्थलों में अप्रतिम हैं और उनको तो व्यापारिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मुख्य श्रेय देना ही होगा, लेकिन कुछ श्रेय हमको स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ज्ञात और उत्खनित स्थलों को भी देना होगा। इस सिलसिले में लोथल का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यहाँ पर उत्खनन से एक विशाल, लगभग आयताकार, पकाई ईंटों का घेरा मिला है (जिसका वर्णन हमने विस्तार से 'गोदी बाड़ा' नामक परिशिष्ट में किया है। रंगनाथ राव ने इसकी पहचान गोदी बाड़ा (फब VI, 2) से की है और यह मत व्यक्त किया है कि लोथल पहले भोगाँवा और साबरमती नदियों के संगम पर था और ज्वार के समय गोदी में जहाज आते-जाते थे। यद्यपि कुछ लोगों ने इसे गोदी-बाड़ी स्वीकारने में हिचकिचाहट और कुछ ने असहमति भी व्यक्त की है, तथापि अधिकांश पुरातत्ववेत्ताओं ने अपनी कृतियों में इसका उल्लेख गोदी के रूप में किया है।

समुद्री व्यापार के सिलसिले में सिंधु सभ्यता के वासियों ने समुद्र तट पर कई व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए थे जहाँ पर वे सामान की अदला-बदली कर सकते थे, रात का पड़ाव डाल सकते थे, और आवश्यक खाद्य-सामग्री प्राप्त कर सकते थे। संभवतः सौराष्ट्र के तट और उसके समीप किम नदी के

तट पर भागत्राव, नर्मदा तट पर मेधम, हिरण्य नदी के तट पर प्रभास, साबरमती पर लोथल और मकरान के तट पर सुत्कजेन्डोर, सोत्काकोह इत्यादि समुद्रतटीय व्यापारिक पड़ाव थे। उस काल में समुद्रयात्रा बड़ा जोखिम का कार्य था और ये लोग निश्चय ही सामुद्रिक हवाओं और अन्य समस्याओं के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर चुके थे।

विदेशी व्यापार में कौन सी वस्तुएँ आयात-निर्यात की जाती थीं, इसका ठीक-ठीक अनुामन लगाना आसान नहीं। यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता काल में भी भारत में मसाले और मिर्च का निर्यात होता था, जैसा कि ऐतिहासिक काल में होता रहा। क्या धूप भी उस समय भारत से निर्यात होती थी? इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि हाथी दांत की वस्तुओं का निर्यात होता था। विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थरों के भी निर्यात की संभावना है। कपास और कपास से बनी वस्तुएँ भी यहाँ से बाहर भेजी जाती रही होंगी। सीप की वस्तुएँ लोथल से मुख्य रूप से निर्यातित होती रही होंगी। लोथल में उत्खनन के वीरान सीप के कार्य करने वालों के कारखाने का साक्ष्य मिला। यहाँ पर विशाल मात्रा में सीप की निर्मित वस्तुएँ और कच्चे माल के रूप में सीप मिले। सिंधु सभ्यता में प्राप्त तांबे के धातु-पिण्ड मिले हैं। सिंधु सभ्यता में निर्मित कार्नीलियन के मनके सूसा में मिले हैं। पिगट का कहना है कि उस काल में शायद दासों का व्यापार भी होता रहा हो। वे मोहेंजोदड़ों में प्राप्त नर्तकी की विख्यात कांस्य मूर्ति के संबंध में यह धारणा व्यक्त करते हैं कि मोहेंजोदड़ों के व्यापारी यात्रा के दौरान बलूचिस्तान से किसी नर्तकी को अपने साथ ले आये थे और उसकी आकृति से प्रेरणा लेकर मोहेंजोदड़ों के किसी कलाकार ने नर्तकी की यह मूर्ति बनाई होगी।

सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से जो निर्मित वस्तुएँ पाई गई हैं उनमें बहुत कुछ समरूपता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्थिक क्षेत्र में सुसंगठित शासनतंत्र का कड़ा नियंत्रण था। किन्तु मात्र शासकीय नियंत्रण से ही ऐसी समरूपता आना संभव नहीं लगता। जैसा कि पिगट ने लिखा है, इसके साथ ही कोई वाणिज्यिक संहिता और वस्तुओं के मानकीकरण की कोई व्यवस्था भी रही होगी जिनके द्वारा ईंटों के आकार, बर्तनों के आकार-प्रकार, बाट-बटखरों की तौल का निर्धारण और उन पर नियंत्रण रखा जाता रहा होगा। शायद वणिकों के अपने संगठन थे, वैसे ही जैसे कि ऐतिहासिक काल में 'श्रेणी' और 'निगम' थे; और वस्तुओं के निर्माण और व्यापार में इन आर्थिक संगठनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। सदियों तक सड़कों को एक

सीध में बनाये रखना इस बात का द्योतक है कि भूमि पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही परिवार में रहती थी।

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों दोनों ही स्थलों पर श्रमिकों (दासों?) के लिए निर्मित आवास महत्त्वपूर्ण हैं। भारत ही नहीं अपितु एशिया के अन्य देशों में एक तरह के व्यवसाय-उद्योग वाले लोग साधारणतः एक ही क्षेत्र में रहते हैं, और यह आर्थिक जीवन का एक सुविदित पक्ष है। किन्तु सिंधु सभ्यता के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक ही प्रकार के कार्य करने वाले श्रमिकों के एक साथ रहने के लिए एक ही प्रकार के आवास के निर्माण की योजना स्वयं शासन द्वारा तैयार और क्रियान्वित की गई लगती है। इस बात की संभावना कम है कि ये मकान किसी आर्थिक संगठन द्वारा निर्मित किए गए थे, यद्यपि ऐसा असंभव नहीं है। पिगट तो इन्हें पश्चिमी एशिया में अपने ढंग का सर्वप्रथम सुसंगठित उद्योग का उदाहरण मानते हैं।

मापदण्ड (स्केल)

मोहेंजोदड़ों से एक सीप का मापदण्ड मिला है। यह खण्डित है। मकाइ द्वारा उसका विवरण प्रस्तुत किया गया है जो संक्षेप में इस प्रकार है। यह 16. 55 सेमी. लंबा, 1.55 सेमी. चौड़ा और .675 सेमी. मोटा है और इसके केवल एक ही तरफ निशान अंकित हैं। इस पर बराबर-बराबर दूरी पर नौ निशान बने हैं। किन्हीं दो निशानों के बीच की दूरी 0.66 सेमी. है (जब यह मापदण्ड साबुत रहा होगा तब वह कितने भागों में विभाजित रहा होगा, यह कहना कठिन है), और पांच ऐसी इकाइयों को दूसरे प्रकार की विभाजक रेखाओं से अलग किया गया है जिसकी माप 3.3 सेमी. है। इसके दशमलव प्रणाली के 3.3 सेमी. मापदण्ड (स्केल) का खण्डित भाग होने की संभावना लगती है। इस तरह का पैमाना मिस्र, एशियामाइनर, यूनान, सीरिया इत्यादि की प्राचीन संस्कृतियों में भी प्रचलन में था। जैसे मकाइ का कहना है, पैमाने के लिए सीप का प्रयोग इसलिए विशेष उपयुक्त है कि इसमें सिलवटें अथवा दरारें पड़ने की संभावना नहीं रहती और साथ ही तापमान के परिवर्तन का भी इस पर खास प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ सीप के पैमाने बहुत बड़े आकार के नहीं बन सकते। विभिन्न टुकड़ों को धातु से जोड़कर लंबा पैमाना बनाया तो जा सकता है पर यह श्रमसाध्य है, और इस बात की संभावना भी अधिक है कि बड़े पैमाने कांसे

या तांबे के बने थे। भाग्यवश हड़प्पा से इस तरह के पैमाने का साक्ष्य मिला है। निम्नलिखित विवरण मुख्यतः माधोस्वरूप वत्स के विवरण पर आधारित है। यह 3.75 सेमी. लंबा है, इस पर 0.93 सेमी. की विभाजन रेखाएं खिंची हैं जो शायद 51.55 सेमी. के हस्त-परिमाण पर आधारित लगती हैं। इन दो पैमानों का 150 उत्खात भवनों के उदाहरणों पर प्रयोग किया गया और यह पता चला कि दो तरह के नाप के पैमाने थे - एक हस्त-मापदण्ड जिसकी लंबाई 50.75 सेमी. से 52 सेमी. तक होती थी और दूसरा 'फुट' की तरह का पैमाना जो 32.5 सेमी. तक का होता था। साधारणतः भवनों की माप इन्हीं गुणांक में पाई गई।[1]

लोथल से एक हाथी-दांत का पैमाना मिला है (फ. XXII, 4)। राव का कहना है कि इस पैमाने पर अंकित विभाजन की इकाइयाँ मोहेंजोदड़ों के पैमाने पर अंकित इकाइयों से छोटी हैं, और यह पैमाना मोहेंजोदड़ों के पैमाने से अधिक सही है। इसकी चौड़ाई पंद्रह मिलीमीटर और मोटाई छह मिलीमीटर है। इसका कुछ भाग टूट गया है। जो बचा हुआ भाग मिला है उसकी लंबाई 128 मिलीमीटर है। इस पर 46 मिलीमीटर की लंबाई में 27 विभाजक रेखाएं ही बची हैं। दो रेखाओं के बीच की दूरी 1.7 मिलीमीटर है। कालीबंगाँ से भी एक पैमाना मिला है पर अभी उसके बारे में विस्तृत विवरण प्रकाशित नहीं हुआ है।

बाट-बटखरे

शायद ही विश्व की किसी प्राचीन सभ्यता के उत्खनन से इतने बाट मिले हों जितने कि सिंधु सभ्यता में मिले हैं। उत्खनन के दौरान विशाल संख्या में बाट (फ. XXVI, 2) मिले हैं। ऐसा नहीं कि ये बाट नगर के कुछ ही स्थानों में ही (जिन्हें व्यापारिक केन्द्र या कारखाना-फैक्ट्री का स्थल माना जा सकता है) काफी संख्या में मिले हों; ये नगर के विभिन्न क्षेत्रों में कहीं कम कहीं अधिक संख्या में मिले हैं। ये छोटे और बड़े दोनों ही तरह के घरों में

---

1. उदाहरणार्थ मोहेंजोदड़ों का विशाल स्नानागार 32.75 सेमी. पैमाने की इकाई से 36 x 21 था, और हड़प्पा में अन्न कूटने के लिये निर्मित वृत्ताकार चबूतरों का व्यास 33 सेमी. पैमाने की इकाई से 10 इकाई था। फिलिडर्स पीट्री ने अपने गहन अनुभव के आधार पर यह बताया कि पश्चिमी एशिया में भी प्राचीन काल में 33 सेमी. का माप ही अधिकांशतः प्रयुक्त होता था।

पाये गये हैं। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि गृहणियाँ इन्हें अपने घरों में रखती थीं और इनसे इसकी जांच किया करती थीं कि बाजार में दुकानदार ने सामान ठीक तौला है या नहीं। इनका उपयोग घर की पुरानी टूटी-फूटी चीजों को कबाड़ी के हाथ बेचने में भी होता रहा होगा। सिंधु सभ्यता में मोहेंजोदड़ों जैसे समृद्ध नगरों में आबादी का एक बड़ा भाग व्यापारियों का था। उनकी दुकानों में तो बाट रहे ही होंगे, साथ ही अपने घरों में भी, जिनका कुछ भाग गोदाम की तरह भी उपयोग हो सकता था, वे कुछ बाँट रखते रहे होंगे।

क्रय-विक्रय में नाप तौल में एकरूपता रहे, इसका सिंधु सभ्यता के लोगों ने पूरा प्रयास किया था, और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों, चन्हुदड़ों और सिंधु सभ्यता के अन्य स्थलों से संस्कृति के विभिन्न चरणों में प्राप्त बाट लगभग एक ही तौल-प्रणाली पर आधारित थे। ये बाट कई प्रकार के पत्थरों के बने हैं, किन्तु भूरे चर्ट पत्थर के बाट सबसे अधिक संख्या में मिले हैं। अन्य पत्थरों में चूना पत्थर, सेलखड़ी, स्लेट पत्थर, कैस्सीडोनी इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनके बनाने के लिए काफी कठोर पत्थर का चुनाव करना और इनके निर्माण में अत्यन्त सावधानी व सतर्कता बरतना इस बात का द्योतक है कि इनके निर्माण में शासकीय नियंत्रण था। नीचे मकाइ के वर्गीकरण के आधार पर बांटों का विवरण दिया गया है :-

1. **घनाकार :** इस आकर के बाट सर्वाधिक संख्या में मिले हैं (फ. XXII, 2)। अधिकांशतः इनके छहों फलक लगभग बराबर हैं। मोहेंजोदड़ों में प्राप्त इस तरह के सबसे छोटे बाट का आकार 0.75 X 0.75 X .625 सेमी. और सबसे बड़े का 17 X 15 X 9.5 सेमी. हैं। ये चर्ट पत्थर के बने हैं जिनमें से कुछ पर धारियाँ हैं। उनको पहले छील-तराश कर समतल बनाया गया है और बाद में पालिश कर दी गयी है।

2. **ऊपर और नीचे की ओर चपटे वर्तुलाकार बाट :** ऐसे बाटों की संख्या अधिक नहीं है। ये कैल्सोडोनी, चूना-पत्थर, चकमक, गोमेद आदि पत्थरों के हैं। मोहेंजोदड़ों में इस प्रकार के केवल छह बाट मिले हैं। ये छोटे और बड़े दोनों आकार के हैं। उपलब्ध बाटों में से अधिकांश भलीभाँति बनाए गये हैं। इनकी संख्या कम होने से अनुमान लगाया जाता है कि इन्हें किसी खास उद्देश्य से बनाया गया था। प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों के संदर्भ में इस तरह के बाँट नहीं मिलते।

3. **ऊपर और नीचे की ओर चपटे बेलनाकार बाट :** मोहेंजोदड़ों में इस तरह

के बाँट के मात्र दो उपकरण हैं। इनकी ऊँचाई 3.5 सेमी. और व्यास 4.5 सेमी. है।

4. **छेद वाले शंकवाकार बांट** : मोहेंजोदड़ों में इस तरह के बाटों के चार उदाहरण मिले हैं। ये ऊपर की ओर शंक्वाकार हैं। ये भलीभाँति तराश कर बनाये गये हैं। इनमें से एक 10.262 किलोग्राम वजन का है। यह 24.75 सेमी. ऊँचा है और इसके चपटे पेंदे का व्यास 34.37 सेमी. है। भारी होने के कारण प्रयोग करने के लिये और प्रयोग के बाद हटाने में इसे घसीट कर ले जाया जाता था, जिससे इस पर टूटने-फूटने के चिह्न हैं। हड़प्पा में भी इस तरह के बाट मिले हैं और इस तरह का एक बाट नाल (बलूचिस्तान) में भी मिला है। मेसोपोटामिया और मिस्र में इस तरह के बाट नहीं मिलते।

5. **ढोलाकार** : मोहेंजोदड़ों में पहले मार्शल के निर्देशन में किए गये उत्खनन में इस तरह के आठ और बाद (मकाइ के निर्देशन में किये गये उत्खनन) में तीन बाट मिले। हड़प्पा में ऐसे बाट अपेक्षाकृत अधिक संख्या में पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ों के अधिकांश ढोलाकार बाट एक किलो से कम वजन के हैं। मिस्र और मेसोपोटामिया की समकालीन और पूर्ववर्ती संस्कृतियों के लोग ऐसे बाटों का प्रयोग करते थे। मकाइ ने सुझाया है कि मोहेंजोदड़ों में शायद इस तरह के बाट किसी ऐसे समुद्रतटीय स्थल से, जिसका सुमेर और एलम से संपर्क था, लाये गये होंगे, क्योंकि सुमेर और एलम में इस तरह के बाटों का अधिक प्रचलन था।

इसके अतिरिक्त कुछ पत्थर की शंक्वाकार वस्तुएँ भी मकाइ के अनुसार बाट हो सकते हैं। ये अपेक्षाकृत बहुत कम (कुछ ग्राम) ही वजन के हैं। मोहेंजोदड़ों से चूना-पत्थर की चपटी पेंदे वाली एक वस्तु मिली है, जो 21.25 सेमी. ऊँचाई, 2.62 सेमी. व्यास और 26.5 ग्राम वजन वाली है। मकाइ इसके भी बाट होने की संभावना मानते हैं। निर्धन लोग कदाचित् बिना तराशे पत्थर की गिट्टियों का बाट के तौर पर प्रयोग करते रहे होंगे, जैसा कि आजकल भी देखा जाता है।

इन बाटों का क्रम-विन्यास विश्व की अन्य प्रचलित तौल प्रणालियों से भिन्न और विशिष्टता लिए है, और इसे यत्नपूर्वक हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थलों पर लागू किया गया था। विभिन्न बाटों की तौल का अनुपात इस तरह हैं: 1, 2, 8/3, 4, 8, 16, 32, 64, 160, 200, 320, 640। इससे यह

निर्धारित किया जा सकता है कि इकाई 16 के अनुपात में थी, जो वजन में 13.625 ग्राम थी। छोटे तौल वाले माप द्वयांगी (दून-प्रणाली) और बड़े तौल वाले दशमलव प्रणाली पर आधारित थे। प्रभाजित तौल में तिहाई की तौल के बाँट भी थे। पिगट ने 16 के गुणक की तौल के आधार को इसलिए भी विशिष्ट बताया है कि आधुनिक काल में भी, मीट्रिक प्रणाली के प्रचलन से पूर्व, रुपये में सोलह आने होते थे। किन्तु तौल के संदर्भ में (मीट्रिक प्रणाली से पूर्व) भारत में प्रचलित सोलह छटांक का एक सेर का उदाहरण देना अधिक उपयुक्त होगा। मोहेंजोदड़ों से सात ऐसे बाट मिले हैं जो उपर्युक्त तौल प्रणाली में ठीक नहीं बैठते और किसी दूसरी तौल प्रणाली पर आधारित थे। रंगनाथ राव का कहना है कि लोथल के विकसित प्रकाल में जब उसका बेबीलोन के साथ व्यापार चरम विकास पर था, लोथल के व्यापारियों ने सामान्य सिंधु प्रकार के बाँटों के अतिरिक्त बेबीलोन के तौल पर भी बाट बनवा कर प्रयोग किये।

बहुत छोटे तौल के बाटों का प्रयोग मुख्यतः गहने बनाने वाले करते रहे होंगे। चन्हुदड़ों के मनके बनाने वाले की दुकान पर इस तरह के कई बाट मिले हैं। बाटों पर कोई तौल के द्योतक लेख या चिह्न अंकित नहीं मिले हैं। इससे यह अर्थ लगाया गया है कि जो व्यापारी-दुकानदार इनका प्रयोग करते थे वे पढ़े-लिखे नहीं थे। किन्तु, जैसा कि पिगट का कहना है, यह निष्कर्ष समीचीन नहीं लगता। वे अनुभवी रहे होंगे और उन्हें इनका आकार-प्रकार देखकर पता लग जाता रहा होगा कि कौन बाट किस तौल का है। ऐसा लगता है कि बेचने और खरीदने वालों में परस्पर विश्वास था जिसके आधार पर इन बाटों की तौल से क्रय-विक्रय होता रहता था।

मिट्टी और धातु के बने तराजू के पलड़े थोड़ी संख्या में मिले हैं। एक तांबे या कांसे की छड़ भी मिली है जिस पर संभवतः पलड़े लगाए गए होंगे। इसके किनारे पर पलड़ों को टाँगने के लिए बाँधी गई रस्सी के चिह्न भी स्पष्ट थे। तराजुओं का बाँटों की तुलना में अत्यन्त कम संख्या में पाया जाना यह स्पष्ट करता है कि लोग अधिकांशतः पलड़े और डंडी लकड़ी के बनाते रहे होंगे, जो क्षय होने कारण उपलब्ध नहीं हो सके।

●●●

अध्याय 13

परिधान तथा आभूषण

परिधान तथा आभूषणों के संबंध में जानकारी के स्रोत हैं - कुछ पत्थर की प्रतिमाएं (फ. IX, X, 2), कांस्य प्रतिमा (फ. X, 1), मृण्मूर्तियाँ (फ. XI, XII) जिन्हें वस्त्र और आभूषण पहने दिखाया गया है, कपड़े के वे टुकड़े जो नष्ट होने से बच गये हैं और विभिन्न प्रकार के आभूषण। जिस क्षेत्र में हड़प्पा संस्कृति पनपी वह प्राचीन काल से अच्छी कपास की खेती के लिए प्रसिद्ध रहा है। अतः आशा यही की जाती है कि सिंधु सभ्यता के लोग भी कपास के सूती वस्त्रों का प्रयोग करते थे, और उपलब्ध साक्ष्य इसकी पुष्टि करते हैं। दयाराम साहनी को 1926 में सूत से लिपटा एक बर्तन मिला था जिसके अन्दर गहने थे। मकाइ को मोहेंजोदड़ों में तांबे की वस्तुएं सूत के धागे और कपड़े में लिपटी मिली। मोहेंजोदड़ों से ही एक मछली मारने का कांटा धागे से लिपटा उपलब्ध हुआ। आलमगीरपुर की खुदाई से सिंधु सभ्यता के संदर्भ में वस्त्र का जो टुकड़ा प्राप्त हुआ है वह अच्छे किस्म की कपास से बनाये गये सूत का नहीं है। सूती वस्त्रों के अलावा ऊनी वस्त्र भी प्रचलित रहे होंगे। प्राचीन मिस्र की सभ्यता में सन (फ्लैक्स) का प्रयोग वस्त्र निर्माण के लिए होता था। या तो सिंधु सभ्यता के लोगों को सन के उपयोग के बारे में ज्ञान नहीं था अथवा सन से वस्त्र भूमिगत लवणों के प्रभाव से नष्ट होने के कारण खुदाई से इस विषय में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सका है। सन सूत से अधिक मजबूत होता है। किन्तु वस्त्र बनाने के लिए इसे तैयार करना अपेक्षाकृत कठिन होता है। हो सकता है कि इसी कारण सन का उपयोग न किया गया हो। उच्च वर्ग और निम्नवर्ग के लोगों के वस्त्रों में अन्तर रहा होगा, यद्यपि उपलब्ध साक्ष्यों से इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

उत्खननों से प्राप्त पुरुष मूर्तियों की संख्या अधिक नहीं है और जो प्राप्त हुई भी हैं वे अधिकांशतः मस्तक अथवा अधोभाग से खण्डित हैं। अतः उस काल के पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्र तथा आभूषणों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना कठिन है। मोहेंजोदड़ों की प्रसिद्ध योगी अथवा पुरोहित की मूर्ति (फ. IX, 1) को शाल ओढ़े दिखाया गया है जो सिंधु सभ्यता के लोगों के सुंदर वस्त्र निर्माण के ज्ञान का उत्तम उदाहरण है। इसमें शाल को बाएं कंधे को ढकते हुए ओढ़ रखा है तथा दायां कंधा खुला छोड़

रखा है। मेसोपोटामिया की कई कब्रों में शवों के पास पिनें पायी गयी हैं। अनुमान है कि पिनें वस्त्र को शरीर पर बांधने के लिए प्रयुक्त होती थीं। हो सकता है कि सिंधु सभ्यता के लोग भी शाल को पिन से बांधते रहे हों। शाल के नीचे अधोवस्त्र पहना जाता रहा होगा, किन्तु इस संबंध में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जिस तरह पुरोहित मूर्ति को शाल ओढ़े दिखाया गया है, उस तरह शाल ओढ़ने की प्रथा आज भी प्रचलित है। इस शाल पर तिपतिया अभिप्राय है जो काढ़ा हुआ लगता है। यह अभिप्राय, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कई प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में अलंकरण के रूप में मिलता है। पुरुषों के प्रिय आभूषणों के विषय में इतना ही ज्ञात है कि वे मस्तक पर बालों को केश-पाश से बांधते थे और कुछ लोग बांह भुजबंद से विभूषित करते थे। पुरुषों द्वारा वर्गाकार दाढ़ी रखने के साक्ष्य भी सिंधु सभ्यता की मूर्तियों में प्राप्त हैं। इस तरह से दाढ़ी रखने की परम्परा सुमेर में भी प्रचलित थी। तांबे और कांसे के बने उस्तरे मिले हैं जिनसे हजामत बनायी जाती रही होगी। इस कार्य में प्रवीण लोगों का एक अलग वर्ग भी रहा होगा।

नारी मृण्मूर्तियों (फ. XI, XII) में, जिन्हें मातृदेवी पहचाना गया है, प्रायः विपुल आभूषण एवं अल्प वस्त्रों के धारण करने के चिह्न पाये जाते हैं। वे सिर, कान, कण्ठ, भुजा, कटि और पांवों के आभूषण पहने दिखाई गई हैं जो आकार और आकृति में रोचक विविधता लिए हैं। कुछ नारी आकृतियों को घुटने तक या घुटनों से कुछ ऊपर तक लम्बाई वाला स्कर्ट की तरह का वस्त्र पहने दिखलाया गया है। यह निश्चय कर सकना कठिन है कि यह वस्त्र सिला हुआ है अथवा यू ही शरीर पर चारों ओर लपेट लिया गया है ऐतिहासिक काल में हमें इसी तरह के अधोवस्त्र के दर्शन गुप्त-कालीन मृण्मूर्तियों और अजंता की चित्रकला में मिलते हैं। कुछ नारी मूर्तियाँ पंखे की तरह का शिरोवस्त्र पहने दिखाई गई हैं। कटि से ऊपर भाग में वस्त्र नहीं दिखाये गये हैं। लेकिन केवल इसी साक्ष्य से यह निश्चित निष्कर्ष निकालना कि नारियाँ ऊपर के वस्त्र पहनती ही नहीं थीं, समीचीन नहीं होगा। वैसे आज भी कुछ जनजातियाँ ऐसी हैं जिनमें स्त्रियाँ कटि से ऊपर नग्न रहती हैं।

खुदाइयों में प्रायः सभी सिंधु सभ्यता के स्थलों से समूचे और खण्डित भाग वाले आभूषण मिले हैं जिनसे सिंधु सभ्यता के लोगों की आभूषणों के विषय में रुचि एवं कारीगरों की कार्य कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। ये आभूषण सोना, चाँदी और अर्ध-बहुमूल्य पत्थरों से बने हैं। आज कीमती पत्थर ग्रहों की शांति के लिए धारण किये जाते हैं। साथ ही धातुओं से बनी कुछ
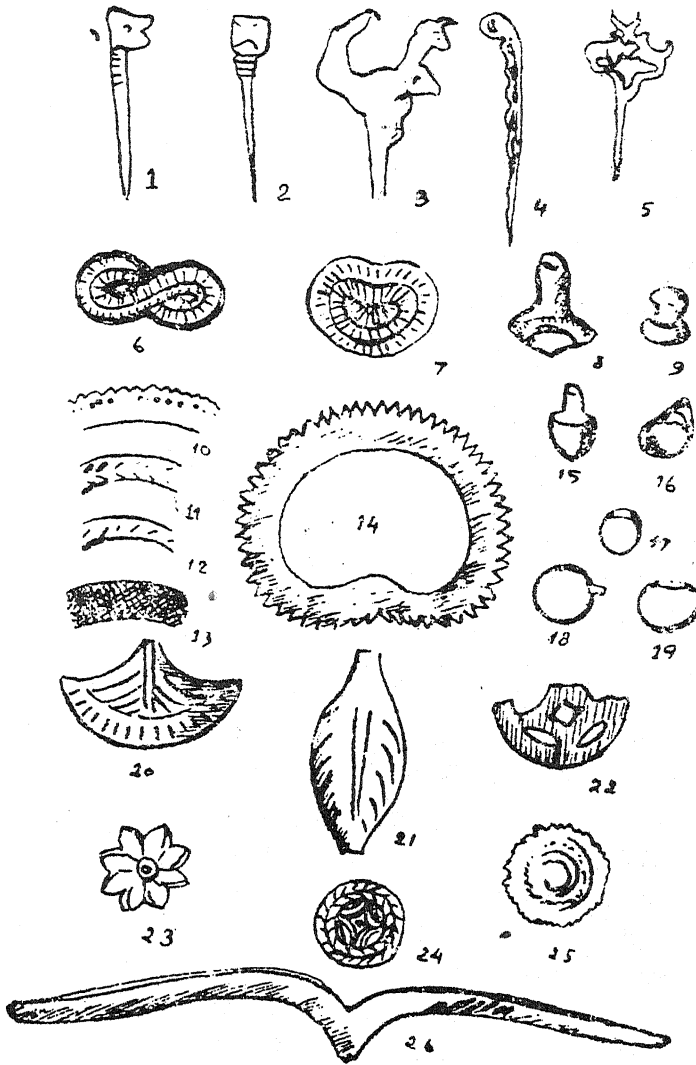
आरेख 17

वस्तुओं का भी कुछ ऐसा महत्त्व रहा है। उस काल में भी कुछ आभूषण धारण करने के संबंध में ऐसी ही धारणा थी या नहीं कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन मिस्र और बेबीलोन में लोग आभूषणों को उसमें जादुई शक्ति होने की धारणा से भी पहनते थे। कुछ आभूषणों पर धार्मिक चिह्न भी मिलते हैं।

सिर से लेकर पैर तक कई आकार-प्रकार के आभूषण कारीगरों ने गढ़ डाले थे। इससे स्पष्ट है कि सिंधु सभ्यता में स्त्रियों का आभूषण प्रेम आजकल की स्त्रियों, विशेषतः ग्रामीण स्त्रियों, के आभूषण प्रेम से कम नहीं था।

स्त्रियाँ बालों को कांटे और शंक्वाकार आभूषणों से सजाती थीं। खुदाइयों से प्राप्त कांटे (आ. 17, 1–5) मिट्टी, तांबा, कांसा और शंख के बने हैं। मोहेंजोदड़ों से वत्स को एक ताम्र-निर्मित बालपिन का ऊपरी भाग मिला; उस पर हिरन के कान को काटते हुए कुत्ते का अंकन है। वहीं से प्राप्त एक हाथ दांत के पिन का ऊपरी भाग कुत्ते के सिर के समान बना है। कांचली मिट्टी के बने ऐसे ही बालपिन पर ताली बजाते हुए तीन बंदर अंकित हैं। कुछ बालपिन सादे भी हैं।

कर्णाभरण (आ. 17, 8, 9, 24, ,25) भी कई तरह के थे। वैसे सामान्यतया दोनों कानों में एक तरह का आभूषण पहना जाता था, किन्तु मोहेंजोदड़ों की कुछ नारी मृण्मूर्तियों को दोनों कानों में अलग-अलग तरह का आभूषण पहने दिखाया गया है। कुछ कर्णफूल में पत्ती का सा किनारा है। कांचली मिट्टी के बने कान की कील और झाले पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ों के एक बुंदे पर चार कोनें वाला तारा है। मकाइ के अनुसार इसका कुछ जादुई महत्त्व रहा होगा। मेसोपोटामिया की एक मृण्मूर्ति में भी ऐसा ही आभूषण दिखलाया गया है। कांचली मिट्टी के कुछ कान के छोटे बुंदे उपलब्ध हुए हैं। कानों में बाली पहनी जाती थी। बालियाँ तांबे, कांसे और चाँदी की मिली है। मोहेंजोदड़ों से एक बच्चे की तांबे की बाली मिली है।

कुछ आभूषणों की पहचान जड़ाऊ टीका से की गई है। ये मिट्टी, हाथी दाँत, कांचली मिट्टी और शंख के बने हैं। ये आकृति में कुछ पंखे जैसी, कुछ अर्धचन्द्राकार, कुछ तिपतियाँ तथा कुछ ऊँची टोपी के समान है, और कुछ पर तीन बूटे अंकित हैं। केश सँभाले रखने के लिए फीते (आ. 17, 26) का उपयोग, स्त्री पुरुष दोनों ही करते थे। इस तरह के प्रयोग के लिए सोने की पत्ती के फीते मिले हैं। एक उदाहरण में पत्ती के मध्य भाग में छिद्र है, एक अन्य उदाहरण में मध्य भाग अंग्रेजी के V अक्षर के समान कटाव लिए है। स्त्रियाँ कानों में विभिन्न प्रकार के कर्णाभरण धारण करती थीं। मातृदेवी की प्रायः सभी मृण्मूर्तियों को कर्णाभरण धारण किये हुए दिखलाया गया है। इनमें से कुछ कर्णफूल जैसी और कुछ ठोस डाट जैसी आकृति के हैं।

साधारणतः भारत में नाक में आभूषण पहनने का रिवाज मुसलमानों के आने से माना जाता है। प्राचीन काल की किसी मूर्ति, चित्र अथवा साहित्य में इस संबंध में कोई निश्चित साक्ष्य नहीं मिलता है। सिंधु सभ्यता के अवशेषों में

कुछ इस तरह की शंख, सेलखड़ी या कांचली मिट्टी की वस्तुएं मिली हैं जिनकी नाक के आभूषण के रूप में पहचान की गई है।

खुदाइयों से कुछ आभूषणों के निधान मिले हैं जिनमें तरह-तरह के आभूषण पाये गये। कुछ तो ऐसे हो सकते हैं जो लोगों ने संभवतः चोरों के भय से भूमि में छिपा कर रखे होंगे। गांवों में आज भी लोग सुरक्षा के लिए आभूषण जमीन में गाड़ कर रखते हैं, और महिलाएं विशेष उत्सव के अवसर पर ही उन्हें निकाल कर धारण करती हैं। प्राप्त निधानों में जो हीरे के अवशेष मिले हैं उनसे पूरे हार की रूपरेखा पुननिर्मित की जा सकी है (फ. XXIII, 1, 2)। हारों में रोचक विविधता पाई जाती है। इनमें विभिन्नता 17, 20 48 और 53 मनकों का प्रयोग हुआ है। मनके हरे जैस्पर, जेड, नीली कांचली मिट्टी, पकाई सेलखड़ी, हैमाटाइट इत्यादि के बने हैं। जिस हार में 48 मनके हैं उनमें 13 हरे जेड के, 9 कांचली मिट्टी के, और 26 सेलखड़ी के हैं। सेलखड़ी के मनकों के किनारे सोने के हैं। और जिस हार में 53 मनके हैं उसमें 7 लोलक हैं, 26 वर्तुलाकार सोने के किनारों वाले सेलखड़ी के मनके, 2 कांचली मिट्टी के और 18 गोमेद तथा हैमाटाइट के मनके हैं।

हड़प्पा से सोने के मनकों वाला एक सुन्दर 6 लड़ी का हार मिला है। इसमें छह छेद वाले अंतरक हैं। छोटे-छोटे सोने तथा सेलखड़ी के बने मनकों और लोलकों वाला हार भी पर्याप्त आकर्षक है। मोंहेजोदड़ों से मार्शल को एक काफी बड़े आकार वाला हार प्राप्त हुआ है। हार के बीच में नलीदार ढोलाकार गोमेद के मनके हैं। ये मनके एक दूसरे से पाँच चपटे गोल सोने के मनकों द्वारा अलग-अलग गुंथे थे। इसके अलावा इसमें सात गोमेद के लोलक हैं जिनके बीच-बीच सोने के मढ़े किनारों वाले सेलखड़ी के मनके गुंथे हैं। मोहेंजोदड़ों से ही एक कार्नीलियन के मनकों से बना पर्याप्त लम्बा हार उपलब्ध हुआ है। इसकी डोरियाँ तो नष्ट हो गई किन्तु मनके हार में जिस तरह गुंथे हुये थे उसी रूप में मिले हैं। इसमें दोनों किनारों पर छः-छः तांबे के अंतरक हैं। हर कार्नीलियन मनके के बाद एक तांबे का मनका गुंथा है। हार के एक सिरे पर ताम्र-निर्मित अर्धचन्द्राकार और दूसरे सिरे पर नली जैसा अंतक है।

हारों के लोलक, अंतक और अंतरक अलग-अलग आकार तथा पदार्थों के बनाये गये थे। इनमें से कुछ तो बड़े आकर्षक हैं जैसे गोमेद का अर्धचन्द्राकार, कांचली मिट्टी का पंखाकार, नीली कांचली मिट्टी का पत्राकार, साधारण कांचली मिट्टी का हृदयाकार, सेलखड़ी का पुष्पाकार लोलक। हड़प्पा से एक ऐसा अंतक मिला है। जिनमें तीन छिद्र में मिल जाते हैं। अंतरक दो तरह के हैं - लंबी चपटी पट्टी की तरह जिसमें इच्छानुसार कम या अधिक छिद्र किये गये

हैं; और वे जो साधारण मनकों की तरह के हैं।

मोहेंजोदड़ों से कांचली मिट्टी, शंख, मिट्टी और सेलखड़ी से बनी चूड़ियाँ मिली हैं। स्त्रियाँ कई चूड़ियाँ पहनती थीं। आज चूड़ियाँ सुहाग (पति के जीवित होने) का सूचक मानी जाती हैं। शायद इनका ऐसा ही कुछ महत्त्व उस काल में भी रहा हो। नर्तकी की कांस्य मूर्ति में उसकी बायीं भुजा चूड़ियों से बोझिल दिखायी गयी है। नर्तकी के दायें हाथ की कलाई में केवल तीन-चार चूड़ियाँ हैं और भुजबन्ध के रूप में तीन। मृण्मूर्तियों के हाथों में तीन, चार या पाँच चूड़ियाँ मिलती हैं। असमान या समान संख्या में चूड़ियों को पहने दिखाने के पीछे कोई विशेष आशय था या नहीं, यह कहना कठिन है।

काशीनाथ दीक्षित को मोहेंजोदड़ों से सोने के पतले पत्र मिले जो मूलतः चूड़ियाँ रही होंगी। कंगन और चूड़ियाँ प्रायः सभी पदार्थों की बनी उपलब्ध हुई हैं। हड़प्पा के एक निधान से सोने का बना एक कंगन प्राप्त हुआ है। इसके दोनों किनारें अंदर की ओर मुड़े हैं। इसका व्यास 4.41 सेमी. है। वत्स को यहाँ से एक अंडाकार चूड़ी मिली थी। कुछ मृतकों को आभूषण पहने ही दफनाया गया था। मोहेंजोदड़ों से सोने की चूड़ियाँ मिली हैं। मकाइ को एक निधान में चार चूड़ियाँ मिली थीं जिनमें से एक चूड़ी में अंदर लाख होने के भी प्रमाण हैं। चांदी की चूड़ियाँ भी बनायी जाती थीं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त चांदी की अण्डाकार चूड़ी को मार्शल ने प्रकाशित किया है। इसके दोनों कोने अंदर की ओर झुके हैं। इससे मिलती-जुलती चूड़ियाँ सीरियाँ में भी मिली हैं। जिन्हें अमेनम्हत (1938-1904 ई.पू.) की चूड़ियों से पहचाना गया है।

कांसे की बनी चूड़ियाँ चपटे या गोल तार से बनाई गई हैं। अधिकांश उदाहरणों में तार को गोलाई देकर चूड़ी तैयार कर ली गई है। इस तरह की बनी हुई कांसे की चूड़ियाँ किश, हिसार और शह टेप से भी पायी गयी हैं। कांचली मिट्टी की बनी कुछ चूड़ियाँ सादी हैं और कुछ पर अभिप्राय उत्कीर्ण हैं। कुछ पर V अक्षर जैसी अलंकरण है। हृदय जैसे आकार वाली चूड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं। त्रि-अरीय डिजाइन वाली चूड़ियाँ मोहेंजोदड़ों, लोहुजोंदड़ों और कोटला निहंग से पायी गयी हैं। सफेद पेस्ट की बनी चूड़ियाँ खूब अलंकृत हैं। इस तरह की चूड़ियाँ मेसोपोटामिया में भी लोकप्रिय थीं। सेलखड़ी की चूड़ियों पर रेखांकन मिलता है। इन पर V के आकार का तिरछी रेखाओं का अलंकरण है। चूड़ियों में सर्वाधिक संख्या मिट्टी की चूड़ियों की है। यह सादी और अलंकृत दोनों तरह की पायी गयी हैं। भूरी, काली और लाल रंग की चूड़ियाँ मिली हैं। वत्स के अनुसार मिट्टी की चूड़ियों में जो लाल भूरा रंग मिलता है उसका मुख्य कारण फैरस आक्साइड, मैंगनीज तथा टीन आक्साइड का मिश्रण

हैं। हृदय की आकृति से मिलती-जुलती मिट्टी की चूड़ियाँ बहुतायत से पायी गयी हैं। मिट्टी की चूड़ियाँ कुम्हारों ने बनाई होंगी। शंख की चूड़ियाँ दो तरह की हैं। उन्हें या तो दो भागों में बनाया गया है, अथवा शंख से पूरी चूड़ी की आकृति काट कर बनायी गयी है।

मिट्टी और तांबे की अंगूठियाँ (आ. 17, 17, 19) भी उत्खनन में मिली हैं। ये तांबे की अंगूठियां या तो साधारण तौर पर तार को मोड़ कर तैयार की गयी हैं या चपटा करके बनायी गयी हैं। अंगूठियाँ तार के दो, तीन, चार, पाँच या सात बल देकर बनी हैं। चाँदी के एक दो ही उदाहरण हैं, सोने की एक भी अंगूठी नहीं मिला। कुछ कांचली मिट्टी के भी उदाहरण हैं। शंख की अंगूठियों के बहुत से उदाहरण मोहेंजोदड़ों में प्राप्त हैं। इन पर कोई डिजाइन नहीं हैं।

स्त्रियाँ कर्धनी और पाद-भूषण भी पहनती थी जैसा कि मृण्मूर्तियों के अंकन से स्पष्ट है। मोहेंजोदड़ों से सिर की आकृति वाली एक कांच की ढली हुई चकती मिली है। इसका व्यास 5.08 सेमी. है। इसमें ऊपर से नीचे दो छिद्र हैं। इसके बारे में यह अनुमान किया जाता है कि यह चकती किसी कर्धनी का भाग रही होगी। पैरों में प्रायः मोटे कड़े पहने दिखलाये गये हैं। ये कड़े किस धातु के बनाये जाते थे यह ज्ञात नहीं है क्योंकि उत्खननों में कोई कड़ा प्राप्त नहीं हुआ है। ये कुछ ठोस हैं और कुछ पोले। लखियों से मजूमदार को एक ताम्रमूर्ति का पैर मिला जिसमें एक ही खंड से निर्मित पाद-कटक दिखलाया गया है। क्नोसाँस के भित्ति चित्रों में भी इस तरह के पाद-कटक का चित्रण है। मोहेंजोदड़ों की कांस्य नर्तकी की मूर्ति को कई कटक पहने दिखलाया गया है। बेबीलोन में स्त्रियाँ तीन से पांच तक कटक धारण करती थीं, जैसा कि खुदाई से प्राप्त अस्थिपंजरों के साथ मिले आभूषणों से स्पष्ट है। बेबीलोन में हड़प्पा से कुछ मिट्टी की बड़े आकार (लगभग 3.8 व्यास) की चूड़ियाँ उपलब्ध हुई हैं।. लखियोपीर से भी एक इसी व्यास का खण्डित मृण्मय छल्ला मिला था। यह अनुमान किया जाता है कि इन्हें शायद पैरों में पहना जाता रहा होगा।

स्त्रियाँ आभूषण पहनने के साथ-साथ अपने को आकर्षक तरीके से सजाती भी रही होंगी। तांबे की नर्तकी के बाल पीछे संवार कर दाहिनी ओर लटकते दिखाए हैं। वे अच्छी तरह सुलझे हुए हैं। नारी मृण्मूर्तियाँ विपुल शिरोभूषणों से मण्डित हैं। एकाध उदाहरण में पुष्पों का शिरोलंकरण भी है। कांचली मिट्टी के छोटे-छोटे पात्र हड़प्पा, मोंहेजोदड़ों और चन्हुदड़ों की खुदाइयों से विभिन्न स्तरों से उपलब्ध हुए हैं। इनके अंदर यह अनुमान किया जाता है कि कोई शृंगार से संबंधित पदार्थ रखा जाता रहा होगा। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों

और कुछ अन्य स्थलों से प्राप्त अंजन रखने के पात्र और सलाइयों की प्राप्ति इस बात का साक्ष्य है कि स्त्रियाँ (और शायद पुरुष भी) काजल का प्रयोग करती थीं। मोहेंजोदड़ों के उत्खननों से एक हरे रंग का पदार्थ काफी मात्रा में पाया गया है। अनुमान है कि यह आंखों की सुंदरता बढ़ाने के लिए प्रयोग किया जाने वाला कोई पदार्थ था।

आभूषणों में ताबीज की भी गणना की जा सकती है। सिंधु सभ्यता के ताबीजों में आकार-प्रकार में रोचक विभिन्नता मिलती है। ये या तो त्रिभुजाकार या चतुर्भुजाकार हैं। अथवा पशु आकृति के है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों दोनों स्थानों से त्रिभुजाकार शंख के बने ताबीज मिले हैं। चूना-पत्थर का एक चतुर्भुजाकार पदक की आकृति का उदाहरण मोहेंजोदड़ों से मिला है। इस पर स्वास्तिक और अनंत सर्पिल रेखा है। हड़प्पा से एक पक्षी की आकृति का टूटा हुआ ताबीज कांचली मिट्टी का पाया गया। पक्षियों की शक्ल के ताबीज अन्य स्थानों से भी मिले हैं। उर और किश में फाख्ता पक्षी बहुत लोकप्रिय था। कार्नीलियन से बने पक्षी की आकृति के आभूषणों के उदाहरण पिग्राहवा और तक्षशिला में ऐतिहासिक युग के स्तरों में मिले हैं। इसके अतिरिक्त कांचली मिट्टी की मछली, गिलहरी और भेड़, मिट्टी का बैल, शंख से निर्मित बैल का सिर, मिट्टी के बंदर की आकृति के ताबीज हड़प्पा से उपलब्ध हुए हैं। अन्य पशु-पक्षियों में कछुआ, सर्प, सुअर, हाथी, चीता और उल्लू हैं जो अधिकांशतः कांचली मिट्टी के हैं। इन्में से भेड़ का धार्मिक महत्त्व मिस्र में था। गार्डन चाइल्ड का विचार है कि हो सकता है सिंधु सभ्यता के लोगों को भी ऐसी धारणा रही हो। मिस्र में ताबीजों के ऐसे उदाहरण चतुर्थ सहस्राब्दी ई.पू. के हैं। कुछ क्रीट के मिनिओन II कालीन भी हैं। कीमती पत्थरों के बने पशुओं की आकृति के ताबीज पहनने की प्रथा आज भी हमारे देश में है।

सिंधु सभ्यता काल के लोग प्रसाधन प्रेमी थे। उत्खननों से तांबे के दर्पण (फ. XXII, 3) उस्तरे, कंघे, अंजन-शलाकाएं, शृंगारदान इत्यादि की प्राप्ति हुई है। दर्पण तांबे के थे। इन्हें पालिश कर चमकाया गया होगा जिससे प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता रहा होगा। ये हत्थेदार थे। कंघे हाथीदाँत के होते थे जो अधिकतर अंग्रेजी अक्षर V की आकृति के हैं। इनमें कुछ उदाहरणों में दाँत एक ही ओर हैं और कुछ में दोनों ओर। इन पर एक दूसरे को घेरे वृत्तों का भी अलंकरण है। कुछ शलाकायें मिली हैं जिनका ऊपरी भाग बतख के सिर के समान है, इसके भीतर अंजन का सुरमा रखा जाता रहा होगा।

●●●

अध्याय 14

आमोद-प्रमोद

आमोद-प्रमोद भी जीवन का आवश्यक अंग है। अतः यह स्वाभाविक है कि सिंधु सभ्यता के लोग भी जीवन को मधुर बनाने के लिए नाना प्रकार के मनोविनोद करते रहे होंगे। उनके साहित्यिक मनोविनोद, गोष्ठियाँ, कथा-कहानियाँ, नाटक इत्यादि के बारे में प्रमाण के अभाव में कुछ भी कहना कठिन है। लेकिन यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे किसी-न-किसी रूप में इनका प्रयोग करते रहे होंगे। मनोविनोद से संबंधित काठ और अन्य ऐसे पदार्थों की बनी वस्तुएँ जो शीघ्र नष्ट हो जाती हैं; उपलब्ध नहीं हैं, यद्यपि यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि आजकल की तरह लकड़ी के खिलौने इत्यादि उस समय भी बनते रहे होंगे। इस संबंध में सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से जो सामग्री प्राप्त हुई है उसके आधार पर दूसरे प्रकार के आमोद-प्रमोद के साधनों के बारे में अनुमान लगाये जा सकते हैं।

स्त्रियों तथा पुरुषों की कुछ मृण्मयी आकृतियों का तो लगभग निश्चित रूप से धार्मिक महत्त्व लगता है, किन्तु कुछ ऐसी भी हैं जो खिलौने के रूप में प्रयुक्त होती रही होंगी। उनमें कुछ की निर्माण शैली को देखकर ऐसा लगता है कि वे तो बच्चों की ही कृतियां रही होंगी। मनुष्य आकृतियों में इस सिलसिले में बौनों की आकृतियों को मुख्य रूप से उल्लेख किया जा सकता है। जानवरों की मूर्तियां, कुछ अपवादों को छोड़कर, निश्चय ही बच्चों के खिलौने थे। मिट्टी की बनी बैलों की कुछ आकृतियाँ मिली हैं जिनके कूबड़ और पीछे के भाग में छेद थे जिनमें रस्सी डालकर सिर को (जो अलग से बनाकर लगाया गया था) हिलाया-डुलाया जा सकता है। यह बच्चों का एक खिलौना रहा होगा। मिट्टी की बनी बंदर की एक ऐसी आकृति मिली है जिनमें झुकाव लिए छेद था इस छेद में रस्सी डालकर इसे खिसकाया जा सकता था। इसे देखकर बच्चों में कौतूहल होता रहा होगा और वे प्रसन्न होते रहे होंगे।

मिट्टी की खिलौना-गाड़ियों के पहिये बड़ी संख्या में मिले हैं जिन्हें सिंधु सभ्यता के बच्चे गाड़ी से जोड़कर मनोरंजन किया करते थे। पहियों में एक ओर का धुरा कुछ उठा हुआ है। सुमेरी संस्कृति में भी सिंधु सभ्यता से मिलते-जुलते पहिये प्राप्त हुये हैं, पर उनमें दोनों ओर धुरे दिखाये गये हैं।

खिलौना गाड़ियों के कई ढांचे भी मिले हैं। इन पर छिद्र बने हैं जिनमें डंडे लगाये जाते थे। ये उस समय प्रचलित बैलगाड़ियों की ही आकृतियाँ होंगी। आज के सिंध में चलने वाली बैलगाड़ियों से वे बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। कुछ गाड़ियों में अंग्रेजी के अक्षर 'वी' (V) के आकार का उठान हैं। कुछ की आकृति अवतल तथा दीवार अपेक्षाकृत कुछ छोटी हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मिट्टी और कांसे की गाड़ी का माडल आज के इक्के से कुछ मिलता-जुलता है। हड़प्पा की ही एक खिलौना गाड़ी की आकृति उल्टी काठी और दूसरी की नौका के समान है। चन्हुदड़ों के उत्खनन में भी मिट्टी की गाड़ी का प्रतिरूप मिला है। इनमें से एक में गाड़ी हांकने वाले को हाथ में कोड़ा पकड़े दिखाया गया है।

मिट्टी की बनी एक आकृति में सिर और सींग तो मेढ़ के हैं किन्तु शरीर तथा पूंछ चिड़िया की है। यह लंबाई में साढ़े चार इंच है और अंदर खोखली है। इस आकृति के दोनों पार्श्व में छेद हैं जिनमें अनुमानतः एक डंडी लगी रही होगी। या तो उस डण्डों पर पहिये लगाकर इसे गाड़ी बनाया गया होगा या डंडी पर पशु को झुलाया जाता रहा होगा। इसकी गर्दन में भी छेद हैं जिसमें रस्सी डालकर बच्चे इस आकृति को आगे खींच कर चलाते रहे होंगे। यह बच्चों की कृति नहीं लगती, किन्तु इनका प्रयोजन बच्चों का मनोरंजन ही था। पक्षी जुते गाड़ियों का प्रचलन योरप में 1300 ई.पू. और चीन में ऐतिहासिक काल में विद्यमान था। भारत में सिंधु सभ्यता में ही नहीं, ऐतिहासिक काल में भी इस तरह के खिलौने मिले हैं (उदाहरण के लिए वैशाली की पुरातात्त्विक खुदाई से)। नन्नी गोपाल मजूमदार ने यह सुझाया है कि चीन वासियों ने इस प्रकार के खिलौने बनाना भारत से सीखा होगा क्योंकि ऐतिहासिक काल में भारत और चीन के मध्य संबंध थे, और योरोपीय उदाहरणों के प्रेरणा स्रोत भी शायद भारतीय खिलौने ही रहे हों।

लोग पक्षियों को पिंजरों में रखकर पालते भी थे। चोंच खोलकर चह-चहाती सी एक चिड़िया को पिंजरे के भीतर दिखाया गया है। इनमें किसी गाने वाली चिड़िया को दिखाना अभिप्रेत लगता है। पिंजरे के भीतर दिखायी गयी चिड़िया बुलबुल-सी लगती है। संस्कृत साहित्य में पालतू पक्षियों के बड़े रोचक उल्लेख मिलते हैं और नारी के साथ उनके अंकन ऐतिहासिक काल की कई मूर्तियों में मिलते हैं। पिंजरे नाशपाती की आकृति के हैं। शायद ये लोग मुर्गा, तीतर इत्यादि भी लड़ाते थे जिन्हें पिंजरों में रखा जाता रहा होगा। मिट्टी के झुनझुने पर्याप्त संख्या में पाये गये हैं। ये पोले हैं और इनके भीतर कंकड़ भरे हैं। ये गेंद की तरह गोल हैं। कुछ तो इनमें बिना चित्रण के हैं किन्तु कुछ पर लाल

रंग का कुछ डिजाइन बना हुआ है। फाख्ता की आकृति के खिलौने भी बनाये जाते थे। इस आकृति के जो खिलौने मिले हैं वे खोखले हैं और पूंछ के पास पीठ पर इनमें छेद बना है। छेद पर मुँह लगाकर फूंकने से सीटी की तरह की आवाज निकलती है। बच्चे इससे सीटी बजाते रहे होंगे और फाख्ता की आवाज की भी नकल करते रहे होंगे।[1] एक डंडे पर एक छोटा-सा जानवर स्थित है जिसकी पहचान कठिन है। यह भी एक प्रकार का खिलौना लगता है। अन्य प्राचीन सभ्यताओं में जानवरों की आकृति वाले झुनझुने मिलते हैं पर सिंधु सभ्यता में इस तरह के झुनझुनों का सर्वथा अभाव है।

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों से मिट्टी के तराजू मिले हैं जिनसे बच्चे खेलते रहे होंगे। तराजू का मिट्टी का बना एक पलड़ा सुरकोटड़ा में पाया गया है। मिट्टी के सांचे भी मिले हैं जिनके बारे में यह अनुमान है कि उनका उपयोग बच्चों द्वारा खेल के दौरान मिट्टी की खिलौना-रोटियाँ या खिलौना-मिठाई बनाने के लिए किया जाता रहा होगा। मिट्टी की बनी सिलें और उनसे जुड़े हुए मिट्टी के ही बट्टे भी मिले हैं; ये भी बच्चों के खिलौने रहे होंगे। मिट्टी की बनी कुर्सी के छोटे-छोटे मॉडल भी मिले हैं। यह अधिकांशतः भौंडी आकृति के हैं; ये असावधानी से बने हैं और बच्चों की कृतियाँ लगती हैं। गुड़ियों के खेल में गुड़ियों को वे लोग कुर्सी पर बिठाते रहे होंगे। मिट्टी की बनी हुई एक टोकरी हड़प्पा के विशाल अन्नागार के पूर्वी भाग के समीप पायी गयी है। यह सिंधु सभ्यता में इस तरह का एकमात्र उदाहरण है और हो सकता है वह भी बच्चों के खेल की वस्तु रही होगी।

कुछ हार्न-ब्लड, सेलखड़ी तथा लाजवर्द की बनी लटकन जैसी आकृतियाँ मिली हैं जिनके ऊपरी भाग में एक खाँचा बना है। ये समतलोत्तल हैं। आज भी बच्चे सिंधु सभ्यता में प्राप्त उपर्युक्त वस्तुओं से मिलते-जुलते उपकरणों से खेलते हैं, और यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि उस काल में भी वे खेल में प्रयोग की जाती रही हों।

सिंधु सभ्यता के लोग पांसे का भी खेल खेलते थे। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि उस काल में भी पांसे का खेल अत्यन्त लोकप्रिय था, और ऐतिहासिक काल के साहित्य में भी इस खेल के अनेक महत्त्वपूर्ण संदर्भ मिलते हैं। राजाओं के लिए तो यह एक प्रकार से अनिवार्य व्यसन था। हड़प्पा में

---

1. जैसा वत्स ने उल्लेख किया है, आज पंजाबी में 'घुग्गु' शब्द का अर्थ ही फाख्ता की शक्ल की सीटी है। यह संभव है कि सिंधु सभ्यता में भी इसी परंपरा के अनुसार सीटियों को फाख्ता की आकृति दी गई हो।

कुल सात पांसे - चार मिट्टी के, दो पत्थर के और एक कांचली मिट्टी के मिले हैं। मोहेंजोदड़ों में भी मिट्टी और पत्थर के बने घनाकार पांसे (फ. XXII, 1) मिले हैं। ये पांसे आजकल के पांसों से मिलते-जुलते हैं। इनका आकार लगभग 3 सेमी. x 3 x 3 सेमी. से लेकर 3.81 सेमी. x 3.81 सेमी. x 3.81 सेमी तक है। मोहेंजोदड़ों के पासों का परीक्षण करने पर मकाइ ने यह पाया कि इन पांसों के कुछ पक्ष समतल नहीं हैं और इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह संभवतः ऐसा जानबूझकर इस उद्देश्य से किया गया था कि पांसा फेंकने पर ज्यादातर अधिक नंबर वाला हिस्सा ही ऊपर की ओर दिखे। लगता है कि लोग जुआ खेलने के लिए अपने-अपने पांसे लाते थे और इस तरह उन्हें बनाते थे कि दांव अच्छा लगे और वे विजयी हो जायें। इनमें से कुछ पांसे पर्याप्त कलात्मक हैं। इन पांसों के छहों ओर नम्बर पड़े हैं जो उथले छेदों के रूप में हैं। इनकी संख्या एक से छः तक है। मोहेंजोदड़ों के अधिकांश पांसे इसी तरह के बने हैं। अधिकांश पांसे का वह पक्ष जिस पर एक छिद्र खुदा है उसके उस पक्ष के ठीक पीछे पड़ता है जिस पर दो छेद बने हैं। और इस तरह तीन छेद वाले पक्ष की उल्टी ओर चार और पांच के विपरीत छः पड़ता है। यह उल्लेखनीय है कि इस तरह का एक पांसा टेप गावरा (Tape Gawra) में मिला है जो भारतीय संपर्क का द्योतक लगता है। आधुनिक पांसों में इस तरह नंबर होते हैं कि विपरीत दो पक्षों पर अंकित छिद्रों का योग सात हो, यथा छः छिद्र वाले पक्ष के उल्टी ओर एक, पांच छिद्र वाले के उल्टी ओर दो और चार छिद्र वाले पक्ष के उल्टी ओर तीन। हड़प्पा के चार पांसों में तो उपर्युक्त मोहेंजोदड़ों के पासों की तरह ही निशान बने हैं, लेकिन दो में एक की उल्टी ओर दो, तीन के उल्टी ओर पांच और चार के उल्टी ओर छः है, और एक उदाहरण में तो आधुनिक पांसों की तरह एक छः के विपरीत, दो पांच के उल्टी ओर, तथा तीन चार के उल्टी ओर मिला है। अंतिम प्रकार का एक पांसा बेल्लासिस (Bellasis) को ब्राह्मणावाद में 1854 में मिला था। पीट्री ने इस अंतिम प्रकार के पांसे का मिस्र की प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में भी प्राप्त होने का उल्लेख किया है। लेकिन मिस्र के पांसों पर अन्य प्रकार से भी नंबर दिया गया था और इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं मालूम पड़ता। मोहेंजोदड़ों में दो पांसे एक दूसरे से कुछ ही दूरी पर मिले, और हड़प्पा में पाये गये तीन पांसे, दो पकाई मिट्टी के और एक पत्थर का, भी समान आकार के थे, लेकिन ये तीनों एक दूसरे से काफी दूरी पर मिले थे। यह कहना कठिन है कि वे खेल में एक बार के दाँव में एक से अधिक पांसों का प्रयोग करते थे या नहीं।

मोहेंजोदड़ों के लोग पांसों को विशेषतः मिट्टी के पांसों को, मुलायम

सतह वाली वस्तु, शायद कपड़े के ऊपर फेंकते रहे होंगे, क्योंकि इनमें ज्यादा टूट-फूट नहीं हुई है। लेकिन हड़प्पा के न केवल मिट्टी के बल्कि पत्थर के भी पांसों पर टूट-फूट के स्पष्ट चिह्न हैं जिससे लगता है कि इन्हें किसी सख्त सतह या जमीन पर फेंक कर खेलते थे। वे लोग इन पांसों से ही पूरा खेल खेलते थे अथवा इनकी सहायता से चौपड़ जैसा कोई खेल, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। हाथी दांत या हड्डी के बने कुछ आयताकार, कुछ वर्गाकार, कुछ गोल काट वाले और कुछ तिकोने उपकरण पर्याप्त संख्या में मिले हैं। ये सावधानी से बनाये गये हैं और कई पर पालिश भी है। इनके भी जुआ खेलने में प्रयोग किये जाने की संभावना लगती है। उनके तीन पक्षों का क्रमशः एक, दो और तीन निशान हैं। बाकी पक्ष लंबी रेखाओं से अलंकृत हैं। कुछ पर खास तरह के चिह्न हैं जो अधिकतर सभी तरफ एक से हैं। इन चिह्नों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है।

सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों के उत्खननों से मिट्टी, कांचली मिट्टी, शंख संगमरमर स्लेट, सेलखड़ी आदि की बनी गोटी की तरह वस्तुएँ पायी गयी हैं। कभी-कभी इन्हें अलंकृत भी किया गया है। ये विभिन्न आकार-प्रकार की हैं। चतुष्कोण गोटियाँ मोहेंजोदड़ों में पर्याप्त संख्या में मिली हैं। इस आकार में एक गोटी कांसे की और अनेक पेस्ट की बनी मिली हैं। सुमेरी संस्कृति में भी इस तरह की गोटियाँ मिली हैं। इस तरह के आकार की गोटियों को उठाकर दूसरे खाने में रखना सुविधाजनक नहीं होता इसलिए कदाचित् उन्हें सरकाकर चलाते रहे होंगे। एक चार भुजीय गोटी मिली है, और एक तिकोन पाश्व वाली भी जिसका सिरा और तल चपटा है। कुछ घनाकार हाथीदांत के पांसे भी मिले हैं जिनके सभी ओर एक ही तरह के निशान हैं। इनमें से कुछ तो विशिष्ट आकृति के हैं और परंपरागत शैली में निर्मित लिंगों से मिलते-जुलते हैं। ये सम्भवतः लिंग ही थे और उनका धार्मिक महत्त्व भी रहा होगा, लेकिन बाकी गोटियाँ ही रही होंगी। लोथल के उत्खनन से तो घोड़ा (?), मेढ़ा, कुत्ता और बैल के सिर वाली गोटियाँ भी मिली हैं जो अपने आप में बहुत कौतूहलपूर्ण हैं (फ. XXIV, 1) और आज के शतरंज की गोटियों के अधिक निकट हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त थोड़ी सी मानव मृण्मूर्तियों को भी उनके आकार-प्रकार के आधार पर मकाइ ने गोटियाँ ही माना है। इनको खेलने के लिए लकड़ी के बोर्ड बनाये गये होंगे जो नष्ट हो गये हैं। वूली को उर में लगभग सिंधु सभ्यता के समकालीन सभ्यता के संदर्भ में लकड़ी के दो बोर्ड मिले हैं। एक में बीस खाने थे और दूसरे में केवल बारह। इनमें काफी मात्रा में शंख से भराई की गई थी। इस तरह के खेल में आज के शतरंज से कहीं कम गोटियाँ प्रयुक्त होती रही होंगी।

सिंधु सभ्यता के संदर्भ में पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुई इन गोटियों में एक ही आकार-प्रकार की गोटियाँ बहुत थोड़ी, लगभग तीन, चार ही मिली हैं। इससे भी यही अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ खेल थोड़ी ही गोटियों से इस्तेमाल किया जाता था। मोहेंजोदड़ों में दो ईंटे मिली हैं जिन्हें खेल के बोर्ड की तरह इस्तेमाल किया जाता रहा होगा। ये खण्डित हैं। एक ईंट में चार कतारों में उथले गड्ढे हैं और एक किनारे पर चार (शायद मूलतः पाँच) वर्गाकार छेद हैं। यह कहना कठिन है कि इस बोर्ड पर कितने छेद थे, किन्तु सर्वाधिक छेद वाली कतार में कुल पन्द्रह छेद हैं। इनमें गोटी की तरह प्रयोग के लिए गुठलियों का प्रयोग करते रहे होंगे। गड्ढों की संख्या में मकाइ ने अनुमान लगाया कि शायद चार या पाँच लोग इस खेल में भाग लेते थे। मकाइ के अनुसार मेम्फिस में प्राप्त एक बोर्ड समानता में इसके निकट हैं जिसमें चौदह छेदों वाली तीन कतारें हैं। इसी विद्वान ने युगाण्डा (अफ्रीका) के आजकल के आठ छेद वाली चार कतारों वाले बोर्ड की भी तुलना के लिए उल्लेख किया है। इसे दो ही लोग खेलते हैं। मोहेंजोदड़ों में प्राप्त दूसरी खण्डित ईंट पर मकाइ के अनुसार मूलतः तीन कतारें थीं जिनमें से प्रत्येक में चार-चार खाने थे। किन्तु उन्होंने यह भी संभावना व्यक्त की है कि हो सकता है कि पूरा बोर्ड कई ईंटों को साथ जोड़कर बनाया गया हो और यह ईंट उसका एक भाग ही हो। इस ईंट के एक आयात में गुणा (X) का चिह्न था जो खेल में 'घर' का परिचायक लगता है। मकाइ ने ठीक ही कहा है कि घर की फर्श की ईंट पर इस तरह का चौरस बना मिलना इस बात का द्योतक है कि घर के नौकर लोग विशेष रूप से उसका प्रयोग करते थे। एक ईंट पर चार कतारों में उथले गड्ढे बनाये गये हैं जिनमें गोलियों की सहातया से आजकल के बच्चों की तरह खेल खेलते थे। लोथल से भी खेलने के बोर्ड के दो नमूने मिले हैं - एक मिट्टी का और एक ईंट का (फ. XXIV, 2)।

विभिन्न प्रकार के पत्थर, सीप, पेस्ट आदि को छोटी बड़ी गोलियाँ भी मिली हैं। कुछ गोलियों पर अलंकरण भी मिलता है। मिट्टी की गोलियों पर या तो कुछ उथले से छेद बने हैं या उनकी सतह पर मिट्टी के छोटे-छोटे टुकड़े लगे हैं। सीप की गोलियों पर वृत्त के भीतर वृत्त के डिजाइन हैं। कांचली मिट्टी के कंचों पर या तो इसी तरह का 'अलंकरण' है या फिर कुछ रेखाएं छाया के तौर पर हैं। इस तरह की गोलियाँ अनेक प्राचीन सभ्यताओं के उत्खननों में पायी गयी हैं। वे मिस्र में प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल की संस्कृतियों के संदर्भ में पर्याप्त संख्या में मिली हैं और सिंधु सभ्यता में प्राप्त

गोलियों से मिलती जुलती हैं। शंख की गोलियों पर उभरा हुआ अलंकरण है जो बीच में अभिप्राय के आाकर की जगह छोड़कर शेष भाग को रगड़ने से बनाया गया था। यह विधि निश्चय ही श्रमसाध्य थी। कुछ गोलियाँ एकदम चिकनी सतह की हैं। मकाइ ने सुझाया है कि कंचे खेलने के लिए बनी गोलियों को इतनी सावधानी से बनाने की आवश्यकता नहीं थी। वे अमेरिका की मय सभ्यता का उल्लेख करते हैं जिनमें गोलियों का प्रयोग दैवी क्रियाओं के लिए किया जाता था। मिट्टी, सीप और पत्थर की बनी छोटी नुकीली कुछ शंक्वाकार वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं जिनका कदाचित् आजकल के 'नौ पिनों' (नाइन पिंस) की सहायता से खेले जाने वाले किसी खेल में पिनों के स्थान पर प्रयोग किया जाता था। इनको कंचों से निशाना मार कर गिराया जाता रहा होगा।

नृत्य भी मनोरंजन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। निःसंदेह सिंधु सभ्यता में यह कला लोकप्रिय थी। मोहेंजोदड़ों की कांसे की नर्तकी की दो आकृतियाँ और पत्थर की नृत्य करती हुई आकृति (जिसे मार्शल ने नटराज का पूर्व रूप बताया था और वासुदेवशरण अग्रवाल ने नर्तकी) तो सुप्रसिद्ध है ही (देखिये ऊ, पृष्ठ 70, 72-73)। मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर एक व्यक्ति ढोल की सी आकृति वाली वस्तु बजा रहा है। एक दूसरी पुरुष मूर्ति के कंधे से भी ढोल जैसी कोई वस्तु लटक रही है। इससे स्पष्ट है कि उस काल के लोग ढोल जैसे किसी वाद्य-यंत्र से परिचित थे। इसमें कई व्यक्ति नृत्य करते भी दिखाये गये हैं (फ. ए. 356)। कुछ विद्वानों ने सिंधु लिपि के कुछ चिह्नों को वीणा की तरह के किसी यंत्र का अंकन माना है। राव ने लोथल से प्राप्त सीप के एक उपकरण को किसी वाद्य-यंत्र का अंग माना है। गायन भी मनोरंजन का एक साधन रहा होगा, लेकिन इसके बारे में केवल कल्पना ही की जा सकती है। तत्कालीन साहित्य के अभाव में इसके साक्ष्य प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। मिट्टी के बने कुछ मुखौटे मिले हैं जिनके कुछ विद्वानों ने नाटक के पात्रों द्वारा प्रयोग किये जाने की संभावना व्यक्त की है। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा पर एक आकृति है जो नृत्य की मुद्रा में है। इसका चेहरा तो आदमी की तरह है किन्तु दुम बंदर की सी। कान काफी बड़े हैं और बंदर के जैसे नहीं हैं। मकाइ ने सुझाया है कि इसमें मुखौटा और नकली दुम लगाये हुए व्यक्ति का चित्रण अभीप्सित था।

मछली, जो समीपवर्ती नदियों से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी, दैनिक भोजन का अंग रही होगी। पर पशु-मांस संभवतः त्योहारों के अवसरों पर ही

विशेष रूप से प्रयुक्त होता रहा होगा। ऐसे अवसरों पर पशुबलि का भी आयोजन होता रहा होगा। शिकार खेलना (आ. 10, 4) और मछली पकड़ना मनोरंजन का भी साधन रहा होगा। वैसे मुख्यतः इनका आर्थिक महत्त्व था। मछली पकड़ने के कई काँटे खुदाई में प्राप्त हुए हैं। एक मुद्रा पर तीर से हिरन को मारते दिखाया गया है। एक अन्य मुद्रा पर एक मनुष्य पेड़ पर चढ़ा है। नीचे जमीन पर बाघ है। यह आखेट से संबंधित दृश्य लगता है। तांबे के बने बाणाग्र मिले हैं जो गुलेल में लगाकर पक्षी और छोटे-छोटे जानवर मारने के लिए प्रयुक्त की जा सकती थीं। कुत्ते की कई नस्लों का रूपांकन मिलता है किन्तु यह कहना कठिन है कि सिंधु सभ्यता के लोग शिकार के लिए कुत्तों का भी प्रयोग करते थे या नहीं। बाद में सिंध में कुत्तों की सहयता से सूअर का शिकार करने की प्रथा रही और एलम में भी ऐसी प्रथा थी। हो सकता है कि सिंधु सभ्यता में भी ऐसी ही प्रथा रही हो।

कुछ मुद्राओं पर बैल की आकृति के आस-पास मनुष्य भी अंकित हैं। मोडे ने इन दृश्यों को मनुष्य-वृष-युद्ध से संबंधित दृश्य का द्योतक माना है। मनोरंजन की यह प्रथा प्राचीन क्रीट की सभ्यता में बहुत लोकप्रिय थी। एक मुद्रा पर मनुष्य का दो व्याघ्रों के साथ युद्ध (?) के दृश्य का अंकन संभवतः धार्मिक महत्त्व का परिचायक है। यह कहना कठिन है कि आधुनिक सर्कस की भाँति वे लोग हिंसक पशुओं से इस तरह मल्ल-युद्ध रचकर लोक रंजन करते थे। एक मुद्रा (आ. 10, 6 सबसे ऊपर का दृश्य) पर दो बैलों को लड़ते दिखाया गया है।

कुओं के पास बैठने के लिए बेंचें बनी मिली हैं। नारियाँ आ-आकर अपनी बारी की प्रतीक्षा में वहाँ बैठती रहती होंगी और गप-शप करके और गीत गाकर मन बहलाती रही होंगी। मिट्टी के बर्तन के टुकड़े और कुछ एक मुद्राओं पर नाव का चित्रण है। कोई आश्चर्य नहीं कि यातायात के अलावा इनका प्रयोग नौका-विहार के लिए भी होता रहा हो। विशाल स्नानागार का धार्मिक महत्त्व हो सकता है, किन्तु जल विहार के लिए उसके प्रयोग की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। उस विकसित नागरिक जीवन में विभिन्न अवसरों पर प्रीतिभोजों का आयोजन भी होता रहा होगा, विशेषतः त्योहारों, धार्मिक उत्सवों और विवाह तथा अन्य विभिन्न संस्कारों के संपन्न करने में। कुछ मुद्राओं के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि कुछ उत्सवों में पशुओं को भी शोभा यात्रा में ले जाया जाता रहा होगा।

●●●

अध्याय 15

सिंधु सभ्यता की लिपि

सिंधु सभ्यता के लेख मुख्यतः सेलखड़ी की मुद्राओं, मिट्टी की मुद्रा छापों मृद्भाण्डों और ताम्रपट्टों पर ही मिले हैं। सिंधु सभ्यता की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है और विद्वानों के लिए चुनौती बनी हुई है। महादेवन और विश्वनाथन द्वारा किये हाल ही के शोध कार्य के अनुसार अभी तक सभ्यता की कुल मिलाकर 2467 अभिलिखित वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें से मोहेंजोदड़ों से 1398 तथा हड़प्पा से 891 प्राप्त हुई हैं, जो कुल का क्रमशः 56.67 और 36.12 प्रतिशत होता है। इस तरह अभिलिखित वस्तुओं का लगभग 93 प्रतिशत अकेले इन दो ही स्थलों से प्राप्त हुआ है। इसमें मुद्राएं और मुद्रा-छापें, जिनकी संख्या 2228 है, वही संपूर्ण (2467) का 90.32 प्रतिशत है। अभिलिखित ताम्रपट्टों की संख्या 113 और लेख वाले ठप्पों से अंकित मृद्भाण्डों की संख्या 83 है। उपर्युक्त गणना के पश्चात् सुरकोटड़ा और बाणावली में कुछ बर्तनों के टुकड़ों पर हड़प्पा लिपि चित्रित मिली है। अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने सिंधु सभ्यता के लेखों को पढ़ने का प्रयास किया और कुछ ने तो उन्हें सही पढ़ लेने का दावा भी किया है। इसमें से कुछ प्रयास तो निश्चय ही वैज्ञानिक विधि पर आधारित हैं, लेकिन कुछ केवल लेखक के पूर्वाग्रहों को सिद्ध करने का प्रयास मात्र लगते हैं। जहाँ तक पढ़ लेने के दावों का प्रश्न है अधिक से अधिक एक ही दावा सही हो सकता है, परन्तु अधिक संभावना यही है कि इनमें से एक भी सही नहीं है।

लिपि पढ़ने के प्रयास

अधिकांश विद्वानों ने सिंधु लिपि के चिह्नों की अन्य संस्कृतियों के लिपि चिह्नों के साथ तुलना कर उसे किसी संस्कृति विशेष के साथ जोड़ने का प्रयास किया। लेकिन कुछ चिह्न जैसे मानव-आकृति, शरीर के अवयव, पशु, वनस्पति, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि को तो विभिन्न लिपियों में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त किया जाना पूर्णतः संभव लगता है।

1925 में वैडेल नामक विद्वान ने सिंधु लिपि के उद्वाचन का प्रयास किया। वे सुमेरी सभ्यता के लोगों को भी आर्य मानकर चले और उन्हें ही

सिंधु सभ्यता का निर्माता माना। इस तरह उनके अनुसार सिंधु सभ्यता आर्य लोगों की सभ्यता हुई। उन्होंने सिंधु-लिपि का सुमेरी लिपि से तुलना कर उद्‌वाचन प्रस्तुत किया, और लेखों में वेद, रामायण और महाभारत में उल्लिखित महापुरुषों के नाम पढ़ डाले। पशुओं की आकृतियों को भी उन्होंने लेख का ही अंग माना। निश्चय ही उद्‌वाचन का यह प्रयास वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

1931 में लैंग्डन ने और बाद में सी.जे. गैड्ड और सिडनी स्मिथ ने भी इन लेखों के बारे में यह धारणा व्यक्त की कि ये संस्कृत भाषा में लिखे हैं। स्मिथ ने तो मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर अंकित तीन पंक्तियों वाले लेख के चिह्नोंके वाचन के बारे में जो अनुमान लगाया है वह इस प्रकार है – पहली पंक्ति के सिरे पर का जो चिह्न है वह उनके अनुसार किसी शब्द का अन्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया लगता है और इस संदर्भ में यह शब्द किसी नाम का वाचक है। तीसरी पंक्ति में जो लेख है वह भी नाम लगता है। बीच की पंक्ति में III तीन चिह्न हैं जो पुत्र के द्योतक लगते हैं। संक्षेप में उनके अनुसार तीन पंक्तियों में से प्रथम से नाम, मध्य से पुत्रार्थक शब्द, और अंतिम पंक्ति में नाम है। नाम क्या थे यह तो वह नहीं बता सके, लेकिन बीच के अक्षरों को उन्होंने संस्कृत 'पुत्र' का द्योतक माना और इसके लिए कुछ तर्क प्रस्तुत किये। बीच की तीन लकीरों को उन्होंने 'त्रि' (तीन) के द्योतक होने की संभावना मानी और वर्णमाला के संदर्भ में 'त्रि' को त्र् का द्योतक माना। पहला अक्षर = पु, III = त्र्, और = अ, तीनों अक्षर पु + त्र् + अ = पुत्र। स्मिथ का यह प्रयास रोचक अवश्य है, किन्तु मध्य के चिह्नों को यदि पुत्र अर्थ का द्योतक मान भी लिया जाय तो भी उसके लिए संस्कृत भाषा का शब्द 'पुत्र' ही प्रयुक्त हुआ है यह कहना कठिन है। पुनश्च तीन लकीरों को 'त्रि' फिर 'त्रि' से 'त्र्' और फिर अलग से 'अ' का जोड़ना यह एक क्लिष्ट कल्पना लगती है। इसे बिना किसी अन्य पुष्ट साक्ष्य के स्वीकार करना कठिन है।

प्राणनाथ ने ब्राह्मी लिपि के साथ सिंधु लिपि का तुलनात्मक अध्ययन कर ब्राह्मी लिपि के साथ सिंधु सभ्यता के लिपि-चिह्नों की ध्वनि निर्धारण करने की चेष्टा की है। उनका अनुमान है कि अक्षर व्जंयन हैं और कुछ पर स्वर मात्राएं लगी हैं। उनके अनुसार भाषा संस्कृत या प्राकृत थी। फ्लिण्डर्स पीट्री, जो मिस्र सभ्यता के अधिकारी विद्वान हैं, ने यह मत व्यक्त किया है कि ये मुद्राएं राजकर्मचारियों की हैं और मिस्र की प्राचीन लिपि के तुलनात्मक अध्ययन से इसे पढ़े जाने की संभावना है। इन्होंने अपने ढंग से कुछ राजपदों के

नाम भी पढ़ डाले। लेकिन पीट्री के इस प्रयास को सही नहीं माना जा सकता। पहले तो मुद्राओं की संख्या इतनी है और उनमें इतनी विविधता है कि इतने सरकारी पदाधिकारियों के होने की संभावना कम है। फिर एक ही घर से कई मुद्राएं मिली हैं; ऐसा मानना ठीक नहीं होगा कि एक ही घर में कई पदाधिकारी थे। मेरिग्गि (Meriggi) के अनुसार लेख केवल पदवाचक नहीं हो सकते। उनके अनुसार ये लिपि भाव-ध्वनि लेखन शैली पर आधारित लगती है और इसके कुछ चिह्न भावचित्र और कुछ ध्वनिमूलक थे। इन्हें पहचानने के लिए उन्होंने अधिकांशतःहिताइत लेख चिह्नों का सहारा लिया जो उनके अनुसार सिंधु लिपि से बहुत मिलते-जुलते हैं। लेकिन मेरिग्गि ने यह नहीं प्रतिपादित किया कि लेखों की भाषा भी हि[illegible]त है। हेवेर्जा (Hevesy) ने सिंधु लिपि और ईस्टर द्वीप की लिपि में समानता बतायी है और यह मत व्यक्त किया है कि ईस्टर द्वीप की लिपि से सिंधु लिपि का विकास हुआ था। पर इन दो लिपियों की समानता ऊपरी लगती है और इस मत को स्वीकार करने में सबसे कठिनाई यह है कि ईस्टर द्वीप की लिपि की तिथि ज्ञात नहीं है। अधिकांश विद्वान् इसे कुछ शताब्दी पूर्व का ही मानते हैं और कई विद्वानों के अनुसार ईस्टर द्वीप के फलकों पर प्राप्त चिह्नों को लेख कहा ही नहीं जा सकता।

1934 में हण्टर ने इस लिपि को पढ़ने का प्रयास करते हुए उसका वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण किया। इन्होंने कहा कि सिंधु लिपि एक विशिष्ट लिपि है, पर सुमेर और एलम की लिपियों से मिलती-जुलती है। लेखों को उन्होंने नाम और पद का सूचक माना और अपना यह मत व्यक्त किया कि या तो इस सभ्यता के लोग द्रविड़ थे या फिर किसी नदी अथवा समुद्र तट वासी थे। हिताइत सभ्यता के फ्रांसीसी विद्वान ह्रोजनी (Hrezny) के अनुसार ये लोग आदि हिताइत थे जो भा-योरपीय जाति की एक शाखा थी। हिताइत भाषा के आधार पर उन्होंने सिंधु लिपि को पढ़ने का प्रयास किया। मेसोपोटामिया के प्राचीन नगर उर की एक प्रसिद्ध मुद्रा (जिसे अधिकांश विद्वान् सिंधु सभ्यता की मानते हैं) पर सुमेरी लिपि में अंकित लेख को वे 'सक् कुसि' पढ़ते हैं और इसे सग्कुसि के लिए प्रयुक्त मानते हैं। 'कुसि' को वे क्षेत्र का नाम मानते हैं जिसमें सिधु सभ्यता के नगर स्थित थे और उन्होंने सिंधु सभ्यता की उनसठ मुद्राओं पर 'कुसि' शब्द पढ़ डाला, जबकि इन सभी उनसठ मुद्राओं के चिह्न पूर्णतः समान नहीं हैं। कालक्रम की दृष्टि से सिंधु सभ्यता हिताइत लेखों से पुरानी है अतः ह्रोजनी के मत का आधार ही ठीक नहीं है।

फादर हेरास ने यह मत व्यक्त किया है कि हड़प्पा वासी द्रविड़ थे, आर्य नहीं। ये लोग भूमध्यसागरीय जाति की शाखा के थे और द्रविड़ भाषा से संबद्ध भाषा का प्रयोग करते थे। हेरास इस भाषा को प्राक् द्रविड़ी नाम देते हैं, जो उनके अनुसार आज की द्रविड़ भाषाओं के मूल में थी। उनका मत है कि प्रत्येक चिह्न एक पूर्ण शब्द का द्योतक है, अक्षर या सिलेबल का नहीं। हेरास ने इन लेखों में, अपने ढंग से, कुछ नाम ही नहीं, अपितु कविताओं के अंश भी पढ़ डाले। लेकिन हेरास के वाचन में त्रुटियाँ हैं। एक तो वह 'प्राक्द्रविड़' भाषा का स्वरूप निर्धारित नहीं करते हैं और दूसरे वह इसके लिये बहुत बाद के तमिल लेखों का सहारा लेते हैं। फिर इनके वाचनों में समरूपता नहीं है।

स्वामी शंकरानन्द सिंधु सभ्यता के लोगों को आर्य मानकर चले और उन्होंने तांत्रिक प्रतीकों के आधार पर लिपि को पढ़ने का प्रयास किया। बेनीमाधव बरुआ ने भी इन चिह्नों को तांत्रिक चिह्न माना है, किन्तु उनके निष्कर्ष स्वामी शंकरानन्द से भिन्न हैं। कृष्णराव भी लेखों की भाषा संस्कृत मानते हैं। सुधांशु कुमार राय सिंधु लिपि को आदि ब्राह्मी का मूल मानते हैं। टी.एन. रामचन्द्रन भी मुद्रा लेखों को वैदिक कर्मकाण्ड से संबंधित मानते हैं।

फतेह सिंह का कहना है कि सिंधु सभ्यता की मुद्राओं का प्रयोग धार्मिक पुस्तकों की छपाई के लिए होता था। उनके अनुसार भाषा वैदिक संस्कृत के निकट है तथा प्रतीकात्मक है। उन्होंने ब्राह्मणों व उपनिषदों में लिखे मंत्र और वैदिक देवी-देवताओं के नाम पढ़े हैं। वे हड़प्पा सभ्यता में एक नहीं अनेक (कम से कम चार) लिपियों के प्रयोग की बात कहते हैं। मुद्राओं पर अंकित एक-शृंगी पशु को विशिष्ट प्रकार का अज मानते हैं और उसके लिए वैदिक साहित्य से प्रमाण देते हैं।

रूसी विद्वानों के एक दल ने, जिसके सदस्य क्नोरोजोव वोल्कोव, गुरोव और अलेक्सेयेव थे, कम्प्यूटर की सहायता से यह जानने का प्रयास किया कि सिंधु लिपि के अमुक चिह्न विभक्ति, 'लिंग', काल, रुपिम (morphemes) इत्यादि के द्योतक हो सकते हैं। अपने निष्कर्षों की विभिन्न ज्ञात भाषाओं के साथ तुलना करने पर वे इस परिणाम पर पहुँचे कि इस दृष्टि से सिंधु सभ्यता के लेख द्रविड़ भाषा के अधिक निकट हैं। उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया कि कुछ अपवादों को छोड़कर, लिपि दाएं से बाएं पढ़ी जानी चाहिए।

फिनलैंड के चार विद्वानों की एक टोली ने हाल ही में इस लिपि के

उद्‌वाचन का प्रयास किया। इस टोली के सदस्य थे - भारतीय-विद्या-विशारद अस्को पार्पोला, भाषाविद् पी. आल्तो, असीरीय-विद्याविद् सिमोपार्पोला और गणितज्ञ एस. कोस्केन्नेमि। लिपि पढ़ लेने के इस टोली के दावे की काफी धूम रही और दिल्ली के एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक (स्टेट्समैन) ने तो उस पर संपादकीय ही लिख डाला। इस प्रयास का कुछ विस्तार से उल्लेख करना समीचीन होगा। उपर्युक्त विद्वान हड़प्पा संस्कृति के मूल को द्रविड़ ही मानते हैं। उन्होंने भी कौन सा चिह्न आदि, मध्य या अंत में कितनी बार आया है और कौन चिह्न जोड़े या समूह में कितनी बार आते हैं, इसका वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण किया और इनके लिंग, कारक आदि होने की संभावना का अर्थ लगाने की चेष्टा की। वे एक चिह्न को पूरे शब्द का वाचक (लोगोग्राफिक) मानते हैं।

सिंधु लिपि में कंघी के आकार का एक चिह्न है। द्रविड़ भाषा में कंघी को पेंटिका कहते हैं, और पेंटि का अर्थ इसी भाषा में 'स्त्री' भी है। अतःइन फिन विद्वानों ने कंघी जैसे चिह्न को स्त्री माना और लेख-संदर्भ में उसी स्त्रीलिंग का द्योतक बताया। ये विद्वान पहले के वैज्ञानिक प्रयासों के विश्लेषणों से भलीभाँति परिचित थे। उनका प्रयास नवीनतम वैज्ञानिक प्रयासों में है। किन्तु जैसा कि ब्रजवासी लाल और टी. बरों का मत है, ये प्रयास सराहनीय होते हुए भी विसंगतिपूर्ण हैं। यह भाषा द्रविड़ ही है और लिपि के चिह्नों की पहचान सही की गई है, इसका कोई ठोस आधार नहीं है। कुछ चिह्न ऐसे भी हैं जिनकी पहचान एक से अधिक वस्तुओं से की जा सकती है और की भी गई है। यथा फिन विद्वान एक चिह्न को 'हाथ' मानते हैं और इसका अर्थ व्यापार से लेते हैं, जबकि उपर्युक्त रूसी विद्वान इसे एक 'मुट्ठी-भर' का सूचक मानते हैं और इस माप का पैमाना कहते हैं। इस संदर्भ में हमें एक कहानी याद आती है जिसमें फ्रांसीसी भाषा से अनभिज्ञ एक भूखे जर्मन ने वर्षा के दिन फ्रांस के एक होटल में बैठकर कुकुरमुत्ता से बनी खाद्य-सामग्री खाने की इच्छा से उसका चित्र बना कर होटल के परिचायक को दिया, और बेसब्री से वांछित भोज्य-सामग्री की प्रतीक्षा करता रहा। कुछ समय के बाद वह परिचायक आया और उसने उस जर्मन के हाथ में एक छाता थमा दिया।

अगर सिंधु सभ्यता की भाषा को द्रविड़ मान लिया जाय तो आशा यही की जानी चाहिए कि उसका व्याकरण और प्राचीन तमिल का व्याकरण एक जैसा होगा। फिर विद्वानों (जिन्होंने इसे द्रविड़ों की कृति माना है) के निष्कर्ष इस दृष्टि से खरे नहीं उतरते। फिन विद्वानों ने कंघी और बर्तन के चिह्नों की क्रमशः लिंग और कारक का द्योतक माना है। किन्तु विशेषज्ञों का कथन है कि

वह द्रविड़ भाषाओं के व्याकरण के विपरीत है, जिसके अनुसार अंत के चिह्न को कारकवाची चिह्न होना चाहिए, लिंगवाचक नहीं।

शि. रंगनाथ राव का कहना है कि परवर्ती सिंधु लिपि, जैसा कि लोथल और काठियावाड़ के कुछ अन्य क्षेत्रों के साक्ष्य से स्पष्ट है, के लगभग 75 प्रतिशत वर्ण समकालीन सेमेटिक वर्णों से मिलते हैं। सिंधु सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया से घनिष्ठ संबंध था ही। वे उच्चारण की दृष्टि से हिताइत और सिंधु सभ्यता की भाषा में पर्याप्त समानता मानते हैं। उनका कहना है कि लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन मुद्राओं का प्रयोग मुख्यतः शासकों ने ही किया था और इनमें कुछ नाम वैदिक साहित्य में वर्णित ऋषियों के हैं तथा कुछ भौगोलिक। उनकी भाषा भारोपीय थी। एक लेख में वह मल्ह पढ़ते हैं। उन्होंने इसे मेसोपोटामिया के लेखों में प्राप्त मेलुह्ह का द्योतक माना है, जिसे अधिकांश विद्वान हड़प्पा सभ्यता के किसी स्थल का द्योतक मानते हैं।

यों तो अगर लिपि पढ़ भी ली जाय पर लेख की भाषा का ज्ञान न हो तो पढ़ लेने पर भी लेख का अर्थ निकालना कठिन है। दूसरी ओर, भाषा की निश्चित रूप से जानकारी होने पर भी यदि जिस लिपि में वह लिखा है उसका ज्ञान नहीं हो तो भी लेख पढ़ना कठिन होता है। फिर भी इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में लिपि के उद्वाचन की संभावना कुछ बढ़ जाती है। लेकिन ऐसे लेखों का पढ़ना जिसके न भाषा के बारे में ही जानकारी है और न लिपि के बारे में[1], कितना दुष्कर है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, और सिंधु सभ्यता के लेख इसी अंतिम श्रेणी में आते हैं।

लिपि की सामान्य विशेषताएँ

लिपि पढ़ने के लिए किये गये विभिन्न प्रयासों की जानकारी कराने के पश्चात् लिपि के संबंध में निम्नलिखित कुछ ऐसी तर्कसंगत बातों का उल्लेख

---

1. पुराविद् साधारणतया यह मानते हैं कि लेखन कला का प्रारंभ सर्वप्रथम मेसोपोटामिया में हुआ और वहीं से फिर मिस्र वालों ने इस कला के विकास की प्रेरणा ली। जो विद्वान इस बात की संभावना मानते हैं कि सिंधु सभ्यता ने भी प्रेरणा मेसोपोटामिया से ली, वे भी एक मत से यह घोषित करते हैं कि केवल भाव ही ग्रहण किया और जिस विकसित रूप में हम सिंधु लिपि को पाते हैं वह मेसोपोटामिया से पर्याप्त भिन्न है। विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग सिंधु भाषा को बलूचिस्तान में द्रविड़ प्रकार ब्राहुई भाषा की तरह की भाषा, मुण्डा वर्ग की भाषा, द्रविड़ भाषा और भारोपीय भाषा माना है।

करना समीचीन होगा जो सामान्य विशेषताओं के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं :-

1. यह लिपि अपनी अलग विशिष्टता लिए है और अन्य प्राचीन, अर्वाचीन देशी और विदेशी लिपियों से उसकी तुलना करने पर समानता की अपेक्षा भिन्नता ही अधिक दिखाई देती है। इसलिए इसके कुछ अक्षरों की तुलना जहाँ प्राचीन मेसोपोटामिया, मिस्र आदि की लिपि के अक्षरों से की गई है, वहाँ कुछ ने इसे सुमेरीय, पूर्व-एलैमाइट (प्रोटोएलेमाइट) से, कुछ ने मिनोअन से, कुछ ने हिताइत से और कुछ ने ईस्टर द्वीप की लिपि से जोड़ा है। ऐसी भी संभावना व्यक्त की गई है कि नव पाषाण-काल की कोई लिपि रही होगी जिससे इन विभिन्न संस्कृतियों के लोगों ने अपने-अपने ढंग से विभिन्न लिपियों का विकास किया हो, फलस्वरूप उन लिपियों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व स्थिर हुआ हो।

2. जहाँ तक लिपि के स्वरूप का प्रश्न है संसार की विभिन्न लिपियों का अध्ययन करने के पश्चात् विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लिपि का स्वरूप निम्नलिखित में से ही एक रहा होगा चित्रात्मक (Pictographic) भाव-चित्रात्मक (ideographic) जिसमें प्रत्येक चिह्न एक शब्द का द्योतक होता है, अक्षर-सूचक (syllabic) जिसमें एक चिह्न एक अक्षर (सिलेबिल) का द्योतक होता है और वर्णानुक्रमिक (alphabetic) जिमसें एक चिह्न एक वर्ण का द्योतक होता है। भाव चित्रात्मक लिपि में भावचित्रों की संख्या बहुत होती है। चीनी लिपि इसी वर्ग की है, और उसमें प्रयुक्त भावचित्रों की संख्या दो-तीन हजार से भी अधिक है। लेकिन सिंधु सभ्यता की लिपि के चिह्नों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। फिर भी लिपि के कुछ चिह्नों की पहचान विभिन्न वस्तुओं से की जा सकती है, यथा, मनुष्य, मछली, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वनस्पति (जैसे पीपल की पत्ती), मानव हाथ और पाँव और शरीर के अन्य अंग, सींग, पहिया, घड़ा, छत्र, कुर्सी, मेज, धनुष-बाण इत्यादि। अक्षर-चिह्न को किसी वस्तु से ठीक पहचान कर भी ली जाय तब भी यह कहना कठिन है कि उसका प्रयोग किस संदर्भ में हुआ है। सीधी लकीरों के अंकों के द्योतक होने की संभावना है, पर अंकों का प्रयोग किस संदर्भ में हुआ है। कहना कठिन है; ऐसा भी संभव है कि किसी संदर्भ में उनका प्रयोग बहुवचन दिखाने के लिए हुआ है।

3. जिस रूप में लिपि प्राप्त है वह आदिम लिपि नहीं अपितु पर्याप्त विकसित लिपि का उदाहरण है; और इस विकसित स्थिति तक पहुँचने के लिए शताब्दियों का समय अपेक्षित है। साधारणतः यह देखा गया है कि लिपि आदिम रूप से जैसे-जैसे विकसित होती जाती है। इस संदर्भ में यह बताना समीचीन होगा कि मेसोपोटामिया में हड़प्पा सभ्यता के लगभग समकालीन पूर्व-राजवंश काल की लिपि में लगभग 900 अक्षर-चिह्नों का प्रयोग होता था, वहाँ यदि हम अक्षरों के परिवर्तित रूपों को हटा दें तो हड़प्पा सभ्यता के लेखों में प्रयुक्त चिह्नों की संख्या लगभग तीन सौ ही रह जाती है। यों चिह्नों और इसी तरह के कुछ अन्य चिह्नों को छोड़ दिया जाय तो कुछ 27 चिह्न वस्तुओं के द्योतक और 27 चिह्न ज्यामितीय ही बाकी बचते हैं। महादेवन ने 410, स्मिथ और गैड्ड ने 396, हण्टर ने 250, सोवियत और फिन विद्वानों ने 300, हेरास ने 241, फेयरसर्विस ने 350 और 425 के बीच चिह्नों की संख्या मानी है। चिह्नों की संख्या के संबंध में सबसे छोटी संख्या शि० रंगनाथ राव ने सुझाई है। उनका कहना है कि पूर्ववर्ती विद्वानों ने चिह्नों की संख्या अधिक इसलिए आंकी कि संयुक्ताक्षरों को नहीं पहचाना गया। उनके अनुसार शुरू में लगभग 52 ही मूल चिह्न थे और बाद में हड़प्पा सभ्यता के अंतिम चरण में इनकी संख्या केवल 20 ही रह गई। विभिन्न संयुक्ताक्षरों के कारण चिह्न भिन्न-भिन्न लगते हैं। दूसरी बात यह है कि व्यंजनों पर स्वर की मात्राएं लगाई गई हैं जिससे भी अक्षर-चिह्नों में अंतर आ गया है जिन्हें विद्वानों ने भिन्न चिह्न मान लिया।

4. मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में सभ्यता का जीवनकाल विद्वानों ने 500 वर्ष से 1000 वर्ष तक आंका है। इस दीर्घ काल में इस सभ्यता की लिपि में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ नहीं दिखाई देता। यों हाल ही में लोथल और काठियावाड़ में हड़प्पा संस्कृति के अन्य स्थलों से प्राप्त कुछ लेखों के आधार पर शि. रंगनाथ राव ने यह मत व्यक्त किया है कि इस क्षेत्र में समय के साथ-साथ लिपि में भी कुछ परिवर्तन हुए थे।

5. प्राप्त लेखों में कोई विशाल सार्वजनिक लेख, कोई व्यक्तिगत या व्यापारी संबंधी पत्र, ऐतिहासिक लेख या प्रशस्ति अथवा साहित्यिक कृति नहीं है। लेख जो मिले हैं वे सभी खुदे हुए हैं (या बर्तनों के संदर्भ में लेखों के ठप्पे हैं), और बेलोच हैं। स्याही से भोजपत्र या कपड़े पर लिखा हुआ या गीली मिट्टी पर कलम से लिखा हुआ जिसमें प्रवाह के साथ लिखने

की संभावना होती है, एक भी लेख नहीं मिला। सुरकोटडा और बणावली से थोड़े से बर्तनों के टुकड़े मिले हैं जिन पर स्याही से अक्षर चिह्नित हैं। पर उपलब्ध उदाहरणों में बहुत थोड़े ही एक साथ लिखे गये हैं। यों तांबे या पत्थर पर बड़े लेख का न मिलना इस बात का द्योतक हो सकता है कि उस काल में लेख कपड़ा या भोजपत्र जैसी अपेक्षाकृत शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं पर लिखे जाते रहे होंगे।[1] इसके विपरीत फेयरसर्विस का कहना है कि बड़े लेख और प्रवाहमय लेखों का न मिलना इस बात का द्योतक है कि लेखन का प्रयोग सीमित उद्देश्य के लिए था। चूँकि लेख अधिकांशतः मुद्राओं पर मिलते हैं अतः यह लिपि मात्र मुद्रा-लेखों के लिए प्रयुक्त लगती है।

लिपि लिखने की दिशा

इस लिपि में क्या लिखा है यह तो रही दूर की बात, इसके लिखने की दिशा के बारे में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। कोई उसे ब्राह्मी की तरह बायें से दायें लिखी गई बताता है और कोई खरोष्ठी की तरह दायें से बायें। कोई उसे ऐसी (बूस्त्रोफेदन) लिपि मानता है जिसमें विभिन्न पंक्तियों में लेखन की दिशा क्रमशः बायें से दायें और दायें से बायें बदलती रहती है। विद्वानों ने मुद्राओं तथा अन्य उपकरणों पर अंकित लेखों के कुछ चिह्नों को प्रारम्भ का, कुछ को अंत का, और कुछ को संख्यावाचक निर्धारित करने का प्रयास किया है। उनके स्वरूप और लेख में उनकी स्थिति से इस तरह का कुछ अनुमान लगाया जा सके तो इससे लिपि के लिखने के रूख का पता चल सकता है। अनेक लेखों में एक ही प्रकार के क्रम में आने वाले अक्षरों का भी विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। ये प्रयास निश्चय ही वैज्ञानिक विधि पर आधारित हैं।

लगभग 99% ऐसी मुद्राओं में, जिन पर अभिप्राय और लेख दोनों ही अंकित हैं, पशु को दायीं ओर मुख किये दिखाया गया है। चूंकि साधारणतः पशुओं का अंकन सिर के भाग से ही प्रारंभ किया जाता है। चूँकि दक्षिणाभिमुख

---

1. यों मकाइ ने मोहेंजोदड़ों से प्राप्त पक्की मिट्टी की दो पट्टिकाओं की पहचान लिखने की पट्टिका से की है, जिन पर उनके अनुसार स्याही से अक्षर लिखते थे तथा उन्हें मिटा करके पुनः प्रयोग करते थे। एक पट्टिका 17.5 सेमी. लम्बी, 7.5 सेमी. चौड़ी और 1 सेमी. मोटी हैं; दूसरी 8 सेमी. लम्बी, 7.97 सेमी. चौड़ी और 1.8 सेमी मोटी है। पर इनकी लेखन पट्टिकाओं के रूप में पहचान संदेह से परे नहीं है।

सिर इस बात का द्योतक लगता है कि अक्षरों को दायीं ओर से बायीं ओर लिखा जाता रहा होगा। इस संदर्भ में यह बताना समीचीन होगा कि परवर्ती ऐतिहासिक काल की मुद्राओं पर, जिनमें ब्राह्मी लिपि में लेख और पशुओं की आकृतियाँ हैं, पशु बाईं ओर सिर किये दिखाये गये हैं, जो कि सिर से प्रारम्भ कर चित्र बनाने की विधा, बायें से दायीं ओर को लिखी जाने वाली ब्राह्मी लिपि के अनुरूप है। यह निष्कर्ष फतेह सिंह की उस धारणा से अधिक तर्क संगत लगता है जिसके अनुसार हड़प्पा सभ्यता की मुद्राओं पर दाईं ओर मुख वाले (दक्षिणाभिमुख) पशु देवत्व के प्रतीक हैं और बाईं ओर मुख वाले (वामाभिमुख) पशु दैत्यत्व के; विशेष रूप से इसलिए कि वे हड़प्पा संस्कृति और वैदिक संस्कृति में अन्तर नहीं करते और उनकी इस धारणा को मान ऐतिहासिक काल की ब्राह्मी लिपि वाली मुद्राओं पर वामाभिमुख पशुओं से दैत्यत्व दिखाने का अभिप्राय मानना होगा जो ठीक नहीं। मकाइ ने अपनी पुस्तक 'फर्दर एक्सवेशंस ऐट मोहेंजोदड़ों' में दस या ग्यारह ऐसी मुद्राओं का उल्लेख किया है जिनकी छापों में पशु वामाभिमुख दिखेंगे, बाकी (जिनकी संख्या सैकड़ों में है) सब में दक्षिणाभिमुख। उनका सुझाव है कि थोड़े से अपवाद इसलिए हैं कि शायद कलाकार ने इन मुद्राओं में पशुओं की आकृति का आलेखन करने में किसी अन्य की छाप की नकल कर दी। हमें मकाइ का यह सुझाव काफी सही लगता है।

मोहेंजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा पर दो पंक्तियों का लेख है। एक पंक्ति तो पूरी भरी है। दूसरी पंक्ति में पहली पंक्ति के बायीं ओर के अंतिम अक्षर के नीचे ‾\/‾ का चिह्न है। यह चिह्न अन्य कई मुद्राओं के लेख पंक्तियों में एक छोर पर मिलता है। स्पष्टतः जगह की कमी के कारण ही इस अक्षर को दूसरी पंक्ति में लिखना पड़ा। निश्चय ही अंत में आने वाला यह चिह्न प्रारंभिक चिह्न नहीं हो सकता क्योंकि यदि यह प्रारंभिक चिह्न होता तो उसकी पहली पंक्ति में किनारे से पहला अक्षर होना चाहिए था। मोहेंजोदड़ों की ही एक अन्य मुद्रा पर लेख लिखने वाले को जगह की कमी महसूस हुई तो उसने बायीं ओर के चिह्नों को एक दूसरे के काफी निकट लिखा, किन्तु जब फिर भी जगह पूरी नहीं हुई तो एक अक्षर नीचे की पंक्ति में लिख दिया। इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि लेख दायें से बायें लिखा गया, और दूसरी पंक्ति में जो चिह्न है वह लेख के अंत के चिह्न का द्योतक है। अगर इस तरह का चिह्न, अन्य लेखों के संदर्भ में, लेख के बीच में आता है तो इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि वहाँ पर वह वाक्य के अंत का द्योतक है।

गैड्ड ने मोहेंजोदड़ों की एक ऐसी मुद्रा का उदाहरण दिया है जिस पर केवल लेख ही हैं, पशु की आकृति नहीं लेख अपेक्षाकृत कुछ बड़ा है और मुद्रा के वर्गाकार क्षेत्र में तीन ओर है। ऊपरी ओर बाएं तरफ के किनारों पर तो पूरे भाग में और नीचे के किनारे के बड़े हिस्से पर है। इसके अक्षरों के सिरे को देखते हुए 90 अंश के कोण पर मुद्रा घुमाने पर ही लेख को पढ़ने की सही स्थिति मिलती है। स्पष्ट है कि मुद्रा को हाथ से घुमा कर लेख पढ़ा जाना अभिप्रेत था और दूसरे तथा तीसरे वर्ग (सेक्शन) की स्थिति इस बात की द्योतक है कि उसे दायीं ओर घुमाया गया था। दूसरे शब्दों में, पढ़ने वाले ने ऊपर दिये क्रम में पहले और सबसे लम्बे भाग के लिखे लेख को दायीं से बायीं ओर पढ़ाना शुरू किया, फिर मुद्रा को 90 अंश पर घुमाया और दूसरे वर्ग को फिर दायें से बायें पढ़ा और फिर इसी तरह तीसरे वर्ग को भी पढ़ा। यह मुद्रा लेख लिपि के दायें से बायें पढ़ जाने का महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करता है।

लिपि की दिशा के निर्धारण में भी ब्रजवासी लाल के हाल ही के प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कालीबंगाँ की खुदाई से प्राप्त एक मिट्टी के भाण्ड के खण्ड पर उत्कीर्ण चिह्नों में एक चिह्न अपने पार्श्ववर्ती दाएं चिह्न को काटता है। ध्यानपूर्वक निरीक्षण से, जो रेखा पहले लिखे अक्षर को काटेगी वह लगातार एकसार चलती दिखेगी जबकि जिस रेखा को काटा गया है वह काटे हुए स्थान पर एक सार न दिखकर कटी दिखेगी। अणुवीक्षण यंत्र से यह और भी स्पष्ट दिखेगा। इससे लाल ने निष्कर्ष निकाला कि चिह्नों के लिखने के पूर्वापर संबंध को निश्चित किया जा सकता है। इस संदर्भ में उन्होंने खरोष्ठी लिपि (जिसका दाएं से बाएं ओर लिखा जाना निश्चित रूप से ज्ञात है) के ऐसे लेख का उदाहरण दिया है जिसमें कालीबंगाँ के समान बाएं अक्षर की रेखा दाएं अक्षर की रेखा को काटती है। निश्चय ही श्री लाल का लिपि की दिशा के निर्धारण में यह वैज्ञानिक प्रयास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय है और स्पष्ट करता है कि लेख दायीं ओर से बायीं ओर को लिखा गया है।

लेखों का अनुमानित स्वरूप

एक प्रकार के जानवर की आकृति अनेक मुद्राओं पर मिली है, पर उन पर अंकित लेखों में समानता नहीं है। ऐसा देखा गया है कि अनेकशः विभिन्न प्रकार के लेखों पर एक ही अभिप्राय मिलता है और समान लेख वाली मुद्राओं

पर विभिन्न अभिप्राय। निश्चय ही एक ही तरह के अभिप्राय वाली मुद्राओं के लेख की विभिन्नताओं का कारण पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग नहीं माना जा सकता । इससे कम से कम इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मुद्राओं पर अंकित लेख और अभिप्रायः में परस्पर सामंजस्य नहीं है। अथक प्रयास के बाद अगर कभी विद्वान इस लिपि को पढ़ने में सफल हो भी गये तो भी हमें इतिहास निर्माण के लिए कोई बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री शायद ही मिल सके, क्योंकि इन छोटे लेखों में अधिक अभिव्यक्ति की गुंजाइश नहीं हो सकती। शायद व्यक्तियों के नाम, और कुछ में इनके साथ पद, पिता, संस्था या फर्म का नाम, या धार्मिक तंत्र-मंत्र[1] बस ऐसा ही कुछ होने की संभावना लगती है। यह भी संभावना व्यक्त की गई है कि मुद्राओं पर विभिन्न पशुओं की आकृतियां समाज के विभिन्न वर्ग द्वारा प्रयुक्त की गयी थी। (इस संभावना के अन्तर्गत जिन जानवरों का मुद्राओं पर अल्प संख्या में चित्रण है यथा ककुद्वान वृषभ और हाथी, वे उच्च वर्ग, यथा पुरोहित वर्ग, के द्योतक हैं)। अथवा विभिन्न व्यापारियों ने अपनी मुद्राओं पर अपनी श्रेणी के प्रतीक के रूप में विभिन्न पशुओं का अंकन किया है। कुछ ने ऐसी भी धारणा व्यक्त की है कि हो सकता है कि कुछ जानवरों का अन्यों की अपेक्षा अधिक कर्मकाण्डी महत्त्व रहा हो। यदि ऐसा था तो क्या मुद्रा लेख मंत्र हो सकते हैं? फतेह सिंह का कहना है कि सिंधु सभ्यता में मुद्राओं का प्रयोग धार्मिक पुस्तकों की छपाई के लिए होता था। यों तो वैसे भी इतने प्राचीन काल में छापेखाने के होने की संभावना कम ही लगती है, और यदि छपाई के लिए इनका प्रयोग हुआ होता तो वहाँ पर छापेखाने रहे होंगे यहाँ पर बड़ी संख्या में मुद्राएं मिलनी चाहिए। उत्खनन के दौरान ये मुद्राएं यत्र-तत्र, कम अधिक संख्या में, मिली। ईराक में कपड़े पर हड़प्पा सभ्यता की मुद्रा छाप का मिलना इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि इनका प्रयोग मुद्रा-छाप लगाने के लिए होता था। यों प्राचीन ऐतिहासिक काल के भारतीय एवं विदेशी साक्ष्यों से भी इनके मुद्रा के रूप में ही प्रयुक्त होने की संभावना लगती है। शायद मुद्रा बनाने वाले विभिन्न आकार की और विभिन्न अभिप्राय वाली मुद्राएं बना कर रखते थे और ग्राहक उनमें से किसी को पसंद

---

1. इस सिलसिले में कालीबंगाँ के गढ़ी वाले टीले में (जिसके दक्षिण में अग्निवेदी युक्त चबूतरा है) सात एक जैसे लेख वाली मुद्राओं का पाया जाना उल्लेखनीय है। चूँकि इनके पृष्ठ भाग पर रस्सी के निशान नहीं हैं जो उनके मुहरबंद करने के संदर्भ में मिलने चाहिए, अतः इस बात की अधिक संभावना है कि इनमें धर्म संबंधी कुछ फार्मूले लिखे हैं।

कर उन पर मुद्रा-निर्माता से अपना नाम व पद आदि खुदवा लेते थे। यही कारण है कि कभी-कभी जगह की कमी के कारण लेख बराबर अक्षरों में ठीक तरह नहीं लिखे जा सके, और कभी लेखों के शेषांश के एक या दो अक्षरों को दूसरी पंक्ति में लिखना पड़ा। यदि ऐसी बात नहीं होती और मुद्रा बनाने वाले को पहले से ही मालूम होता कि लेख कितना बड़ा है तो वह अक्षरों को ठीक तरह लिखता और उसी हिसाब से जानवर की आकृति छोटी बना देता।

क्या सिंधु लिपि ब्राह्मी लिपि की मूल है?

हड़प्पा सभ्यता की खोज से बहुत पहले ही कर्निंघम ने यह मत व्यक्त किया था कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव किसी चित्रलिपि से हुआ है। भारत में ही इस तरह की लिपि हड़प्पा सभ्यता के अन्तर्गत मिलने से कर्निंघम के मत को बल मिला। इस मत के मानने वाले अन्य विद्वानों में स्मिथ, लैंग्डन गैड्ड, हंटर, सुधांशु कुमार राय आदि उल्लेखनीय हैं। राय का कहना है कि भारत की परंपरागत लिपियाँ और ब्राह्मी दोनों ही सिंधु लिपि से ली गई हैं। परंपरागत लिपियाँ सिंधु लिपि से सीधे ही ली गई हैं, जबकि ब्राह्मी मुख्य धारा से हटी हुई है। उनके अनुसार ब्राह्मी को संभवतः बुद्ध ने ही अपने उपदेशों (जो कि ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों से भिन्न थे) के प्रचार के लिए प्रयोग किया था। अशोक भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था और इसलिए उसने भी ब्राह्मी लिपि का ही प्रयोग किया। किन्तु चूँकि अशोक के पहले के ब्राह्मी लेख न के बराबर हैं। अतः सिंधु लिपि के ब्राह्मी लिपि तक विकास होने के विभिन्न चरणों के लिए कोई साक्ष्य नहीं हैं, और साक्ष्यों के अभाव में इस मत को विशेष तूल नहीं दिया जा सकता। लेकिन जैसे ब्रजवासी लाल ने दिखाया है, सिंधु सभ्यता के लिपि के चिह्नों में मिलते-जुलते कुछ चिह्न मध्य भारतीय ताम्र-पाषाण संस्कृति, ताम्र-निधि संस्कृति और वृहद-पाषाण संस्कृति के मृद्भाण्डों पर भी ग्रेफिटी के तौर पर अंकित मिलते हैं। इनसे कुछ ऐसा आभास लगता है कि सिंधु सभ्यता की लिपि इस सभ्यता के साथ ही नष्ट नहीं हुई। कुछ विद्वान जिनमें सी.एल. फाब्री प्रमुख हैं, आहत सिक्कों (जिनका प्रचलन कम से कम छठी शताब्दी ई.पू. से अवश्य प्रारंभ हो गया था) पर अंकित चिह्नों और हड़प्पा लिपि-चिह्नों में कुछ साम्य पाते हैं। करीब 12 चिह्न पटना से प्राप्त एक ताम्रपट्टिका पर भी मिले हैं। किन्तु किञ्चित समानता का यह साक्ष्य भी इतना पुष्ट नहीं कि इससे कोई निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सके। अहमद हसन दानी का कहना

है कि उन्होंने सिंधु लिपि के सारे अक्षर चिह्नों (जो इनके अनुसार 537 हैं) और आहत सिक्कों पर प्राप्त सभी चिह्नों जिनकी संख्या उनके अनुसार लगभग उतनी ही है का तुलनात्मक अध्ययन कर यह पाया कि केवल 15 ही चिह्न ऐसे हैं जो दोनों में मिलते हैं। दानी ने इस बात पर बल दिया है कि यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सिंधु सभ्यता के चिह्न निश्चित रूप से लेखन शैली के अंग हैं जब कि सिक्कों के चिह्न मात्र चिह्न ही हैं। वे किसी लेख के द्योतक नहीं है। उनका यह भी कहना है कि कुछ चिह्नों के संदर्भ से अलग कर सिंधु सभ्यता से उनकी समानता दर्शाने से ही सिंधु लिपि की ऐतिहासिक काल तक निरंतरता सिद्ध नहीं हो पाती। तांत्रिक चिह्नों के बारे में वे कहते हैं कि ये ऐसे चिह्न हैं जिनमें तांत्रिक फार्मूले बहुत बाद को उस समय प्रयुक्त हुए जिसे भारतीय इतिहास का मध्य-काल कहते हैं। दोनों के बीच निरंतरता की कड़ी न मिलने से उसे सिंधु लिपि का उत्तरजीवी या अवशिष्ट मानना ठीक नहीं।

जो लोग यह मानते हैं कि ब्राह्मी सिंधु लिपि से ही विकसित हुई और साथ ही यह भी कि हड़प्पा लिपि, ब्राह्मी से भिन्न दिशा, अर्थात दायें से बायें ओर को लिखी जाती थी, उनका यह कहना है कि ऐसा भी देखा गया है कि किसी लिपि को दूसरे लोगों ने अपने लेखन का आधार बनाया, लेकिन उसमें इतने परिवर्तन ला दिये कि वह एक नयी लिपि का रूप ले बैठी। लैंग्डन ने बताया है कि ग्रीक लोगों ने फिनीशिया के अक्षरों को अपनाया, थोड़े दिनों तक तो उनके रुख (लिखने की दिशा) - दाएं से बाएं - को भी बनाये रखा, किन्तु फिर अपनी सुविधा के अनुसार उसके रुख को बाएं से दाएं बदल दिया। कुछ लोगों ने यह भी तर्क दिया है कि एरण से प्राप्त एक प्राचीन सिक्के पर अंकित ब्राह्मी लिपि के पाँच अक्षर दाएं से बाएं दिशा में लिखे हैं, जिससे ऐसा लगता है कि संभवतः मूलतः ब्राह्मी भी दाएं से बाएं लिखी जाती थी।

लैंग्डन ने बलपूर्वक कहा है कि ब्राह्मी के मूल के लिए ब्यूह्लर द्वारा प्रतिपादित फिनीशिया सिद्धांत की अपेक्षा सिंधु सभ्यता वाला सिद्धान्त कहीं अधिक तर्कसंगत लगता है, क्योंकि तुलना करने पर इसके चिह्न फिनीशिया की अपेक्षा सिंधु लिपि के अक्षरों से कहीं अधिक मिलते-जुलते हैं। मार्शल का कहना है कि सिंधु लिपि को ब्राह्मी का मूल मानने की बात न केवल इसलिए तर्कपूर्ण लगती है कि ब्राह्मी लिपि के कुछ अक्षर हड़प्पा लिपि से मिलते-जुलते हैं, बल्कि इसलिए भी कि ब्राह्मी लिपि स्वर-मात्रा और एक अक्षर-चिह्न को दूसरे चिह्न से जोड़ने की परंपरा (संयुक्ताक्षर) के लिए विशेष विख्यात है, और हड़प्पा लिपि के चिह्नों में भी मात्राओं और संयुक्ताक्षरों का प्रयोग हुआ लगता

है; अन्य किसी प्राचीन लिपि में इतने स्पष्ट रूप से और बड़े पैमाने पर इनका प्रयोग नहीं दिखता। किन्तु उनका यह भी कहना है कि इससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि ऐसा संयोग मात्र भी हो सकता है। फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी लिपि और सिंधु लिपि के जो अक्षर समान लगते हैं उनके उच्चारण भी समान हैं। जब तक लगभग समान चिह्नों के उच्चारण भी समान होना निर्धारित नहीं किया जाता, ब्राह्मी के सिंधु लिपि से लिए जाने के विरुद्ध कुछ उसी तरह के तर्क दिये जा सकते हैं जैसे गौरीशंकर हीरानन्द ओझा ने ब्यूह्लर के ब्राह्मी को विदेशी मूल मानने के विरुद्ध दिये थे।[1]

लेख पढ़े जाने की संभावनाएँ

इस लिपि के पढ़े जाने की काफी संभावना होती यदि एक ऐसा लेख मिलता जिसमें वही बात दो लिपियों - हड़प्पा लिपि और एक ऐसी लिपि जो पढ़ी जा सकती हो - में लिखी होती और उसमें व्यक्तिवाचक शब्दों का प्रयोग अनेकशः हुआ होता। प्राचीन मिस्र की लिपि को इसी कारण पढ़ा जा सका कि वहाँ के सुप्रसिद्ध 'रोजेटा पाषाण' पर अंकित लेख प्राचीन मिस्री लिपि के साथ डेमोटिक और यूनानी लिपियों में भी था; और चूंकि यूनानी लेख में ऐण्टोनी और क्लियोपाट्रा का नाम बार-बार आता था और यही नाम मिस्री लिपि में उसी प्रकार बार-बार होने के कारण प्राचीन मिस्री लिपि में भी इन दोनों के नाम के अक्षरों को पहचान लिया गया। इसी तरह ईरान के हखामनी शासक दारायबहु का बेहिस्तून लेख भी इसलिए पढ़ा जा सका कि वह प्राचीन ईरानी, एलामी और बेबीलोनी भाषाओं में था। यों माइकिल वेंट्रिस, जो पेशे से स्थापत्य शास्त्री थे, ने 1952 में क्रीट की मिनोअन 'रेखिक व' (लिनियर बी) लिपि, एक से अधिक लिपियों वाले लेख के अभाव में भी पढ़ डाली। किन्तु यह अब तक की प्राचीन लिपियों के पढ़े जाने के संदर्भ में इस तरह का एकमात्र सफल प्रयास है। वह इसलिये संभव हो सका कि भाग्यवश वह यह मान्यता लेकर चले कि लेख की भाषा यूनानी भाषा का ही पूर्व रूप है, और वह सही

1. उन्होंन तर्क दिया था कि यदि बिना उच्चारण की समानता के केवल अक्षरों की बनावट ही ब्राह्मी लिपि के फिनीशिया की लिपि से लिए जाने की द्योतक है तो चूँकि ब्राह्मी के अनेक अक्षर अंग्रेजी के अक्षरों से भी मिलते हैं, तो क्या यह भी कहा जा सकता है है कि ब्राह्मी अंग्रेजी से ली गई है।

निकली। ऐसी भी आशा व्यक्त की गई है कि अंततः विदेशी साक्ष्य, मुख्य रूप से सुमेरी साक्ष्य, ही हड़प्पा लिपि के उद्‌घाटन में काम आ सकें। उर में प्राप्त सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर सुमेरी कीलाक्षरों में लेख है। यह लेख स्पष्ट नहीं है, किन्तु उसे अनुमानतः सक्-कु-षि, या क-लु-षि पढ़ा गया है। ऐसी संभावना व्यक्त की गई है कि किसी व्यक्ति का नाम है। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह किसी व्यक्ति का नाम है, और यदि है भी तो भी इस छोटे से लेख से न लिपि की समस्या हल होती दिखती है और न भाषा की ही, क्योंकि यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि इस तरह के नाम को सिंधु लिपि में कैसे लिखा जाता रहा होगा। द्विभाषीय लेख न सही, एक बड़ा कई पंक्तियों का लेख ही मिल जाता तो भी इस लिपि के पढ़े जाने की संभावना कुछ बढ़ती। पर अभी तक जितने भी लेख मिले हैं वे तीन पंक्तियों से अधिक के नहीं हैं, और जो सबसे लम्बा लेख है उसमें भी सब मिला कर सत्रह से अधिक अक्षर नहीं।

सिंधु लिपि के उद्घाचन के संबंध में उचित यह होगा कि विभिन्न संभावनाओं को एक-एक करके तर्क की कसौटी पर कस कर देखा जाय कि उनमें से कोई इसका हल प्रस्तुत करने में सहायक है। लिपि के स्वरूप के विषय में पहले से ही कोई निश्चित धारणा बनाकर येन-केन प्रकारेण उसे सही सिद्ध करने के प्रयास किसी के अहं की तुष्टि भले ही कर लें, वे सर्वमान्य हल प्रस्तुत नहीं करते।

●●●

अध्याय 16

शव-विसर्जन और कंकालों का जाति-निर्धारण

(अ) शव-विसर्जन

प्राचीन संस्कृतियों में शव-विसर्जन की विभिन्न विधियाँ प्रचलित थीं। अधिकांश लोगों का विश्वास था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा जीवित रहती है और इस तरह जीवित तथा मृतक के मध्य संबंधों की निरंतरता की कल्पना की गई। मृतकों की आत्माओं के संबंध में स्नेह एवं भय मिश्रित धारणाएं रहीं। मरने के बाद मनुष्य स्वर्ग अथवा नर्क में रहता है, ऐसी धारणा प्राचीन काल में अधिकांश लोगों में व्याप्त थी। शव के साथ रखी भोज्य सामग्री को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय यह भी धारणा थी कि मनुष्य को मरने के बाद भी, अपनी स्थिति के अनुरूप, जीवित अवस्था में उपयोग की जाने वाली वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। विभिन्न संस्कृतियों एवं विभिन्न युगों के मृतक संस्कारों में तो अंतर मिलता ही है, कभी-कभी विभिन्न कारणों से एक ही संस्कृति में एक ही काल में भी अनेक प्रकार की शव-विसर्जन की प्रथाएं मिलती हैं। आज भी अनेक ऐसे समाज हैं जिनमें दुश्चरित्रों, खास तरह की अपराधियों अथवा रोगियों इत्यादि के लिए साधारण से भिन्न शव-विसर्जन का विधान मिलता है। साधारणतः सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक दृष्टि से प्रतिष्ठित व्यक्तियों के शव-विसर्जन के तरीकों से व्ययसाध्य और विशिष्ट होने स्वाभाविक हैं। शव-विसर्जन का वैज्ञानिक अध ययन प्राचीन संस्कृति के अनेक पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है, और कुछ संस्कृतियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के एकमात्र साधन उनके कब्रिस्तान ही हैं। सिंधु सभ्यता के शव-विसर्जन भी उस सभ्यता पर रोचक प्रकाश डालते हैं।

विभिन्न स्थलों से प्राप्त सिंधु संस्कृति के संदिग्ध शवाधान

हड़प्पा संस्कृति के लोगों द्वारा प्रयुक्त शव-विसर्जन विधियों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। कुछ उदाहरणों के बारे में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे शवोत्सर्ग हैं, लेकिन कुछ इस तरह के भी अवशेष मिले हैं

जिनके बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे शव-विसर्जन से संबंधित हैं अथवा नहीं। दूसरी कोटि के अंतर्गत हम मोहेंजोदड़ों के अंतिम चरण में प्राप्त इक्कीस मानव कंकालों को रख सकते हैं (फ. XXVII, 1)। इनमें से चौदह एक घर के कमरे में, छः एक गली में और एक दूसरी गली में पाये गये। कुछ कंकालों पर पैने शस्त्रों के घाव के निशान हैं और अधिकांश कंकाल अस्त-व्यस्त दशा में पड़े पाये गये हैं। ये भयानक और आकस्मिक मृत्यु को प्राप्त लोगों के थे। इनके साथ बर्तन इत्यादि कुछ भी सामग्री नहीं मिलती। वे शव-विसर्जन की तत्कालीन परम्परा के अनुरूप गाड़े हुए नहीं लगते।[1] व्हीलर का मत है कि ये किसी बर्बर आक्रमण के शिकार हुए हड़प्पा सभ्यता के वासियों के हैं। उनका यह भी मत है कि ये आक्रमणकारी आर्य रहे होंगे। मार्शल ने मोहेंजोदड़ों में सिंधु सभ्यता के आंशिक शवोत्सर्ग का उल्लेख किया है। आंशिक शवोत्सर्ग को जो एक असंदिग्ध उदाहरण मिला है उसे पिगट हड़प्पा सभ्यता के बाद का मानते हैं। आंशिक शवोत्सर्ग के जो अन्य उदाहरण मार्शल ने दिये हैं, वे संदिग्ध हैं, क्योंकि एक को छोड़कर उनमें से किसी में भी मानव अस्थियाँ नहीं मिली हैं; केवल बहुत से बर्तन और कुछ आभूषण ही उनमें मिले हैं।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा से कुछ चौड़े मुंह के बड़े पात्र मिले हैं (फ. XXVI, 2) जिनमें मृण्मय पिंड, छोटे-छोटे मृद्भाण्ड, आभूषण, पशुओं, चिड़ियों तथा मछलियों की हड्डियाँ, कोयला और राख भी मिली है। हड़प्पा में तो 'ए बी' टीले में 54 पात्र एक कतार में मिले जो 33.223 मीटर लम्बी जगह में थे। लेकिन इनमें से किसी-किसी में मानव अस्थियाँ भी पायी गयी हैं। मार्शल और मकाइ के अनुसार इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आज कल की हिन्दू-प्रथा के अनुसार शव को दाह करके उसकी अस्थियाँ विसर्जित कर दी जाती थीं, किन्तु थोड़ी सी अस्थियाँ और राख को मिट्टी के कलश में

1. कुछ विद्वानों का मत था कि ये शव जहाँ पर लोग मरे थे वहीं पर ऐसे ही पड़े रह गये थे, किन्तु मार्शल ने ठीक ही कहा है कि खुला छोड़ने से तो पशु और चिड़ियां इनका मांस नोचकर हड्डियों को अलग कर दिये होते। इन्हें गाड़ा तो गया था किन्तु तत्कालीन परम्परा के अनुसार विधिपूर्वक नहीं। मार्शल ने कुछ विद्वानों के इस मत का, कि ये अस्थि-पंजर सिंधु सभ्यता के लोगों के नहीं बल्कि इस सभ्यता के समाप्त होने के बाद किसी जंगली जाति के हैं, तर्कपूर्ण खण्डन किया है। उनका कहना है कि मानव-विज्ञान के आधार पर कंकालों में प्रोटो आस्ट्रेलायड, भूमध्यसागरीय और अल्पाइन जातियों के लोग मिले हैं और जंगली जाति में इन सभी का पाया जाना सम्भव नहीं है।

रखकर गाड़ देते थे। उनका कहना है कि इसी कारण अधिकांश कलशों में मानव अस्थियाँ नहीं मिलतीं। लेकिन व्हीलर और पिगट के अनुसार इन पात्रों में मानव अस्थियों का न होना इस बात का द्योतक है कि इनका शवोत्सर्ग से कोई संबंध नहीं था। पिगट का तो यह मत है कि इनमें से कुछ का प्रयोग निकास नालियों के शोतगर्त के रूप में किया गया था क्योंकि इस तरह के कितने ही भाण्ड फर्श और सड़कों के नीचे दबे मिले हैं, जिस कारण इनके अंदर विभिन्न प्रकार की सामग्री कूड़ा-करकट की तरह भर गयी। मार्शल ने मोहेंजोदड़ों में एक स्थान से जली मानव अस्थियाँ मिलने का उल्लेख किया है जिनके साथ आभूषण, मृद्‌भाण्ड, राख, कोयला आदि भी रखे थे। वे इसे निश्चित रूप से शवाधान की प्रथा का प्रतीक मानते हैं। मोहेंजोदड़ों में कब्रिस्तान का न मिलना और अन्यत्र भी जहाँ कहीं कब्रिस्तान मिले हैं उनमें थोड़े ही लोगों के शव गाड़े मिलने से मार्शल की इस धारणा की पुष्टि होती है कि इस काल में दाहकर्म ही शव-विसर्जन की सामान्य प्रथा रही होगी।

हड़प्पा में 'जी' क्षेत्र में एक साथ ही बीस संपूर्ण मानव खोपड़ियाँ और उनके साथ दस नीचे के जबड़े, रीढ़ की हड्डियाँ, हाथ और पांव की हड्डियाँ, जानवरों की हड्डियाँ और सिंधु सभ्यता के बर्तन भी मिले हैं। इन खोपड़ियाँ के अध्ययन से गुहा ने निष्कर्ष निकाला है कि इनमें कुछ खोपड़ियाँ पुरुषों की, 36 बच्चों की और कुछ शायद औरतों की हैं। केवल एक ही खोपड़ी ऐसी थी जिसका धड़ भी समीप ही था, दूसरी अस्थियों से कोई संबंध नहीं था। इन अस्थियों के साथ आभूषण नहीं मिले। ये सतह से 1.28 मीटर से 1.77 मी. गहराई पर मिले हैं। स्पष्ट है कि पहले शवों को अन्यत्र खुला छोड़कर विसर्जित किया गया था और फिर उनकी कुछ अस्थियाँ एकत्रित करके दफनायी गयी थीं। यों यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के शव-विसर्जन के संदर्भ में कई व्यक्तियों की बलि दी गयी थी। लेकिन जैसे वत्स ने बताया है कोई भी ऐसा कंकाल नहीं मिला जिसे अन्य कंकालों से विशिष्ट माना जा सकता हो। एक खोपड़ी अन्य खोपड़ियों से कुछ अलग अवश्य मिली लेकिन केवल इसी कारण उसे विशिष्ट व्यक्ति की खोपड़ी मानना और उसके शव-विसर्जन के संदर्भ में शेष लोगों की बलि की कल्पना करना, समीचीन नहीं लगता। शायद ये उन लोगों की अस्थियाँ हैं जो या तो कत्ल के शिकार हुए थे या किसी महामारी के। कुछ भी हो इन अस्थियों को निश्चय ही विधिवत् दफनाया गया था। इनके साथ पाये गये मृद्‌भाण्ड इसके प्रमाण हैं। चन्हुदड़ों के उत्खनन से एक पात्र के भीतर जला हुआ एक कपाल पाया गया है। इसी पात्र में एक बड़ा शंख, तांबे और कांसे के उपकरण भी मिले हैं। शव-विसर्जन के संदर्भ में इनका महत्त्व संदेहास्पद है।

हड़प्पा के शवाधान

हड़प्पा नगर की गढ़ी के बाहर, दक्षिण दिशा में 'एच कब्रिस्तान' (जो सिंधु सभ्यता के बाद के काल का है) के समीप ही सिंधु सभ्यता के काल का एक कब्रिस्तान मिला है, उसे 'कब्रिस्तान आर-37' नाम दिया गया है। यहाँ पर पहले वत्स के निर्देशन में खुदाई हुई और फिर कुछ सालों के बाद 1946 में व्हीलर के निर्देशन में। दोनों खुदाइयों में कुल मिलाकर सत्तावन कब्रें प्रकाश में आयी हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस कब्रिस्तान का प्रयोग एक लम्बी अवधि तक होता रहा था। लगभग 18 कब्रें ऐसी मिली हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि उनकी खुदाई के दौरान उस काल से पूर्वकाल की कब्रें कट गई थीं, और 8 बाद के चरण की ऐसी कब्रें मिली हैं जो इन परवर्ती कब्रों को भी काट कर खोदी गई थीं। इस तरह स्तरीकरण के आधार पर कुछ कब्रों को सापेक्ष काल-क्रम निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु यह उल्लेख है कि इन सभी कब्रों के साथ जो सामग्री मिली है वह सिंधु संस्कृति की ही है, जिससे यह स्पष्ट है कि ये सभी कब्रें उसी संस्कृति के विभिन्न चरणों की ही हैं।

कब्रों की माप में कुछ भिन्नता पाई गई है। साधारण कब्र की माप 3 x 1 से लेकर 1.3 x .75 मीटर तक की है। कुछ लगभग 4.5 मीटर लंबी, 3 मीटर चौड़ी और 1 मीटर गहरी भी मिली हैं। इन कब्रों में पूरा-पूरा शव गाड़ा गया था। कब्रें पांव की ओर की अपेक्षा सिर की ओर अधिक चौड़ी हैं। सिर की ओर पैर की अपेक्षा अधिक बर्तन रखे मिले हैं। स्पष्ट है कि सिर की ओर कब्र को अधिक चौड़ी करने का उद्देश्य अधिक भाण्डों के लिए स्थान बनाना ही था।

साधारणतः कब्रों में शव को पूरा लंबा लिटाया गया है, किन्तु कुछ में उसे मुड़ा हुआ भी रखा गया है। कभी-कभी सिर एक तरह को मुड़ा है। शव प्रायः उत्तर-दक्षिण दिशा में लिटाये गये थे - सिर उत्तर की ओर और पैर दक्षिण की ओर। शव दाह करते समय आज भी हिन्दुओं में सिर को उत्तर की ओर रखने की प्रथा है। केवल एक उदाहरण ही ऐसा मिला है जिसमें शव के सिर को दक्षिण की ओर रख कर दफनाया गया था।

कुछ ही कब्रें ऐसी मिली हैं जिसमें किनारों पर कच्ची ईंटे लगाई गई हैं या जिनमें एक या दो रद्दों की वर्गाकार या आयताकार दीवार बनी है। बाकी सब सादी हैं। शव को गड्ढे में लिटाने के बाद आस-पास खाली जगह में बर्तन रख दिये जाते थे। अधिकांश कब्रों में 15 से 20 तक मिट्टी के बर्तन

मिले हैं। यों विभिन्न कब्रों में रखी बर्तनों की संख्या में काफी अंतर मिलता है। इन कब्रों में कम से कम दो और अधिक से अधिक चालीस बर्तन पाये गये हैं। ये बर्तन आवास क्षेत्र में प्राप्त बर्तनों से मिलते-जुलते हैं। एक उदाहरण में शव के पाँव के पास हत्थेदार दीपक मिला है जो कदाचित् उस काल के लोगों में प्रचलित मानव की मृत्यु के उपरांत भी जीवन होने की धारणा के कारण मृतक के साथ किसी विशेष प्रयोजन से रखा गया होगा।

कुछ उदाहरणों में मृतक के साथ व्यक्तिगत आभूषण भी मिले हैं। इनमें शंख की चूड़ी, हार, पांवों के कड़े, सेलखड़ी और पेस्ट के मनके, ताम्र की अंगूठी, ताम्र की कर्णवलय हैं। प्रसाधन की सामग्री में तांबे के बने दर्पण हैं जो बारह कब्रों में एक-एक मिले हैं। खूब पालिश किये जाने के कारण ये परावर्ती रहे होंगे और इनमें लोग अपना प्रतिबिम्ब देख सकते थे। एक कब्र में अंजन लगाने की शलाका और एक अन्य में शंख का एक बड़ा चम्मच भी पाया गया है। कुछ में पक्षी की हड्डियाँ मिली हैं जो मृतक के लिए रखे गये भोजन सामग्री के द्योतक हैं। कुछ में पत्थर की छूरियाँ भी मिली हैं। एक दीपक भी मिला। साधारणतः कब्रों में मिली वस्तुएँ विशेष आकर्षक और मूल्यवान नहीं हैं, अतः ये कब्रें साधारणजनों की ही प्रतीत होती हैं। कुछ ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि कभी-कभी कब्रों को पाट कर उनके ऊपर मिट्टी ढेर कर दी जाती थी। हड़प्पा के एक उदाहरण में कच्ची ईंटों का चबूतरा बनाये जाने के भी प्रमाण हैं।

हड़प्पा के कब्रिस्तान की दो कब्रें विशेष महत्त्व की हैं। एक कब्र के किनारों पर चारों ओर कच्ची ईंटे लगाई गई थीं। (फ. XXVIII, 2) लोथल में (फ. XXIX, 2) हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में और नाल (बलूचिस्तान) में नाल संस्कृति के संदर्भ में भी इस तरह की कब्रें पाई गई हैं। दूसरी कब्र में शव को लकड़ी की पेटी में रखकर दफनाया गया था (फ. XXVIII, 1)। काठ की होने के कारण यह पेटी अब नष्ट हो गयी है किन्तु उत्खनन में इसके चिह्न मिट्टी पर धब्बे के रूप में स्पष्ट दिखाई दिये जिससे उसके आकार का भी ज्ञान होता है। इस पेटी की लम्बाई 2.13 मीटर, चौड़ाई .762 मीटर और ऊँचाई .457 मीटर थी। इस पेटी के ढक्कन की लकड़ी के चूरे के परीक्षण से ज्ञात हुआ कि वह देवदारु का बना था। देवदारु हिमालय की पहाड़ियों पर उगता है और संभवतः काश्मीर से नदी-मार्ग द्वारा हड़प्पा में लाया गया होगा। शव के चारों ओर राख जैसे पाउडर की तह पायी गयी। दफनाने से पूर्व शवों को सरकंडे से लपेटने की प्रथा सुमेर के प्रारंभिक राजवंश और अक्कादी काल में प्रचलित थी। अक्कादीकाल तो सिंधु सभ्यता के विकसित काल का समकालीन है

ही और प्रारंभिक राजवंश का अंतिम चरण सिंधु संस्कृति के प्रारंभिक चरण का समकालीन हो सकता था। अनुमानतः यह पाउडर इसी तरह प्रयुक्त किये गये सरकंडों का होगा। हो सकता है कि यह शव किसी सुमेरीय का रहा हो जिसका दाह संस्कार उसके देश की परंपरा के अनुसार ही हड़प्पा में किया गया हो। इस तरह यह दोनों संस्कृतियों के मध्य सम्पर्क का द्योतक लगता है। विद्वानों की धारणा है कि संभवतः यह शव किसी नारी का है। उसके दाहिने हाथ की बीच की अंगुली में एक ताम्र-अंगूठी मिली है। सिर और कंधे के समीप शंख के तीन वलय पाये गये हैं। इस कब्र से प्राप्त मृद्भाण्डों की संख्या 37 है जो अधिकांशतः सिर के आस-पास रखे गये हैं। शव-पेटी के भीतर केवल एक ही बर्तन रखा गया था।

कुछ मानव-शास्त्रियों ने इन अस्थियों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि जिन लोगों के ये नर कंकाल हैं वे शारीरिक गठन में उस क्षेत्र के वर्तमान निवासियों से विशेष भिन्न नहीं थे। यदि यह सही है तो इस क्षेत्र में विभिन्न जातियों के समय-समय पर आक्रमणकारी अथवा किसी अन्य रूप में आने के बावजूद हड़प्पा सभ्यता के लोगों और आज के लोगों में शारीरिक समानता काफी कौतूहलवर्धक है। कुछ भी हो, यह मानना पड़ेगा कि अभी तक हड़प्पा सभ्यता के नर कंकालों का उनके महत्त्व के अनुरूप अध्ययन नहीं हुआ है, और इसलिए निष्कर्षों के सम्बन्ध में मत-मतांतरों की काफी गुंजाइश है।

रोपड़ के शवाधान

रोपड़ में कब्रिस्तान आवासित टीले के पश्चिमी छोर की ओर उससे लगभग 53 मीटर की दूरी पर है। रोपड़ का हड़प्पा-कालीन कब्रिस्तान काफी क्षतिग्रस्त दशा में मिला है। यह भी हड़प्पा के कब्रिस्तान की भाँति मुख्य आवास स्थल से कुछ दूरी पर स्थित है। रोपण में सिंधु सभ्यता के अंत के बाद से चित्रित धूसर भाण्ड का प्रयोग करने वाले लोग आकर बसे। उनके द्वारा गड्ढे खोदने से इस कब्रिस्तान में काफी तोड़-फोड़ हुई है, फलस्वरूप इन कब्रों में दफनाये शवों के अस्थिपंजर खण्डित हो गये हैं। कभी तो लगभग समूचा अस्थिपंजर ही खोदकर फेंक दिया गया। यही कारण है कि पुरातात्त्विक उत्खनन में कुछ ही कब्रों में अस्थिपंजर मिले।

सबसे प्राचीन कब्रें अक्षत भूमि में खोदी गयी थीं। ये सभी एक ही आकार की नहीं हैं। अधिकांश अंडाकार हैं। केवल एक कब्र में कच्ची ईंटों के एक रद्दे से कब्र को आयताकार रूप दे दिया गया है। औसतन कब्रें 2.54 x

.91 x .61 मी. की हैं। प्रत्येक कब्र में केवल एक ही शव दफनाया गया था। साधरणतया सिर उत्तर या पश्चिम की ओर रखकर दफनाया गया था। थोड़ी सी कब्रों को छोड़कर सभी में मृद्भाण्ड मिले हैं। इन कब्रों में भी अस्थिपंजर के शीर्ष, मध्यभाग और पैरों की ओर बर्तन पाये गये हैं। ये बर्तन गाड़े गये शव के स्तर सतह पर ही रखे मिले हैं। बर्तनों की संख्या 2 से 26 तक है। मृद्भाण्ड रख दिये जाने के बाद शव को मिट्टी से ढक दिया जाता था। एक ऐसी कब्र भी मिली है जिससे यह पता चलता है कि पहले कब्र खोद कर उसमें बर्तन रख दिये गये थे फिर उन्हें मिट्टी से ढक दिया गया और तब फिर शव को रखकर गड्ढा पाट दिया गया था। इन कब्रों में व्यक्तिगत आभूषणों में शंख की चूड़ियाँ, ताम्र-वलय और मनके विशेषकर पाये गये हैं। केवल दो उदाहरणों को छोड़कर ये आभूषण शवों के शरीर पर नहीं मिले हैं। इन दो में से एक में कांचली मिट्टी की चूड़ी मृतक की बायीं कलाई में तथा दूसरे में तांबे की अंगूठी दाहिने हाथ की बीच की अंगुली में पहनी हुई मिली। हड़प्पा से मिली पेटिका के अन्दर दफनाए शव के कंकाल में भी दाहिने हाथ की इसी (मध्यमा) अंगुली में तांबे की अंगूठी मिलने का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। एक उदाहरण में मानव कंकाल के नीचे कुत्ते का कंकाल मिला है। या तो कुत्ता स्वामी की मृत्यु के बाद दुखी होकर मर गया और लोगों ने उसे भी उसके स्वामी के साथ गाड़ दिया, या फिर स्वामी का अतिप्रिय होने के कारण उसे भी, जीवित अवस्था में या मार कर, स्वामी की ही कब्र में गाड़ दिया गया होगा। मृतक के साथ प्रियजनों और प्रिय पशुओं को भी दफनाने की प्रथा प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया में बहुत प्रचलित थी। कश्मीर के बुर्जाहोम नामक स्थल से भी नव-पाषाण कालीन शवोत्सर्ग में मृतक के शव के साथ पशु के भी गाड़े जाने का उदाहरण मिलता है।

लोथल के शवाधान

लोथल के उत्खननों में हड़प्पा संस्कृति की शवोत्सर्ग प्रणाली पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। यहाँ कब्रिस्तान टीले के उत्तर-पश्चिमी छोर पर है। कुल मिलाकर बीस कब्रें मिली हैं। इनमें से चार कब्रों में तो केवल गड्ढे ही मिले हैं, उनमें विशेष अस्थ्यवशेष नहीं मिले। शेष कब्रों में मानव कंकाल मिले, और ये मानव कंकाल वाली कब्रें दो प्रकार की हैं : (1) जिनमें केवल एक शव को दफनाया गया है। (2) जिनमें दो-दो शवों को एक साथ ही गाड़ा गया है।

एक शव वाली कब्रें - लोथल में प्राप्त ये सभी कब्रें तृतीय से पंचम काल की हैं। प्रथम एवं द्वितीय काल की कब्रों का अभी तक पता नहीं चल पाया है। पंचम काल की कब्रें आधुनिक काल में उस क्षेत्र में कृषि किये जाने के परिणामस्वरूप कुछ टूट-फूट गई हैं। कुछ कब्रें ऐसी भी हैं जो बाद की कब्रों को खोदते समय खण्डित हो गई थीं। एक शव वाली कब्रों का आकार लगभग 3.2 x 0.75 मीटर है और ये 0.3 से 0.5 मीटर गहरी खुदी हैं। दो शवों वाली कब्रें कुछ अधिक चौड़ी हैं, उनकी चौड़ाई लगभग एक मीटर है। कुछ एक शव वाली कब्रें उत्तर दिशा में दक्षिण से अधिक चौड़ी हैं। लोथल की इन कब्रों में भी अधिकतर शवों का सिर उत्तर और पैर दक्षिण की ओर रखकर ही पीठ के बल लिटाया गया है, केवल एक उदाहरण में ही शव का सिर पूर्व की ओर और उसके पैर पश्चिम की ओर हैं। शरीर को करवट लिटाया गया था और हाथ शरीर से चिपके हैं। इन एक-एक शव वाली सभी कब्रों में मृद्‌भाण्ड मिलते हैं जो कि आवास के क्षेत्र में प्राप्त मृद्‌भाण्डों के समान ही हैं। एक कब्र में तांबे की अंगूठी और शंख के मनके भी मिले। दूसरी में बकरी के सींग और हड्डियाँ मिलीं। सम्भवतः इस बकरी का मृतक के लिए बलिदान किया गया था। एक कब्र की सतह पर कच्ची ईंटें, और कुछ कब्रों की सतह पर केकड़ मिले। एक कब्र में मानव अस्थियों के साथ ही बकरे की अस्थियाँ मिलीं; इससे लगता है कि मृतक के लिए बकरे का बलिदान किया गया था।[1]

दो शवों वाली कब्रें - जहाँ लोथल की एक शव वाली कब्रें तृतीय से पंचम काल तक की हैं वहाँ दो शवों वाली तीन कब्रें तृतीय काल की हैं। इनमें से एक कब्र के किनारे-किनारे कच्ची ईंटों की चिनाई की गई है (तुलना कीजिए हड़प्पा के ताबूत के उदाहरण से)। एक कब्र में तो दोनों कंकाल अलग-अलग रखकर दफनाये गये थे। शेष दो उदाहरणों में शवों को एक दूसरे से लिपटा हुआ गाड़ा गया है। (फ. XXIX, 1, 2)। इन दोनों उदाहरणों में शवों के लिंग के बारे में मतभेद है। कुछ का मत है कि दोनों पुरुषों के शव हैं, जबकि कुछ का कहना है कि एक स्त्री और एक पुरुष का है।[2] यदि यह दूसरा

---

1. श्री राव ने इस संदर्भ में ऋग्वेद के मंत्र का उद्धरण किया है जिसमें मृतक के लिए बकरे की बलि का उल्लेख है।

2. नृतत्व शास्त्री प्रोफेसर सरकार का कहना है कि दोनों ही शवाधानों में किसी शव की स्त्री के रूप में पहचान करना कठिन है, लेकिन इसी शास्त्र के अन्य दो विद्वानों बी.के. चटर्जी और आ.डी. कुमार ने दो-दो शवों वाली कब्रों में एक-एक कंकाल को स्त्री का माना है।

मत सही है तो यह पति के मरने के पश्चात् पत्नी द्वारा अपने प्राण त्याग करने की प्रथा का द्योतक हो सकता है। राव ने इसे 'सती' का द्योतक होना सुझाया है किन्तु, जैसे सांकलिया ने कहा है, सती एक खास प्रकार की रीति का द्योतक है, जिसमें पत्नी अपने पति की चिता में स्वेच्छा से प्रविष्ट होकर प्राण त्यागती है। सती प्रथा में पति के साथ गाड़े जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही सती की प्रथा वैदिक काल में प्रचलित नहीं लगती और इसका प्रचलन अपेक्षाकृत बाद के काल में हुआ। प्राचीन मेसोपोटामिया और मिस्र में मृतक के साथ उसकी पत्नी और अन्य लोगों के गाड़े जाने के अनेक उदाहरण हैं। हो सकता है कि लोथल में भी इन दो शवों वाली कब्रों के संदर्भ में इसी तरह की प्रथा का निर्वाह किया गया हो। इन दो शवों वाली कब्रों में कोई सामान - मिट्टी के बर्तन, गहने इत्यादि - नहीं मिला। कब्रों में सामान का न होना या तो एक शव वाली कब्रों से भिन्न परम्परा का द्योतक है, या फिर दो शव दफनाये जाने के कारण भाण्ड रखने के लिए जगह का अभाव इसका कारण हो सकता है। युगल शवाधान के कुछ अन्य उदाहरण ज्ञात हैं। सिंधु के दम्ब बूथी में भी दो शवों को साथ-साथ गाड़ा जाना पाया गया। मेसोपोटामिया के किश नामक स्थल में भी युगल शवाधान के साक्ष्य मिले हैं। दक्षिणी भारत में नागार्जुनीकोण्ड में भी इस तरह से दो शवों को साथ गाड़ा गया था। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि उपर्युक्त सभी उदाहरण एक ही परम्परा के द्योतक हैं।

लोथल में प्राप्त अधिकांश शवों की खोपड़ियाँ मध्यमशिरस्क हैं जो कि आधुनिक काल में गुजरात के मनुष्यों में सामान्य हैं।

कालीबंगाँ

कालीबंगाँ में कब्रिस्तान गढ़ी वाले टीले के पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम में लगभग 300 मीटर की दूरी पर स्थित है। घग्गर नदी में बाढ़ के समय उसका पानी कब्रिस्तान के क्षेत्र में आ जाने से कुछ कब्रें क्षतिग्रस्त हो गईं।

कब्रें अलग-अलग गहराई पर मिली हैं और इससे यह प्रमाणित होता है कि कब्रिस्तान का प्रयोग एक लम्बी अवधि तक चलता रहा और ये कब्रें कई प्रकालों की हैं। लेकिन इन कब्रों में जो मृद्भाण्ड एवं अन्य सामग्री मिली है उससे स्पष्ट है कि ये सभी हड़प्पा काल की हैं। दो ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जिनमें नई कब्रें खोदने के दौरान पहले की कब्रें कट गई हैं। कब्रिस्तान में तीन प्रकार के शव-विसर्जन मिले हैं :-

1. आयताकार या अण्डाकार गड्ढे जिसमें अस्थिपंजर एवं मृद्भाण्ड इत्यादि सामग्री मिली है।

2. आयताकार गड्ढे जिनमें सामग्री तो हैं किन्तु अस्थि अवशेष नहीं है।

3. गोल-अण्डाकार गड्ढे जिनमें केवल सामग्री है, अस्थि अवशेष नहीं।

कुल मिलाकर 37 शव-विसर्जन के उदाहरण मिले हैं, 15 प्रथम प्रकार के, 5 द्वितीय प्रकार के, और 17 तृतीय प्रकार के। उपर्युक्त सभी प्रकार के शव-विसर्जन एक ही काल के हैं। किन्तु कब्रिस्तान में उनके क्षेत्र लगभग अलग-अलग हैं। लगता है कि किन्हीं कारणों से जान-बूझकर ही इन तीनों प्रकारों के लिए अलग-अलग क्षेत्र निर्धारित किए गये थे। यही नहीं, पहले और तीसरे प्रकार में 6 से 7 शव-विसर्जन के अलग-अलग समूह हैं। इस तरह के भेद का निश्चित कारण तो ढूँढना है किन्तु, यह किसी परिवार विशेष की विशिष्टता, या किसी सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक वर्ग विशेष का द्योतक हो सकता है।

पूर्ण शव-विसर्जन में शव को पीठ के बल लिटाकर सिर उत्तर की ओर रखा गया था। मृतक के साथ मिट्टी के बर्तन एवं अन्य वस्तुएँ भी रखी गई थीं जो सिर की ओर अधिक और पैरों की ओर कम मिली हैं। एक उदाहरण में शव को पेट के बल लिटाया गया था और सिर दक्षिण की ओर रखा गया था। जो साधारण से भिन्न परम्परा का द्योतक है। इस शव के हाथ और पांव मिले हुए हैं। शव गड्ढे के उत्तरी आधे भाग में रखा गया था। एक आयताकार कब्र में गड्ढे के चारों ओर कच्ची ईंटों की चिनाई की गई थी और ईंटों के ऊपर अंदर की ओर पलस्तर लगा था। इस शव के साथ 72 बर्तन रखे थे, 37 उत्तर की ओर और 35 बीच के भाग में। इसमें शव का सिर उत्तर की ओर रखकर उसे ऊर्ध्वमुख लिटाया गया था। यह कहना कठिन है कि बर्तनों की इतनी अधिक संख्या उस व्यक्ति के महत्त्व का प्रतीक है। एक कब्र में दफनाये गये शव के परीक्षण से उसके शारीरिक दोष का पता चला। उसके बाएं हाथ की कलाई की हड्डियाँ दाएं हाथ की हड्डियों की अपेक्षा छोटी थीं। उसके बाएं कान के समीप एक सीप का कुंडल मिला। एक अन्य कब्र में शव का केवल ऊर्ध्व भाग ही प्राप्त हुआ। नीचे का भाग शायद बाद में गड्ढे खोदने के दौरान खुद गया। इस कब्र में बर्तन एवं मनके भी मिले। तीन मनके सोने के, तीन जैस्पर के, तीन गोमेद के और दो-दो कार्नीलियन और सेलखड़ी के थे। एक बच्चे की खोपड़ी में 6 गोल छेद हैं जो शल्य चिकित्सा के उदाहरण लगते हैं (विस्तार के लिए देखिए परिशिष्ट 9)। एक अस्थिपंजर पर जलाये जाने के निशान हैं। चूँकि यह जले शव का एक मात्र उदाहरण है,

अतः शव का जलना आकस्मिक भी हो सकता है। एक कब्र में तांबें का दर्पण भी मिला है। शंख, सेलखड़ी और कीमती पत्थरों के आभूषण अनेक कब्रों में मिले हैं।

दूसरा प्रकार

आकार-प्रकार में ये गड्ढे प्रथम प्रकार के समान हैं, किन्तु उनमें अस्थि अवशेष नहीं मिले हैं। इन गड्ढों में मिट्टी के बर्तन ही मुख्य रूप में कब्र की सामग्री के तौर पर मिले हैं। केवल एक ही उदाहरण में सीप की चूड़ियों के कुछ टुकड़ें, सेलखड़ी के अनेक मनके और एक कार्नीलियन का मनका मिला। इन गड्ढों में बालू और मिट्टी की एक के बाद दूसरी कई एकान्तरिक परतें मिलीं हैं। अनुमानतः गड्ढे में बर्तन को रखने के बाद गड्ढा या तो भरा नहीं गया, या कुछ अंश तक ही भरा गया और वर्षा में भी खुला रहा। बाद में शेष गड्ढा कच्ची ईंटों के टुकड़ों से भर दिया गया। मानव अस्थियों के अभाव में ऐसा सुझाया गया है कि या तो ये मृतकों के मात्र प्रतीक शव-विसर्जन थे, या ये उनकी यादगार के लिए बनाये गये थे जिनकी मृत्यु घर से बहुत दूर हुई और इस कारण उनका शव दफनाने के लिए नहीं लाया जा सका था। यह भी हो सकता है कि पहले मृतक के शव को जलाकर राख संचय किया गया हो, फिर राख भी नदी में विसर्जित कर दी गयी हो।

तीसरा प्रकार

इस प्रकार के गड्ढे और दूसरे प्रकार की अपेक्षा काफी उथले थे। ये गड्ढे मुश्किल से एक मीटर गहरे थे और अधिकांश तो इससे भी काफी कम गहरे थे। उनका आकार भी अपेक्षाकृत छोटा था। इनमें से कुछ गड्ढे अण्डाकार थे।

गड्ढे में साधारणतः बीच में या केन्द्र से थोड़ा उत्तर या पूर्व की ओर एक बड़ा बर्तन और उसके आस-पास 2 से लेकर 29 तक बर्तन रखे मिले हैं। केवल कुछ ही गड्ढे ऐसे हैं जिनमें बर्तनों के साथ मनके, सीप की चूड़ियाँ और सेलखड़ी की बनी वस्तुएँ भी मिली हैं। एक में एक बर्तन की ग्रीवा में सेलखड़ी के छोटे मनकों की तीन लड़ियां पड़ी थीं। ये भी प्रतीक शव-विसर्जन के उदाहरण हो सकते हैं। शव-विसर्जन का यह प्रकार सिंधु सभ्यता के संदर्भ में प्रथम बार प्राप्त हुआ है।

शव-विसर्जन के उपर्युक्त प्रकारों का सापेक्ष कालक्रम निर्धारण कठिन है। एक सोपानित शवाधान का उदाहरण ऐसा मिला है जिसमें दूसरे प्रकार का शव-विसर्जन कालक्रम की दृष्टि से पहले का है, और पहले प्रकार का बाद का। इसी तरह एक उदाहरण में दूसरे प्रकार के शवाधान के गर्त को तीसरे प्रकार के शवाधान के गर्त द्वारा काटा गया है। किन्तु इन एक-एक उदाहरणों से ही हम इन तीन प्रकारों की सापेक्ष तिथि के संबंध में कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

स्वराज्य प्रकाश गुप्त के अनुसार आवास की दृष्टि से कालीबंगाँ के लोगों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है :-

1. गढ़ी में रहने वाले,
2. गढ़ी के पार्श्व में रहने वाले, और
3. निम्न नगर में रहने वाले।

उनका कहना है कि शायद ये तीन अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले लोग समाज के तीन भिन्न वर्गों के द्योतक हो सकते हैं, और हो सकता है कि जिन तीन प्रकार के शव-विसर्जनों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इन्हीं तीन वर्गों के अलग-अलग रूप से संबंधित हों।

चण्डीगढ़

चण्डीगढ़ नगर के क्षेत्र में ही फरवरी 1970 में एक भवन की नींव खोदते समय हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिले। चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग द्वारा की गई खुदाई में वहाँ पर पांच शव-कंकाल प्राप्त हुए। केवल एक ही शव ऐसा था जिसको मुड़ा हुआ रखकर दफनाया गया था बाकी सभी पूरे के पूरे लंबाई में गाड़े गये थे। एक कब्र में शव का सिर दक्षिण की ओर था और शेष सभी में उत्तर की ओर। कब्रों में सादे और चित्रित मृद्भाण्ड भी रखे मिले हैं।

रण्डल हड़वा

मध्य सौराष्ट्र में स्थित रण्डल हड़वा में सर्वेक्षण करते समय एक अण्डाकार गड्ढे में अन्य वस्तुओं के साथ एक वयस्क का अस्थिपंजर मिला है जो लम्बा लिटाया गया था और जिसका सिर एक तराशे पत्थर के ऊपर रखा था।

तरखाने वाला डेरा

राजस्थान के गंगानगर जिले में तरखाने वाला डेरा नामक स्थल पर परीक्षण गर्त लगाते समय श्री अमलानन्द घोष को अन्य वस्तुओं के साथ एक चबूतरा मिला जिस पर शवदाह किये जाने के साक्ष्य मिले। इस चबूतरे पर कुछ कच्ची ईंटे चपटी बिछी थीं। उस पर कम से कम पाँच बार शव दाह किये जाने के प्रमाण थे। प्रत्येक शव-दाह के बाद राख और जली अस्थियों की सतह के ऊपर मिट्टी या कच्ची ईंट की तह बिछाई जाती थी और उस पर दूसरा शवदाह किया जाता रहा। यह सिंधु सभ्यता के अधिकांश स्थलों में कब्रिस्तान में शव गाड़ने के साक्ष्यों से भिन्न प्रकार के शव-विसर्जन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

सुरकोटड़ा

इस स्थल पर कब्रिस्तान में सीमित क्षेत्र में ही उत्खनन किया गया। इसमें केवल चार कलश-शवाधान के उदाहरण मिले। वे लोग अण्डाकार गड्डा खोदते थे और उसमें कुछ बर्तन रखते थे, इन बर्तनों में कुछ में हड्डियाँ मिलीं, कुछ में नहीं। बर्तनों को मिट्टी से भर दिया गया और उसे कंकड़ पत्थर से आच्छादित कर दिया गया। पश्चिम की ओर एक शिला को लंबाकार रखा गया। दूसरे प्रकार के शव विसर्जन में बर्तनों से युक्त अण्डाकार गर्त को एक विशाल शिलाखण्ड से ढक दिया गया था। यह विधि सिंधु सभ्यता के शव-विसर्जन की अब तक ज्ञात विधियों से भिन्न होने के कारण विशिष्ट है।

सुत्कगेंडोर

सुत्कगेंडोर में रक्षा प्राचीर के उत्तरी क्षेत्र में एक बड़ा मिट्टी का बर्तन मिला जिसमें राख थी। यह राख मृतक के शवदाह के बाद रखी भस्म हो सकती है। जले हुए अस्थ्यवशेषों से युक्त तीन बर्तन पूर्वी रक्षा-प्राचीर के पास भी पाये गये। इनके साथ ही एक सीप या शंख की चूड़ी, एक गोल चपटा आभूषण और कुछ छोटे-छोटे मृद्भाण्ड मिले। हड़प्पा संस्कृति की विशिष्ट साधार तश्तरी मिलने के कारण इनका हड़प्पा संस्कृति के काल का होना निर्विवाद लगता है।

सिंधु सभ्यता में मेसोपोटामिया और मिस्र के समान भव्य कब्रें नहीं मिली हैं, और न ही सिंधु सभ्यता के लोगों ने प्राचीन मिस्र की तरह शव को

मसाले में रखकर उसे सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। कब्रों के साथ जो सामग्री मिली है वह साधारण कोटि की है और मिस्र एवं मेसोपोटामिया की कुछ स्वर्ण, कीमती धातुओं और रत्नों से सम्पन्न कब्रों की अपेक्षा अत्यन्त साधारण हैं। या तो सिंधु सभ्यता में कब्र-सामग्री के रूप में बहुमूल्य वस्तुओं को रखने की प्रथा ही नहीं थी या जो कब्रें मिली हैं वे साधारण जनों की हैं और शासकों और अन्य सम्पन्न एवं महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की कब्रें किसी ऐसे स्थल में हैं जिस पर अभी पुरातत्व की कुदाली नहीं चली। उस समय की जनसंख्या काफी रही होगी और सिंधु सभ्यता लम्बी अवधि तक बनी रही, अतः यह आशा की जाती है कि कब्रें पर्याप्त संख्या में मिलेंगी। किन्तु अभी तक ज्ञात कब्रों की संख्या बहुत कम है। अतः यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि शवाधान के अतिरिक्त शव-विसर्जन की अन्य विधियाँ भी प्रचलित थीं।

(आ) जाति निर्धारण

मोहेंजोदड़ों से प्राप्त कंकालों की शारीरिक रचना के विचार से यहाँ के कुछ कंकालों के अध्ययन से जाति संबंधी निष्कर्ष निकाले गये हैं। प्रारंभिक रिपोर्टों के अनुसार कंकालों को मानव शास्त्रीय अध्ययन से जाति के आधार पर निम्न चार समूहों में वर्गीकृत किया गया है :-

1. आद्य-आस्ट्रेलायड - इसके तीन उदाहरण मिले।
2. भूमध्य-सागरीय - इसके छह उदाहरण मिले।
3. मंगोलीय - इसका एक ही उदाहरण मिला।
4. अल्पाइन - इसके एक निश्चित और तीन संभावित उदाहरण मिले।

आद्य-आस्ट्रेलायड जाति के लोग नाटे होते हैं, उनकी खोपड़ियाँ संकरी तथा लम्बी, नाक कुछ चौड़ी तथा चपटी और ठुड्डी बाहर की ओर निकली होती है। इनका रंग काला और बाल घुंघराले होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ये लोग आदिवासी थे। ऐसे सिरों वाले कुछ लोग आजकल लंका और दक्षिणी भारत में हैं। लंका के वेद्दा जाति के लोग इसी वर्ग के हैं। दूसरे भूमध्य-सागरीय प्रकार के उदाहरणों में खोपड़ियाँ कुछ लम्बी हैं, नाक छोटी लेकिन नुकीली है। इस तरह के कपाल बलूचिस्तान में नाल (एक), और अनु (दो) में मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आद्य-आस्ट्रेलायड इस सभ्यता के मूल निर्माताओं में से थे। मंगोलीय जाति सिंधु प्रदेश की मूल निवासी नहीं थी।

पिगट के अनुसार मंगोलीय जाति का जो एक मात्र उदाहरण मिला है वह शायद कोई सैनिक था जो पर्वतीय क्षेत्र से आया था। मकाइ के अनुसार यह जाति सिंध प्रदेश में ईरान के पठार से आयी। चौथे प्रकार के सिर अल्पाइन जाति के हैं। इनके कवेल एक निश्चित तथा तीन संभावित उदाहरण हैं। पिगट ने उल्लेख किया है कि ईरान के सियाल्क में चतुर्थ सहस्राब्दी ई.पू. के संदर्भ में अल्पाइन प्रकार के कंकाल मिले हैं।

उपर्युक्त कंकालों के अध्ययन से जो निष्कर्ष सेवेल और गुहा ने निकाले हैं वे सहज बोधगम्य हैं। सिंधु नदी के किनारे पर बसे होने के कारण मोहेंजोदड़ों नगर थलमार्ग द्वारा उत्तर-पश्चिमी एशिया से संबद्ध था। उस अतीत काल में यह नगर इन प्रदेशों की जातियों के लोगों का संगम स्थल रहा होगा। अतः इस स्थान पर विभिन्न जातियों के शवों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कपालों के अध्ययन से प्राप्त उक्त निष्कर्ष अब तक प्राप्त मूर्तियों के चेहरों से कुछ हद तक अनुमोदित लगते हैं। कांस्य नर्तकी के नाक-नक्श आद्य-आस्ट्रेलायड लगते हैं। कुछ सिर चौड़े और कुछ लम्बे लगते हैं। किन्तु यह ध्यान में रखना उपयुक्त होगा कि मूर्तिकार मानव शास्त्र के विशेषज्ञों के लिए मूर्ति निर्माण नहीं कर रहे थे। अतः तत्कालीन मानव जातियों की ठीक-ठीक जानकारी के लिए इन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

हाल ने द्रविड़ तथा सुमेरवासियों को एक ही जाति का स्वीकार किया है। उनके मतानुसार वे पहले दक्षिण में नहीं, पंजाब, सिंध और बलूचिस्तान में भी फैले थे। ब्राहुई भाषा जो आज भी बलूचिस्तान के कुछ भाग में बोली जाती है द्रविड़ भाषा है। किन्तु सुमेरी लोगों की शारीरिक रचना के विषय में विद्वानों में मतभेद है और प्राचीन द्रविड़ भाषा के स्वरूप के विषय में भी। यदि आदि द्रविड़ों को पश्चिम से आया माना जाय तो संभावना यही है कि वह आक्रांता के रूप में भारत में प्रविष्ट हुए। भूमध्य-सागरीय लोगों के कंकाल किश, अनु, नाल और मोहेंजोदड़ों में पाये गये हैं। वे अन्ततः आद्य-आस्ट्रेलायड आदि जातियों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर परिवर्तित हो गये। एस.के. चटर्जी के मतानुसार बलूचिस्तान में ब्राहुई में द्रविड़ भाषा का एक लघु क्षेत्र होना इस बात का द्योतक है कि पहले द्रविड़ भारत में दक्षिण से लेकर उत्तर तक फैले थे। लेकिन बुद्ध प्रकाश का मत है कि कुषाण-काल में किन्हीं परिस्थितियों के कारण दक्षिण से द्रविड़-भाषी उत्तर की ओर गये और इन्हीं की संतति ब्राहुई-भाषी लोग हैं।

हड़प्पा के मानव-अस्थि अवशेषों का एन.के. बोस और उनके सहयोगियों ने विस्तृत विवरण दिया है। आर-37 से 36 खोपड़ियां और जबड़े अच्छी दशा में मिले। उनमें 15 वयस्क पुरुष, 19 वयस्क नारी और 2 छोटी आयु के थे। इन्हें दो वर्गों में बाँटा गया है। पहले वर्ग (अ) में 21 वयस्क खोपड़ियाँ और दूसरे (अ 1) में 10 वयस्क खोपड़ियाँ रखी गयी हैं। चार की ठीक पहचान नहीं हो पाई है और एक असामान्य है। बाकी सब लम्बे सिर वाले हैं। 'अ 1' वर्ग की खोपड़ियाँ 'अ' वर्ग की खोपड़ियों से कुछ अधिक लम्बी हैं। 'अ' वर्ग की खोपड़ियों की तुलना उस जाति प्रकार से की गई है जिसे प्रोटो-आस्ट्रेलायड, काकेशिक या यूरेफ्रिकन नाम दिया जाता है। 'अ 1' वर्ग जो कुछ हल्की बनावट का है, उस प्रकार से मिलता-जुलता है जिसे भूमध्यसागरीय या इण्डोयूरीपियन या कैस्पियन नाम दिया गया है। 'अ' वर्ग के लोगों की औसत ऊँचाई 1 मीटर 70-72.5 सेमी. थी जबकि 'अ 1' की ऊँचाई 5-7.5 सेमी. कम थी। इन वयस्कों की आयु 20 और 40 वर्ष के बीच थी।

गुजरात में लोथल से प्राप्त कंकालों के अध्ययन से चटर्जी तथा कुमार ने कुछ निष्कर्ष निकाल कर उनका तीन प्रजातियों में परिगणन किया है :-

1. आद्य-नार्दिक – (बड़े, खुरदरे और लम्बे सिरवाले),
2. आद्य-भूमध्यसागरीय – (मध्य आकार के सिरवाले),
3. अल्पाइन-आर्मेनियम – (चौड़े सिरवाले)।

सरकार ने लोथल के कंकालों को दो मुख्य वर्गों में बाँटा है – दीर्घशिरस्क और लघुशिरस्क। लोथल के दीर्घशिरस्क और लघुशिरस्क की तुलना सियाल्क से प्राप्त क्रमशः इसी प्रकार की दो खोपड़ियों से की गयी है। कुछ विद्वानों ने दीर्घशिरस्क को आर्य तथा लघुशिरस्कों को आर्मेनियन बताया है। लोथल में एक कंकाल को आस्ट्रेलायड समूह का पहचाना गया है। कंकालों के अध्ययन से प्राप्त साक्ष्यों का राव ने निम्न प्रकार से अर्थ निकाला। सिंधु घाटी में अति लम्बे सिरवाले आदिवासी लोगों का साक्ष्य मिलता है, जिसकी वेड्डा या आस्ट्रेलायड प्रजाति समूह से पहचान की गयी है। उन्नत सिंधु-सभ्यता प्रकाल में, जिसका प्रतिनिधित्व हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों और चन्हुदड़ों करते हैं, इंडो-कैस्पियन की प्रमुखता रही। सिंधु-सभ्यता के मध्य प्रकाल में हड़प्पा के 'जी' क्षेत्र में मध्यम आकार की खोपड़ी वाले अल्पाइन प्रकार के कुछ लोग आकर बसे जिनकी संख्या आगे चलकर सबसे अधिक हो गयी। इसके कंकाल कब्रिस्तान 'एच' के प्रथम स्तर में पाये गये हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में कुछ जनसंख्या छोटे सिरवालों की भी

थी। लोथल में सभ्यता के उन्नत युग (प्रकाल 'ए') से 4 दीर्घशिरस्क तथा 2 लघुशिरस्क लोगों के उदाहरण मिले हैं। लघुशिरस्क का उदाहरण अन्तिम प्रकार 'बी' से भी मिला है। प्रकाल 'ए' से आस्ट्रेलायड समूह का एक कंकाल भी मिला। स्पष्ट है कि लोथल में उन्नत सिंधु सभ्यता युग में वहाँ की जनसंख्या में दीर्घशिरस्क और लघुशिरस्क दोनों ही सम्मिलित थे। किन्तु अधिक संख्या दीर्घशिरस्क की रही। इनकी तुलना सियाल्क (ग्रुप-II) से की गयी है। कुछ विद्वान सियाल्क II के कंकालों को आर्यों से जोड़ते हैं, और इसलिए राव का मत है कि 'ए' काल में लोथल की जनसंख्या में आर्यों की बहुलता रही। ये निष्कर्ष अपने में रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इन अल्प साक्ष्यों से सामान्य रूप से स्वीकार्य मिश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन है।

कुछ भी हो, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बाद के काल की तरह ही सिंधु सभ्यता के काल में मिश्रित जनसंख्या थी। हाल ही में हड़प्पा के नरकंकालों के पुनर्परीक्षण के पश्चात् कुछ मानवशास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया है कि हड़प्पा और लोथल में सिंधु सभ्यता काल के लोग इन क्षेत्रों में बसे आज के वासियों से बहुत मिलते-जुलते थे। इन निष्कर्षों का अर्थ होगा कि इस क्षेत्र में जो अनेकशः विदेशी आक्रमण हुए उनका यद्यपि भारतीय संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा किन्तु बाहरी आक्रमणकारियों की संख्या इतनी कम थी कि भारतीयों के साथ उनके वैवाहिक संबंध स्थापित होने पर भी मूल जातियों के आधारभूत शारीरिक गठन में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ।

●●●

अध्याय 17

काल-निर्धारण

किसी संस्कृति की उपलब्धियों के सही मूल्यांकन के लिए उसका तिथि-निर्धारण आवश्यक है। सिंधु सभ्यता की तिथि के बारे में पुराविदों में मतभेद है। सिंधु सभ्यता के लोगों के जो लघु लेख (देखिए पृष्ठ 203 और आगे) मिले हैं, उन्हें अब तक सर्वमान्य रूप से पढ़ा नहीं जा सका है। इसलिए तिथि-निर्धारण के लिए साहित्यिक साक्ष्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जब मार्शल ने हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों का उत्खनन कराया था उस समय भारतीय पुरातत्त्व में काल-निर्धारण के लिए उत्खात सामग्री का अध्ययन मुख्यतः गहराई के आधार पर ही किया जाता था, अर्थात् जितनी गहराई पर वस्तु मिले उसे उतना ही प्राचीन माना जाता था। किन्तु यह विधि दोषमुक्त नहीं है। इस पर आधारित निष्कर्ष संदिग्ध होते हैं। अब उत्खात सांस्कृतिक अवशेषों का तिथि-निर्धारण मुख्यतः स्तरीकरण के आधार पर होता है। अनेकशः किसी संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त सामग्री का किसी अन्य संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त हुई उससे मिलती-जुलती सामग्री से तुलना करना भी तिथि-निर्धारण में सहायक होता है। अन्य देशों, विशेषतः मेसोपोटामिया, ईरान, बहरीन द्वीप आदि से सिंधु सभ्यता के संपर्क थे। सिंधु सभ्यता के स्थलों में निर्मित वस्तुएँ वहाँ पर मिली हैं। भाग्यवश मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृतियों द्वारा प्रयुक्त लिपि का पढ़ना संभव हो गया है। जिससे उनके संदर्भ में महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हुआ है। इस साक्ष्य की सहायता से वहाँ की संस्कृतियों की लगभग निश्चित तिथियां निर्धारित की जा चुकी हैं। इस संदर्भ में अक्कादी सम्राट सारगन के राज्यकाल (2330 ई.पू. 2284 ई.पू) की तिथि महत्त्वपूर्ण काल-मापी आधार सिद्ध हुई है। हाल ही से खुदाइयों में प्राप्त जैविक अवशेष यथा कोयला, हड्डी या लकड़ी का रेडियो कार्बन (कार्बन-14) विधि से परीक्षण करके तिथि निर्धारित की जाने लगी है। इस विधि से अब तक हड़प्पा-संस्कृति के कई स्थलों से प्राप्त हुई जैविक सामग्री की तिथि निर्धारित की जा चुकी है। (विस्तार के लिए देखिए परिशिष्ट 11)।

यह सर्वविदित है कि बेबीलनी और सुमेरी सभ्यताओं की तरह हड़प्पा-संस्कृति भी ताम्राश्म संस्कृति थी। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय अश्मयुगीन परंपरा के साथ-साथ कुछ धातुओं, यथा सोना, चाँदी, ताँबा और

कांसा, का प्रचलन आरंभ हो गया था। किन्तु लौह के प्रयोग से वे अपरिचित थे। अतः सिंधु संस्कृति का विकास पाषण काल के अंतिम चरण के पश्चात् तथा लोहे युग के आविर्भाव से पूर्व हुआ था। जहाँ तक भारत में पाषाण-युग के अंतिम चरण के काल निर्धारण का प्रश्न है, भारत जैसे विशाल एवं अत्यधिक भौगोलिक भिन्नता लिए देश में पाषाण-युग के अन्त का काल विभिन्न क्षेत्रों में एक ही न होकर अलग-अलग रहा, और किसी क्षेत्र विशेष के लिए भी पाषाण-युग के अन्त का कोई निश्चित काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। भारत में लौह युग का प्रारंभ कब हुआ, यह भी विवादास्पद विषय है। वैसे अनेक प्राचीन स्थलों पर पिछले कुछ वर्षों में किये गये उत्खननों से जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनके प्रयोग की तिथि 1000 ई.पू. के आस-पास निर्धारित करना समीचीन लगता है। किन्तु यह तिथि भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लिए सही नहीं हो सकती। सिंधु सभ्यता के अब तक हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों, चन्हुदड़ों, रोपड़ लोथल, रंगपुर, कालीबंगा और सुरकोटडा इत्यादि कई स्थलों की खुदाई हो चुकी है। इन सभी स्थानों पर सिंधु सभ्यता की कालावधि एकदम एक ही हो ऐसा असंभव है। सिंधु सभ्यता का समय प्रवर्तन-काल जानने के लिए विभिन्न स्थलों में इस संस्कृति के प्रारंभ और अंत की जानकारी आवश्यक है।

जहाँ तक स्तर-विन्यास का प्रश्न है यह भी कुछ स्थलों पर सभ्यता के तिथि-निर्धारण में विशेष सहायक नहीं। मार्शल के निर्देशन में मोहेंजोदड़ों में किये गये उत्खनन परतों के आधार पर नहीं हुए थे। उन्होंने वहाँ के अवशेषों को प्रारम्भिक, मध्य और अंतिम तीन प्रकालों में बांटा है। मोहेंजोदड़ों के प्रारंभिक चरण में एक, और मध्य और अंतिम प्रकाल में तीन मुख्य निर्माण-चरणों का उल्लेख किया गया है। हड़प्पा में 6 निर्माण-चरण मिले, जिनमें अंतिम 'कब्रिस्तान-एच' संस्कृति का है। कोटदीजी में सिंधु सभ्यता के 6 निर्माण-चरण और कालीबंगाँ में इसी सभ्यता के 9 निर्माण-चरण मिले। लगभग सभी स्थलों में अंतिम चरण में संस्कृति के ह्रास के चिह्न मिलते हैं। हड़प्पा में सिंधु सभ्यता और 'कब्रिस्तान-एच' संस्कृति के मध्य व्यवधान है।[1] चन्हुदड़ों में भी सिंधु सभ्यता और बाद की (झूकर) संस्कृति के बीच निरंतरता नहीं है। रोपड़ और आलमगीरपुर में सिंधु सभ्यता के अंत के कुछ काल पश्चात् 'चित्रित धूसर-भाण्ड'

---

1. व्हीलर व्यवधान के पक्ष में दिये तर्कों के औचित्य को स्वीकार करते हुए भी सिंधु सभ्यता और 'कब्रिस्तान एच' की संस्कृतियों के एक दूसरे के संपर्क में आने की संभावना को नकारते नहीं।

संस्कृति के लोग उन स्थानों पर बसे। किन्तु इन परवर्ती संस्कृतियों की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं। अनुमानतः 'कब्रिस्तान एच' और 'झूकर' और 'चित्रित धूसर भाण्ड' संस्कृतियों से पहले की है; किन्तु कितनी पहले की है यह अनुमान का विषय है।

मार्शल द्वारा किये उत्खनन के विवरण के अनुसार मोहेंजोदड़ों में सात बार एक के बाद दूसरी नगरी बसी और उजड़ी। जिस गहराई तक खोदा जा सका है वहाँ तक संस्कृति के अवशेष मिले हैं। उसके बीच के स्तर अब जल-स्तर ऊँचा होने से खोदे नहीं जा सके और यह अनुमान नहीं लगाया जा सका कि अवशेषों की कितनी मोटी तह अभी जलमग्न है। यों टीले में अवशेषों का बहुत गहराई तक मिलना और अनेक बार नगर का निर्माण, पुनर्निर्माण जिस तरह मोहेंजोदड़ों में हुआ है उसका ट्राय, एथेन्स आदि दूसरे प्राचीन नगरों के साक्ष्य से तुलना करने पर ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि यहाँ पर संस्कृति दीर्घकाल तक रही। किन्तु मार्शल ने मत व्यक्त किया कि निरंतर बाढ़ के प्रकोप के कारण निर्माण और पुनर्निर्माण काफी जल्दी-जल्दी हुआ होगा। उनके अनुसार संस्कृति में प्रारंभ से लेकर अन्त तक जो मूल-भूत एकरूपता भवनों के निर्माण, मुद्राएँ मृद्भाण्ड आदि अनेक प्रकार के उपकरणों में द्रष्टव्य है वह एक अपेक्षाकृत लघुकाल में ही अधिक संभव हो सकती थी। इन दो बातों को ध्यान में रखकर इसके लिए बहुत लंबी अवधि का अनुमान लगाना ठीक नहीं। उन्होंने यह धारणा व्यक्त की कि दूसरे स्थलों में यह सभ्यता मोहेंजोदड़ों के समाप्त होने के बाद भी चलती रही। मार्शल ने मोहेंजोदड़ों नगर की कालावधि 500 साल आँकी। इस तिथि-निर्धारण में सिंधु सभ्यता का बेबीलोनी-सुमेरी संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त सामग्री के उस समय तक निर्धारित तिथि को ध्यान में रखकर उन्होंने इस सभ्यता का समय 3250-2750 ई.पू. प्रस्तावित किया। यह उल्लेखनीय है कि जब मार्शल ने यह तिथि निर्धारित की उस समय मेसोपोटामिया के इतिहास के विभिन्न कालों की तिथियाँ आज की अपेक्षा काफी पुरानी आँकी गयी थीं। उदाहरण के लिए अक्काद में सम्राट सारगन का काल उस समय लगभग 2800 ई.पू. माना जाता था जबकि वह आज लगभग 2370-2284 ई. पू. माना जाता है। मार्शल द्वारा निर्धारित यह तिथि उस समय के साक्ष्यों को देखते हुए तर्कपूर्ण थी, किन्तु अब नये साक्ष्यों के संदर्भ में इसका पुनरीक्षण आवश्यक है।

मकाइ ने फ्रैंकफर्ट द्वारा टेल अस्मर में की गयी खुदाइयों में उद्घाटित अक्कदा काल (जिसे फ्रैंककोर्ट ने 2500 ई.पू. रखा था) और मोहेंजोदड़ों के

अंतिम काल की संस्कृतियों में समानता देखी और इसलिए उन्होंने मोहेंजोदड़ों के अंतिम चरण को 2500 ई.पू. रखा। अन्य साक्ष्यों के आधार पर मकाइ ने सिंधु सभ्यता के प्रारम्भ की तिथि 2800 ई.पू. आँकी। उनका कहना है कि ईंटें लवण के प्रभाव से जल्दी-जल्दी नष्ट हुई होंगी जैसा कि आज भी कुछ जगहों से होते देखा गया है। अतः इस सभ्यता की पूरी अवधि उन्होंने लगभग 300 साल आंकी।

1921 से 1934 के बीच हड़प्पा की खुदाई के दौरान माधोसरूप वत्स को यहाँ पर निम्नतम स्तरों से जो सामग्री प्राप्त हुई थी वह उन्हें मोहेंजोदड़ों से प्राप्त निम्नतम स्तरों की सामग्री से भी प्राचीन लगी और उसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया कि हड़प्पा नगर के शिलान्यास की तिथि मोहेंजोदड़ों से भी पहले होनी चाहिए। एक टीले के मध्य प्रकार की चौथी परत में और उससे नीचे भी कुछ ऐसी मुद्राएं मिलीं जो सामान्य सिंधु मुद्राओं से छोटी थीं; मोहेंजोदड़ों में इस तरह की मुद्राओं का अभाव है। उसके नीचे भी काफी गहराई तक अवशेष थे। वत्स ने इस चौथी परत के प्रारम्भ की तिथि मोहेंजोदड़ों के निम्नतम स्तरों से पूर्व की मानी और चूंकि मार्शल ने मोहेंजोदड़ों में संस्कृति के प्रारंभ के लिए 3200 ई.पू. तिथि प्रस्तावित की थी, वत्स ने इसे 3500 ई.पू. का आंका और उससे पहले काल, जिसे वे प्रारंभिक प्रकाल की संज्ञा देते हैं, कि तिथि चतुर्थ सहस्राब्दी का प्रथमार्द्ध मानते हैं। 'एच कब्रिस्तान' की तिथि उन्होंने 2500-2000 ई.पू. मानी है। साथ ही उन्होंने यह विशेष रूप से स्पष्ट किया कि यह तिथि उन्होंने उस संस्कृति के अब तक उपलब्ध अवशेषों के लिए प्रस्तावित की है जो कि हमें विकसित रूप से मिलती है। उनके अनुसार विकास की इस स्थिति तक पहुँचने में जो समय लगा होगा उसका ठीक अनुमान लगाना कठिन है। केदारनाथ शास्त्री भी वत्स की तरह हड़प्पा में सिंधु सभ्यता का प्रारंभ चतुर्थ सहस्राब्दी के प्रथम चरण से मानते हैं।

व्हीलर ने, अक्काद के सम्राट मारगन की संशोधित तिथि (लगभग 2370-2284 ई.पू.) के परिप्रेक्ष्य में मेसोपोटामिया में प्राप्त सिंधु सभ्यता की मुद्राओं के स्तर-संदर्भ की पुनर्विवेचना कर (देखिये नीचे इसी अध्याय में आगे) सिंधु सभ्यता का प्रारंभ 2500 ई.पू. के लगभग और उसका अन्त 1500 ई.पू. के आस-पास माना है। वे इस सभ्यता का अंत आर्य आक्रमण के फलस्वरूप मानने के पक्ष में हैं जो उनके मतानुसार लगभग 1500 ई.पू. में हुआ था। सिंधु सभ्यता की तिथि संबंधी व्हीलर का यह मत काफी समय तक अधिकांश विद्वानों को मान्य रहा। पर कुछ विद्वानों ने प्रारंभ से ही उनके इस मत पर

संदेह व्यक्त किया था। संदेह का एक मुख्य कारण हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में प्रारम्भिक चरण से अंत तक संस्कृति की लगभग समरूपता थी। यह कुछ आसानी से स्वीकार करने वाली बात नहीं कि हजार साल तक किसी सभ्यता विशेषतः सिंधु जैसी विकसित सभ्यता, के भौतिक उपकरण में विशेष परिवर्तन न हुए हों। संदेह करने का दूसरा कारण यह था कि नदियों में बाढ़ों के कारण बस्तियों का उजड़ जाना और मोटी बलुई परतों का जमाव और एक ही स्थान पर बार-बार निर्माण और पुनर्निर्माण होने से अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही टीलों का काफी ऊँचा होना स्वाभाविक है। इसलिए इन विद्वानों का कहना है कि मात्र टालों की ऊँचाई के आधार पर यह अनुमान लगाना समीचीन न होगा कि सिंधु सभ्यता लंबी अवधि तक पनपती रही।

1955 में अलब्राइट (Albright) ने मत व्यक्त किया कि मेसोपोटामिया के साक्ष्यों के आधार पर इस सभ्यता का अंत ई.पू. 1750 के लगभग हुआ था। 1956 में फेयरसर्विस को क्वेटा घाटी में महत्त्वपूर्ण उत्खनन कराने का अवसर मिला। उत्खनन में प्राप्त सामग्री के अध्ययन के बाद उन्होंने सिंधु सभ्यता की कालावधि 500 वर्ष लगभग 2000 से 1500 ई.पू. के मध्य निर्धारित की। इस सभ्यता के प्रारंभ के लिए फेयरसर्विस द्वारा प्रस्तावित तिथि (2000 ई.पू.) इसके लिये व्हीलर द्वारा प्रस्तावित तिथि (2500 ई.पू.) से काफी बाद में पड़ती है।

सन् 1964 में धर्मपाल अग्रवाल ने सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्तरों से प्राप्त कुछ जैविक सामग्री की कार्बन-14 पद्धति द्वारा निर्धारित की गयी तिथियों के समग्र अध्ययन के बाद इस सभ्यता का जीवन काल 2300-1750 ई.पू. स्वीकार करने का सुझाव दिया। इस मत से इस सभ्यता की कुल अवधि साढ़े पाँच सौ वर्ष ठहरती है। यह एक रोचक तथ्य है कि यद्यपि इस सभ्यता के प्रारंभ और अंत की मार्शल द्वारा निर्धारित की गयी तिथि (3250-ई.पू. 2750 ई.पू.) कार्बन-14 विधि से निर्धारित तिथि से कहीं पहले पड़ती है, तथापि मार्शल का यह अनुमान कि मोहेंजोदड़ों में सभ्यता की कुल अवधि लगभग 500 वर्ष है, अग्रवाल द्वारा कार्बन-14 विधि के आधार पर निर्धारित इस सभ्यता की कुल अवधि के अत्यन्त निकट है।

1968 में आल्चिन और श्रीमती आल्चिन ने कोटदीजी और कालीबंगाँ की सिंधु सभ्यता की तिथियों का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला कि इन स्थलों पर सिंधु सभ्यता चार शताब्दियों, 2150 ई.पू. से 1750 ई.पू. तक

विद्यमान रही, यद्यपि अन्य स्थलों में इसमें कुछ अंतर हो सकता है। वे कहते हैं कि सभ्यता के प्रारंभ के लिए यदि इस तिथि में 100 साल का अंतर भी मान लिया जाय तो सिंधु सभ्यता के आरंभ की तिथि 2250 ई.पू. स्वीकार की जा सकती है। वे यह सुझाते हैं कि 2150 ई.पू. के पहले के मेसोपोटामिया के साथ भारतीय क्षेत्र के व्यापारिक संबंधों का जो उल्लेख है उनका तात्पर्य कदाचित आमरी संस्कृति के साथ व्यापारिक संबंधों से है, न कि सिंधु सभ्यता के साथ।

बुख्नन (Buchanan) के अनुसार सिंधु सभ्यता की मेसोपोटामिया के नगरों में आयातित मुद्राओं तथा अन्य वस्तुओं का प्राचीनतम उपलब्ध साक्ष्य (देखिये इसी अध्याय में आगे) भी 23वीं शती ई.पू. से पहले का नहीं है। अतः विकसित सिंधु सभ्यता के मेसोपोटामिया से संपर्क के साक्ष्य (देखिए आगे) 23वीं शती ई.पू. से बहुत पहले के नहीं हैं। उनका यह भी कहना है कि सिंधु सभ्यता के प्रौढ़ चरण की अवधि लगभग 300 वर्ष की है और इसका अंत 2000 ई.पू. में हो गया। कुतूहल का विषय है कि इवार लिसनर (Ivar Lissner) ने इस सभ्यता की कालावधि 1700-1500 ई.पू.[1] आंकी लेकिन लिस्नर महोदय ही कुषाण स्तूप के नीचे के अवशेषों के लिए आज से 4000 वर्ष पहले की तिथि होने की संभावना मानते हैं,[2] और इस आधार पर तो 2000 ई.पू. से कुछ पहले ही सिंधु सभ्यता की तिथि होनी चाहिए। वह इस सभ्यता के एक चरण को मिस्र के राजा अख्नातव का समकालीन मानते हैं।[3]

तिथि के संबंध में विभिन्न मतों का उल्लेख करने के पश्चात् अब हम उस सामग्री का विवेचन करेंगे जिस पर अधिकांश मत आधारित हैं। यों आकार-प्रकार में किंचित समानता आकस्मिक हो सकती है और इसलिए इसे तिथि-निर्धारण के लिए निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता। सिंधु सभ्यता और मेसोपोटामिया के सारगन और उससे पूर्व की संस्कृति के संदर्भ में कार्नीलियन के रेखांकित मनके मिले हैं। मोहेंजोदड़ों तथा लोथल से प्राप्त सोने की अक्षीय नली वाले बिम्ब मनके की तरह के मनके मेसोपोटामिया के अनेक स्थलों में प्रारंभिक राजवंश III तथा अक्काद संस्कृति के संदर्भ में और ट्राय के II 'जी' स्तर में (जिसकी तिथि लगभग 2300 ई.पू. आंकी गयी है), पाये

1. Ivar Lissner, The Living Past, Translated from German by J.M. Brownjohn (1957) p. 146.

2. वही, पृष्ठ 148

3. वही, पृष्ठ 151

गये हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त चांदी की अंगूठी पर एक तिरछा सलीबनुमा डिजाइन है। यदि यह समानता केवल आकस्मिक न होकर परस्पर संबंधों का द्यातेक है तो कुछ विद्वानों के अनुसार इस साक्ष्य के आधार पर सिंधु सभ्यता के मनकों के लिए 2300 ई.पू. से कुछ पहले की तिथि ज्ञात होती है।

यह उल्लेखनीय है कि मेसोपोटामिया से सम्पर्क के लगभग सभी साक्ष्य उन उत्खननों से उपलब्ध हैं जिनमें वस्तुओं की तिथि वैज्ञानिक विधि से परतों के आधार पर निर्धारित न कर गहराई के आधार पर निर्धारित की गयी है। यह स्वाभाविक ही है कि अब पुरातत्त्ववेत्ता इस विधि के आधार पर किये गये वस्तुओं के काल-निर्धारण को संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

हरिताभ लिए क्लोराइट सिस्ट का जो टुकड़ा मोहेंजोदड़ों के निम्न स्तरों में पाया गया है, उस पर बुनी चटाई का सा डिजाइन बना है। यह टुकड़ा ऐसे बर्तन का है जो द्वार तथा खिड़की सहित वृत्ताकार कुटिया की आकृति से मिलता-जुलता है। ऐसे पत्थर के बर्तन मेसोपोटामिया में प्रारम्भिक राजवंश के संदर्भ में खफजे उर (रानी की कब्र में), किश, लगश, अदब और मारी में मिलते हैं। सूसा (II) में भी इनके कुछ उदाहरण प्राप्त हुये। इनकी तिथि लगभग 2500 ई.पू. आंकी गयी है। पिगट के अनुसार ये बर्तन मकरान और सीस्तान में बनाये गये थे जहाँ इस तरह के बर्तन मिले हैं और वहीं से इन्हें एक ओर सिंधु सभ्यता के क्षेत्र में और दूसरी ओर मेसोपोटामिया के क्षेत्र में ले जाया गया। इनके प्रयोग के विषय में उनका मत है कि इनमें शरीर पर लेप के लिए प्रसाधन सामग्री रखी गयी होगी।[1]

दूसरे प्रकार के पत्थर के बर्तन और उनकी अनुकृति में बने वर्गाकार या बेलनाकार मजबूत मिट्टी के बर्तन मिले हैं। इन पर खाने बने हैं। ये मेही (बलूचिस्तान) और मोहेंजोदड़ों की ऊपरी सतह पर पाये गये हैं। मेसोपोटामिया में ये बर्तन ऊपर वर्णित पत्थर के बर्तनों के समकालीन भी हैं। और कुछ बाद तक भी प्रयुक्त होते रहे हैं।

टेल अस्मर से अक्कादी स्तरों में सिंधु सभ्यता के वृक्क (किडनी) के आकार के हाथी दांत के उत्खचन मिले हैं जो शंख के अनुप्रस्थच्छेद पर आधारित हैं। हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों के कुछ बर्तनों पर उभार लिये दाने हैं जो टेल अस्मर में अक्कादी स्तरों में मिले हैं।

---

1. इस तरह के बर्तनों की तिथि भारतेतर संदर्भ में सी.जे. गैड्ड ने 3000 ई.पू. से 2600 ई.पू., एम.डी. मैक्वेनम ने 2700 ई.पू., तथा एम. कांटेनन ने 3000 ई.पू. - 2800 ई.पू. आंकी है; किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार इनकी तिथि के बारे में निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि वे 2400 ई.पू. से पहले के हैं।

सांड की कुछ मृण्मय आकृतियाँ और चित्रों को भी कुछ विद्वानों ने परस्पर सम्पर्क का द्योतक माना है। इस तरह के साक्ष्य निम्नलिखित हैं –

1. दियाला घाटी में लोहित भाण्ड (Scarlet ware) पर चित्रित आकृतियाँ।
2. पूर्व राजवंश I-II काल में एक सेलखड़ी के बर्तन पर चित्रित आकृतियाँ।
3. टेल अस्मर से सारगन काल में प्राप्त मिट्‌टी पर उत्कीर्ण आकृति।
4. टेल बिल्ला के सूसा 'डी' काल के संदर्भ में प्राप्त आकृति।

चूंकि सिंधु सभ्यता से कहीं पहले मुण्डीगाक (अफगानिस्तान) 1 में सांड ज्ञात था अतः इस पशु के मेसोपोटामिया के स्थलों पर मूर्त अंकन अथवा चित्रण को सिंधु सभ्यता और प्राचीन मेसोपोटामिया की सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क का प्रमाण मानना कठिन है।

हिसार III बी में एक तांबे का चाकू मिला है जिसके फल की नोक हड़प्पा सभ्यता के संदर्भ में प्राप्त चाकुओं की तरह कुछ मुड़ी है। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त कांसे के छेदवाले कुल्हाड़ी-वसूला की तरह के उपकरण फारस में तृतीय सहस्राब्दी के अंत या द्वितीय सहस्राब्दी की तिथि वाले स्तरों में मिले हैं। मेसोपोटामिया और फारस की छेदवाली कुल्हाड़ियों से मिलती-जुलती कुल्हाड़ियाँ चन्हुदड़ों में सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण या झूकर संस्कृति में शाही शब्द (दक्षिणी बलूचिस्तान) में पायी गयी हैं। मोहेंजोदड़ों में इस तरह की कुल्हाड़ियों से बने मिट्‌टी के दो माडल मिले हैं। व्हीलर के अनुसार इनकी तिथि 2000 ई.पू. के लगभग हो सकती है, लेकिन जैसा मैलोवन का कथन है सुमेर में इस तरह की माडल कुल्हाड़ियाँ अल उवेद काल में भी मिलती हैं। चन्हुदड़ों के परवर्ती हड़प्पा या झूकर चरण में तांबे के गदा-सिर की तुलना पिगट ने लुरिस्तान में प्राप्त हुए इसी तरह के गदा सिर से की है और उनका अनुमान है कि लुरिस्तान से प्राप्त हुए। इसी तरह के गदा सिर से की है और उनका अनुमान है कि लुरिस्तान से प्राप्त गदा सिर 1400 ई.पू. या कुछ बाद का है। किन्तु इस धातु उपकरण के साम्य को भी अधिकांश विद्वान तिथि निर्धारण के लिए विश्वसनीय नहीं मानते क्योंकि तृतीय सहस्राब्दी ई.पू. में इस क्षेत्र में अनेक जातियों का आगमन – निर्गमन हुआ। व्हीलर ने तिथि निर्धारण के संदर्भ में व्यापारिक साक्ष्य का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रारंभिक राजवंश (Early Dynastic) काल में लाजवर्द का पर्याप्त प्रयोग होता रहा है और सारगन काल में इसका प्रयोग बहुतायत में नहीं किया गया है (देखिए अध्याय 'आर्थिक जीवन')। उनका कहना है कि लाजवर्द की लोकप्रियता अथवा उसकी प्राप्ति में कमी दोनों क्षेत्रों – सिंधु एवं मेसोपोटामिया – में एक ही कारण से हो सकती थी और यह भी दोनों की समकालीनता सिद्ध करता है।

मोंहेंजोदड़ों और चन्हुदड़ों की आवर्त शीर्ष वाली पिनों से मिलती-जुलती पिनें एक ओर सियाल्क (ईरान) में चतुर्थ सहस्राब्दी ई.पू. और दूसरी ओर इटली में लगभग 1300 ई.पू. के संदर्भ में पाई जाने के कारण उनका साक्ष्य तिथि निर्धारण में सहायक नहीं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त पशु-शीर्ष वाली पिनों का साक्ष्य भी तिथि के निर्धारण में विशेष सहायक नहीं क्योंकि इस तरह की पिनें मेसोपोटामिया और एलम में प्रारम्भिक राजवंश के संदर्भ में, अनातोलिया में लगभग 2000 ई.पू., ईरान में लुरिस्तान में लगभग 1400 ई.पू. और कोबन कब्रिस्तानों में लगभग 1300 ई.पू. में लिखी हैं।

सिंधु सभ्यता के विभक्त मनकों का साक्ष्य भी निश्चित नहीं है। हड़प्पा और क्नोसास से प्राप्त एक-एक मनके का वर्णक्रम लेखी विश्लेषण करने पर दोनों की संरचना में पूर्ण एकरूपता पाई गई, जिससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि दोनों का निर्माण स्रोत एक ही है। व्हीलर ने क्नोसास में इस तरह के मनकों की तिथि लगभग 1600 ई.पू. सुझाई है। लेकिन यह तिथि अनुमान पर ही आधारित है निश्चित साक्ष्य पर नहीं। सेलखड़ी के विभक्त मनके टेलब्राक (उत्तरी सीरिया) में 3200 ई.पू. के संदर्भ में मिलते हैं। यों भी हड़प्पा और क्नोसास के एक-एक मनके की संरचना में समानता आकस्मिक भी हो सकती है और जब तक दोनों क्षेत्रों से प्राप्त अनेक मनकों का विश्लेषण नहीं किया जाता, इस उपर्युक्त समानता को तिथि निर्धारण के संदर्भ में विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। कम से कम क्नोसास के मनकों के लिए सुझाई 1600 ई.पू. के लगभग की तिथि सिंधु सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में बहुत बाद की लगती है।

लोथल 'बी' के संदर्भ में प्राप्त ऊँची गर्दन वाला अण्डाकार मृद्भाण्ड आहाड़ I बी में भी मिलता है। आहाड़ I ए की कार्बन 14 विधि से उपलब्ध तिथि 1727 ± 140, और आहाड़ I सी के मध्य परतों की तिथि 1552 ± 108 आती है। I बी के लिए लगभग 1600 ई.पू. तिथि मानी जा सकती है और यही तिथि लोथल बी (पांचवें चरण) की भी मानी जा सकती है।

लोथल और टेलब्राक की मुद्राओं पर प्राप्त अनेक रेखाओं से बनाया गया स्वस्तिक अभिप्राय का उल्लेख भी तिथि निर्धारण संबंधी साक्ष्य के तौर पर किया गया है। लेकिन यह एक सामान्य प्रकार का अभिप्राय है जिसका साक्ष्य तिथि निर्धारण के संदर्भ में सर्वमान्य नहीं हो सकता। फिर टेलब्राक के इस तरह के अभिप्राय के प्रयोग की तिथि लगभग 3200 ई.पू. आंकी गयी है जो अद्यतन उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर सिंधु सभ्यता की अनुमानित तिथि से पहले की है।

मुद्राओं का साक्ष्य

भारतेतर देशों में प्राप्त कुछ ऐसी मुद्रायें हैं जो अभिप्राय अथवा आकार-प्रकार के आधार पर सिंधु सभ्यता में निर्मित अथवा सिंधु शैली की नकल लगती हैं। ये मुद्रायें सिंधु सभ्यता की तिथि निर्धारण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। यही सही है कि इन भारतेतर स्थलों में उनकी तिथि निर्धारित करने के कुछ स्तरीय साक्ष्य उपलब्ध हैं। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि मेसोपोटामिया की वे खुदाइयाँ भी जिनमें ये मुद्राएं मिली थीं, आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से नहीं की गई थीं, और इसलिए आधुनिक पुरातत्त्ववेत्त उनके साक्ष्य को निःसंकोच स्वीकार नहीं करते, और मतभेद होना स्वाभाविक है। फिर यह समस्या भी रह जाती है कि वे सिंधु सभ्यता के किस स्थल और किस स्तर (प्रारम्भिक, मध्य अथवा अन्त) की है क्योंकि साधारणतः सिंधु सभ्यता के अधिकांश उपकरणों में प्रारम्भिक काल से लेकर अन्त तक कोई विशेष अंतर नहीं दिखता। जहाँ तक शंका उठाने का प्रश्न है सिद्धान्त रूप में यह भी कहा जा सकता है कि यह भी सम्भव है कि ये मुद्रायें सिंधु सभ्यता के अब तक ज्ञात काल से भी पूर्व के काल की हों, अथवा अंतिम ज्ञात स्तरों के काल से भी बाद की हों। यों सम्भावना यही है कि ये मुद्रायें इन नगरों के विकसित काल की हैं। अब हम इन मुद्राओं के साक्ष्य की विवेचना करेंगे।

सी.जे. गैड्ड ने इन भारतेतर प्रदेशों में प्राप्त 'सिंधु' प्रकार की मुद्राओं का सर्वप्रथम गहन अध्ययन एवं विश्लेषण किया था। व्हीलर ने इनका पुनर्विवेचन किया और नीचे दिया गया विवरण उन्हीं के पुनर्विवेचन पर आधारित है। कुल मिलाकर इस प्रकार की 30 मुद्राएं हैं। इनमें से केवल 12 या 13 ही ऐसी हैं जिनका प्राप्ति स्थल ज्ञात है और इससे भी कुछ को ही ज्ञात तिथि वाले स्तरों से कुछ हद तक सम्बद्ध कर सकते हैं। लेकिन यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि इनकी तिथि के बारे में भी विद्वान पूर्णतः एकमत नहीं हैं। यही नहीं कुछ उपर्युक्त मुद्राओं में से कतिपय मुद्राओं के सिंधु सभ्यता की होने अथवा उनकी नकल पर बनी होने के संबंध में भी संदेह व्यक्त करते हैं। जिन मुद्राओं की तिथि के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी हुई उनका विवरण व्हीलर के दिये क्रम में नीचे प्रस्तुत है –

1. सेलखड़ी की वर्गाकार मुद्रा जिसके किनारे गोलाई लिए है और पृष्ठभाग सिंधु सभ्यता के बटन प्रकार की मुद्रा की तरह है। इसके अग्रभाग पर सिंधु सभ्यता की तरह बैल अंकित है किन्तु कला की दृष्टि से कुछ सिंधु

सभ्यता की मुद्राओं पर अंकित बैल से निम्न कोटि का है। इसके प्राप्ति स्तर का ज्ञान नहीं किन्तु इस पर पुरा कीलाकार लेख हैं जिसे कुछ विद्वानों ने सारगन से पूर्व काल का माना है, किन्तु लिपि के आधार पर निश्चित तिथि निर्धारण में कठिनाई स्वाभाविक है, अतः यह साक्ष्य निश्चित नहीं है (गैड्ड नं. 1)।

2. उर से प्राप्त सेलखड़ी की वृत्ताकार मुद्रा जिसकी बटन की तरह पीठ है और जिस पर वृषभ और सिंधु लिपि के कुछ चिह्न अंकित हैं। कुछ के अनुसार अक्काद से पूर्व के स्तरों में पाई गई किन्तु कुछ के अनुसार यह अक्कदीय स्तर की है (गैड्ड नं. 16)।
3. उर से प्राप्त मुद्रा जिस पर वृषभ अंकित है; लेख में सिंधु सभ्यता की लिपि से कुछ भिन्न लिपि चिह्न हैं। साथ में प्राप्त वस्तुएं सारगन काल की तिथि सूचित करती हैं (गैड्ड नं. 15)।
4. किश से प्राप्त सारगन कालीन सेलखड़ी की वर्गाकार मुद्रा जिस पर एक श्रृंगी पशु और सिंधु लिपि के अक्षर अंकित हैं।
5. टेल अस्मर से अक्कदकालीन बिना लेख वाली बेलनाकार मुद्रा (सम्भवतः ग्लेज की हुई सेलखड़ी की) जिस पर हाथी, गैंडा और घड़ियाल अंकित हैं।
6. टेल अस्मर से प्राप्त सारगन काल की अलाबास्टर की वर्गाकार बटन की तरह की मुद्रा जिसके मुखभाग पर वर्ग के भीतर वर्ग का डिजाइन है और सबसे बाहरी वर्ग में मनके का डिजाइन है।
7. टेपे गावरा से प्राप्त पकी मिट्टी की वर्गाकार मुद्रा जिस पर वर्ग के भीतर वर्ग का डिजाइन बना है। यह या तो सारगन काल की है या कुछ पहले की।
8. किश से प्राप्त सारगन कालीन सैंधव प्रकार की सेलखड़ी की वर्गाकार मुद्रा जिस पर एक श्रृंगी पशु और सिंधु लिपि के चिह्न हैं।
9. लगश से प्राप्त लार्सा कालीन सिंधु लिपि चिह्नों वाली मुद्रा।
10. उर से प्राप्त लार्सा कालीन पत्थर की बेलनदार मुद्रा, जिस पर ताड़ वृक्ष के सम्मुख कूबड़ वाला बैल अंकित है; बैल के पीछे एक बिच्छू, दो सांप और एक मानवाकृति दिखाई गई है।
11. उर से प्राप्त वृत्ताकार मुद्रा जिसका पृष्ठ भाग बटन की तरह है। मुद्रा पर मानवाकृति ऐसी बंहगी लिए है जिससे दो बर्तन या मछली पकड़ने का जाल लटक रहा है। कुछ इसे 1500 ई.पू. या बाद की मानते हैं, लेकिन व्हीलर ने इसे लार्सा काल (1900 ई.पू. के लगभग) की माना है।

12. हमा (सीरिया) से प्राप्त श्वेत पत्थर की बेलनाकार मुद्रा का टुकड़ा जिस पर सैंधव प्रकार के बैल का सिर बना है। इसे लगभग 2000-1750 ई.पू. का माना है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य मुद्रा साक्ष्य का उल्लेख भी समीचीन होगा। एक हीराकृति मुद्रा और चन्हुदड़ों से एक वृत्ताकार मुद्रा मिली है जिस पर गरुड़ का चिह्न है। इस तरह का अभिप्राय सूसा में लगभग 2400 ई.पू. और टेलब्राक (उत्तरी सीरिया) में भी लगभग इसी काल में मिलता है। यह भी तिथि निर्धारण के लिए सारगन और थोड़े बाद के काल का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

हाल ही में लैम्बर्ग कार्लोव्सकी ने टेपे याह्या (दक्षिण पूर्वी ईरान) के उत्खनन के दौरान एक मृद्भाण्ड का टुकड़ा पाया जिस पर सिंधु सभ्यता की मुहर की छाप है। उसी सतह से प्राप्त कोयले की रेडियो-कार्बन तिथि 2350 ई.पू. है। यदि इस रेडियो कार्बन तिथि को मान्यता दी जाय तो सिंधु सभ्यता के प्रारंभ के लिए इससे कुछ पहले की तिथि स्वीकार करनी पड़ेगी।

इस संदर्भ में लोथल से प्राप्त 'फारस की खाड़ी' प्रकार की मुद्रा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण होगा। हाल ही में डेन पुरातत्त्वविदों द्वारा बहरीन और फैयल्का में किये गये उत्खननों से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है जिसमें विशिष्ट प्रकार की वृत्ताकार मुद्राएं उल्लेखनीय हैं। इन मुद्राओं के बारे में अब तक जो थोड़ी बहुत सामग्री प्रकाशित हुई है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि ये सिंधु सभ्यता की मुद्राओं के पूर्णतया अनुरूप नहीं है तथापि उनसे संबद्ध अवश्य हैं। कुछ तो सिंधु मूल की ही लगती हैं जो व्यापार के संदर्भ में वहाँ पहुँची होंगी। हाल ही में बुख्नन ने मेसोपोटामिया के किसी स्थल, संभवतः उर, से प्राप्त कीलाक्षर पट्टिका प्रकाशित की है जो लार्सा के राजा गुलगुनम के दशवें वर्ष अर्थात् 1923 ई.पू. की है। इस पट्टिका पर फारस की खाड़ी के प्रकार की (बुख्नन का तीसरा प्रकार) की मुद्रा की छाप है। इससे 'फारस की खाड़ी' प्रकार की मुद्रा की तिथि निर्धारित की जा सकती है। चूँकि लोथल में भी इसी तरह की एक मुद्रा टीले की सतह से मिली है अतः लोथल की मुद्रा की तिथि भी 1923 ई.पू. के लगभग होगी।[1]

---

1. राव का कहना है कि यह मुद्रा 1900 ई.पू. से काफी पहले की होनी चाहिए क्योंकि उनके अनुसार 1900 ई.पू. के लगभग तो लोथल का बहरीन द्वीप और अन्य विदेशी क्षेत्रों से व्यापार बहुत कम हो गया था; दूसरी ओर सारगन काल (लगभग 2300 ई.पू.) में इस तरह का व्यापार अपनी चरम सीमा पर था।

उपर्युक्त साक्ष्य इस बात के द्योतक हैं कि प्रारम्भिक राजवंश III के अंत के बाद और अक्काद काल (अर्थात् लगभग 2400 ई.पू.) से कुछ समय पहले से मेसोपोटामिया और सिंधु सभ्यता के मध्य संपर्क था। ऊपर व्हीलर के वर्णन के आधार पर जिन बारह मुद्राओं का संक्षिप्त विवरण दिया गया है उनमें से तीन की तिथि के बारे में मतभेद है। कुछ विद्वान इन्हें सारगन काल से पूर्व की और कुछ सारगन काल की मानते हैं। व्हीलर ने केवल एक को ही सारगन काल से पूर्व की माना है। उनके अनुसार शेष बारह मुद्राओं में छः सारगन काल की, बाकी लार्सा काल और इससे भी बाद के काल की हैं।

सिंधु सभ्यता के काल-निर्धारण के संबंध में मेसोपोटामिया के उस अभिलिखित साक्ष्य का उल्लेख समीचीन होगा जिसमें दिल्मुन, मगन (या मकन) और मेलुह्ह नामक तीन देशों का उल्लेख है जिनके साथ मेसोपोटामिया का व्यापार होता था। इन तीनों नामों की पहचान पर विद्वान एकमत नहीं हैं। हमनें विभिन्न मतों का उल्लेख 'परिशिष्ट 4' में किया है; यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा कि इन स्थलों से मेसोपोटामिया को लकड़ी, हाथीदाँत, कार्नीलियन आदि के निर्यात का उल्लेख है। ये वस्तुएँ सिंधु सभ्यता के क्षेत्र की ओर इंगित करती है, जहाँ वे सुलभ रही थीं। उक्त अभिलेखीय सामग्री उर के द्वितीय राजवंश कालीन (अर्थात् 2130-2030 ई.पू.) अथवा लार्सा राजवंश (अर्थात् 2030-1700 ई.पू.) कालीन हैं।

यद्यपि परतों अथवा सांस्कृतिक अवशेषों की मोटाई तिथि निर्धारण का कोई निश्चित पैमाना नहीं है, तथापि तिथि निर्धारण के संबंध में इनके साक्ष्य की एकदम अवहेलना भी नहीं की जा सकती। स्वयं व्हीलर, जिन्होंने गहराई के आधार पर तिथि निर्धारण की कटु आलोचना की है और भारतीय पुरातत्व में परतों को आधार बनाकर खुदाई की विधि की शुरूआत कराई, मोहेंजोदड़ों के निक्षेपों की गहराई को तिथि निर्धारण के लिए साक्ष्य के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रेरित हुई हैं। 1964 में डेल्स ने मोहेंजोदड़ों में टीले की निचली सतह से बेधन द्वारा खुदाई की। इसमें सतह के नीचे 11.88 मीटर की गहराई तक इस संस्कृति के अवशेष मिले। उस तल से जहाँ डेल्स ने बेधन शुरू किया था टीला लगभग 9.14 मीटर ऊँचा है। यानी टीले की ऊपरी सतह से 9.14 + 11.88 = लगभग 21 मीटर की गहराई तक की परतों में इस सभ्यता के अवशेष मिले हैं। स्वयं व्हीलर ने 1950 में मोहेंजोदड़ों के बाढ़ जनित मैदानी सतह से 7.92 मीटर (जिसमें तीन मीटर से कुछ अधिक पानी के अंदर की खुदाई भी शामिल है) नीचे तक खोदा और उन्हें इस सतह तक

अन्नागार भवन की नींव की निचली सीमा मिली। यह संभव है कि बाढ़ आदि के कारण अल्प काल में ही बालू तथा कुछ अन्य प्रकार के निक्षेप की काफी मोटी तहें जमा हो गयी हों, और ऐसी दशा में निक्षेप की मोटाई से ही लंबी अवधि निर्धारित करने के तर्क का वजन कम हो जाता है। डेल्स के बंधन से बहुत थोड़ी ही सामग्री प्राप्त हो सकती है, अतः इस संभावना को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता कि निम्नतम स्तरों की वस्तुएँ सिंधु सभ्यता से भिन्न हों। लेकिन यदि निम्नतम स्तरों के अवशेष भी सिंधु सभ्यता के ही हैं, जिसकी कि अधिक संभावना है, तो इस सभ्यता के प्रारंभ की तिथि 2400 ई.पू. से कुछ पहले निर्धारित की जा सकती है। स्वयं व्हीलर भी कहते हैं कि इससे कहीं पहले की तिथि स्वीकार करने के लिए भी हमें तैयार रहना चाहिए।[1]

रेडियो कार्बन (कार्बन-14) विधि के अनुसार रेडियोधर्मी कार्बन-14 का अर्ध-जीवन अर्थात् मूल के आधे क्षय हो जाने का समय 5730 ± 40 वर्ष आंका गया है। अब कार्बन-14 विधि का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी प्रत्येक स्थिति में इस विधि द्वारा निर्धारित तिथि के एकदम सही होने के बारे में विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। (विस्तार के लिए देखिए, परिशिष्ट 11)। अब हम कुछ रेडियो कार्बन तिथियों के साक्ष्य की विवचेना करेंगे।

कोटदीजी में सिंधु सभ्यता से पहले की (कोटदीजी) संस्कृति के लिए रेडियो कार्बन तिथियाँ 2600 ± 145 ई.पू. और 2100 ± 140 ई.पू. के बीच है। कालीबंगाँ प्रथमं (सिंधु सभ्यता से पूर्व की संस्कृति) के लिए ज्ञात रेडियो कार्बन तिथियाँ 2370 ± 120 ई.पू. से 1765 ± 115 ई.पू. के बीच हैं और इसी स्थल पर सिंधु सभ्यता के काल के लिए रेडियो कार्बन तिथियाँ 2230 ± 105 और 1665 ± 110 के बीच हैं। अग्रवाल ने कुछ प्रतिदर्शों में दूषण की संभावना व्यक्त की है। उनके अनुसार 1665 ± 110 ई.पू. की तिथि अन्य तिथियों से एकदम अलग है और 1700 से 1800 ई.पू. के बीच की तिथियों वाले प्रतिदर्शों की संख्या अत्यल्प है। लाल और थापड़ ने कालीबंगाँ में सिंधु सभ्यता के लिए 2300 ई.पू. से 1800 ई.पू. की तिथि आंकी है। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त रेडियो कार्बन तिथि के लिए जिन प्रतिदर्शों का परीक्षण किया गया है वे सभी डेल्स द्वारा की गयी खुदाइयों में मिले थे और सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण के स्तरों से हैं। इनकी रेडियो कार्बन तिथियाँ 1865 ± 65 ई.पू. के बीच है।

1. "We have to be Prepared to find that the Indus-Civilization was a going concern well before 2400 B.C."

अतः प्रारंभ के चरणों के लिए कुछ पहले की तिथि होनी चाहिए। अग्रवाल का सुझाव है कि मोहेंजोदड़ों में सिंधु सभ्यता का प्रारंभ लगभग 2300 ई.पू. मानना ठीक होगा। वे यहाँ पर इस सभ्यता का अंत 2000 ई.पू. के आसपास होना मानते हैं। इस सिलसिले में यह उल्लेख समीचीन होगा कि मोहेंजोदड़ों से काफी पहले के उत्खननों से प्राप्त और संग्रहालय में संग्रहीत गेहूँ के दानों के रेडियो कार्बन परीक्षण से ज्ञात तिथि 1755 को प्रतिदर्श के दूषित होने की पूरी संभावना के कारण स्वीकार नहीं किया गया।

लोथल के लिए उपलब्ध कार्बन-14 तिथियाँ 2080 ± 135 और 1800 ± 148 ई.पू. के बीच के हैं। अग्रवाल ने लोथल के लिए ज्ञात विभिन्न तिथियों का विश्लेषण कर इस स्थल में सिंधु सभ्यता के लिए 2200—1700 ई. पू. तिथि प्रस्तावित की और यह माना कि विकसित सिंधु सभ्यता का काल 1900 ई.पू. तक रहा और उसके बाद उप-सिंधु सभ्यता का काल रहा। राव ने रेडियो कार्बन के अतिरिक्त लोथल में प्राप्त कुछ सामग्री यथा अक्षीय नली वाले सोने के बिम्ब मनके मृद्भाण्ड के ढक्कन पर स्वस्तिक का चिह्न, सीमित लेप वाले भाण्ड आदि की मेसोपोटामिया के साक्ष्य से समानता और समकालीनता स्थापित करने का प्रयास किया और वहाँ पर सिंधु सभ्यता के प्रारंभ के लिए 2450 ई.पू. तिथि सुझाई। वे भी इस बात से सहमत हैं कि विकसित सिंधु सभ्यता का काल, जिसमें उनके अनुसार चार चरण हैं, का अंत 1900 ई.पू. के आसपास हो गया था। रोजदी के लिए दो कार्बन-14 तिथियाँ उपलब्ध हैं - एक 1745 ± 105 और दूसरी 1970 ± 115 ई.पू. बाड़ा की तीन कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं, एक 1890 ± 95, दूसरी 1845 ± 155 और तीसरी 1645 ± 90। निश्चय ही दोनों विकसित सिंधु सभ्यता के अंत या बाद के काल के हैं।

कार्बन तिथियों का साक्ष्य इस बारे में स्पष्ट है कि मोहेंजोदड़ों में जब नगर निर्माण हो चुका था तब भी उससे लगभग 25 मील की दूरी पर स्थित कोटदीजी में ग्रामीण संस्कृति ही पनप रही थी जो काफी समय तक मोहेंजोदड़ों की विकसित नागरिक संस्कृति के कुछ समय तक साथ-साथ पनपने के साक्ष्य हैं। ऊपर से देखने में यह कुछ अस्वाभाविक लगता है किन्तु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं दिखती। जैसे व्हीलर का कहना है कि उस युग की ग्रामीण और नागरिक तकनीकों में आज के नगर और ग्राम की तकनीकी जैसा अंतर नहीं था और कुछ क्षेत्रों (यथा भाण्ड-निर्माण) में तो दोनों ही संस्कृतियों के लोगों की तकनीक लगभग समान रूप से विकसित थी।

विभिन्न साक्ष्यों का विश्लेषण करने के पश्चात् व्हीलर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उन नगरों की, जो सिंधु सभ्यता के केन्द्र-बिन्दु थे, नींव लगभग 2400 ई.पू. के कुछ पहले डाली गयी होगी और वे 18वीं शताब्दी ई.पू. तक विद्यमान रहे। किन्तु इसकी संभावना है कि कुछ स्थलों पर नगरों की नींव अपेक्षाकृत देर में पड़ी हो, कुछ नगर मोहेंजोदड़ों के निर्जन होने से पहले ही उजड़ गये हों, और कुछ मोहेंजोदड़ों के अंत के पश्चात् भी किंचित समय तक विद्यमान रहे हों। निश्चय ही सारे स्थलों के लिए एक ही तिथि निर्धारित करना पूर्णतः अवैज्ञानिक होगा। केन्द्रीय स्थलों से दूरी और परिस्थिति ने विभिन्न स्थलों के नगरों की नींव और अंत पर पर्याप्त प्रभाव डाला था। व्हीलर ने मिस्र की संस्कृतियों की कुछ कार्बन-14 तिथियों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार एक राजा के काल के स्तरों की कार्बन तिथि उसके पौत्र के काल के कई शताब्दियों बाद की आती है। उन्होंने संकेत दिया है कि तृतीय सहस्राब्दी ई.पू. के स्तरों की अधिकांश रेडियो कार्बन तिथियाँ वास्तविक तिथियों से काफी बाद की लगती हैं, जो संभवतः किन्हीं विशेष कारणों से वातावरण में कार्बन को प्रभावित किये जाने से हुआ। सांकलिया ने अपनी पुस्तक प्रीहिस्ट्री एंड प्रोटोहिस्ट्री आफ इण्डिया एंड पाकिस्तान के नवीन (द्वितीय) संस्करण में सिंधु सभ्यता की तिथि संबंधी दो पर्याप्त भिन्न आधुनिक मतों का उल्लेख किया है - पहला जिसके अनुसार हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में 2300 ई.पू. से 2000 ई.पू. और प्रान्तों में 2000-1700 ई.पू.; और दूसरा मुगल तथा लैम्बग कार्लोव्सकी का मत जिनके अनुसार सिंधु सभ्यता के प्रारंभ की तिथि 3000 ई.पू. माननी चाहिए (क्योंकि इस काल की दक्षिणी ईरान के टेपे याह्या की संस्कृति से उनके संबंध थे)। उन्होंने स्वयं व्हीलर द्वारा प्रस्तावित 2500-1500 ई.पू. तिथि को सत्य के निकट माना है, वैसे वे इससे भी पहले को तिथि स्वीकार करने के पक्ष में हैं।

●●●

अध्याय 18

इतर संस्कृतियों से संपर्क

सिंधु सभ्यता के लोगों का अन्य सभ्यताओं से सम्पर्क व्यापारिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार का था। कुछ साक्ष्य सीधे और स्पष्ट सम्पर्क के द्योतक हैं और दूसरे अप्रत्यक्ष संपर्क के। कुछ ऐसी भी वस्तुएं हैं जिनके संपर्क-सूचक होने के बारे में निश्चित रूप से कहना कठिन है।

'आर्थिक-जीवन' अध्ययन में हमने विभिन्न धातुओं, कीमती पत्थरों आदि के आयात के सिलसिले में कई क्षेत्रों, यथा मध्य-एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, दक्षिण भारत आदि का उल्लेख किया है। मेसोपोटामिया के विभिन्न स्थलों से सिंधु सभ्यता में निर्मित अथवा उनकी नकल वाली लगभग तीस मुद्राएं मिली हैं, जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।[1] इतनी मुद्राएं न केवल परस्पर संपर्क अपितु मेसोपोटामिया में सिंधु सभ्यता के लोगों की बस्ती बसे होने को द्योतक लगती हैं।[2] सिंधु सभ्यता में प्राप्त बेलनाकार मुद्राएं मेसोपोटामिया में निर्मित अथवा उससे प्रेरित लगती हैं। बहरीन द्वीप से प्राप्त कुछ मुद्राओं पर सिंधु लिपि के चिह्न हैं। इस द्वीप में प्राप्त अन्य मुद्राओं की तरह की कुछ मुद्राएं दक्षिणी मेसोपोटामिया और एक लोथल में मिली हैं। बहरीन ने भारत-मेसोपोटामिया के मध्य व्यापार में मध्यस्थ की भूमिका अदा की होगी और लोथल, जहाँ पर गोदी के अवशेष मिले हैं, का इस व्यापार में महत्त्वपूर्ण भाग रहा होगा। सुमेरी लेखों में व्यापार के संदर्भ में उल्लिखित दिल्मुन, मगन मेलुह्ह में से एक क्षेत्र का सिंधु सभ्यता से तात्पर्य था (देखिये परिशिष्ट 4)।

---

1. इस संदर्भ में हाथी की सूँड़ वाले बैल की आकृति युक्त वर्तुलाकार मुद्रा विशेष उल्लेखनीय है। यह अभिप्राय सिंधु सभ्यता की कई मुद्राओं पर मिलता है। इस प्रकार के मिश्र-पशु की एक पाषाण मूर्ति भी उपलब्ध है। इस तरह का अंकन सिंधु सभ्यता की अपनी विशिष्टता लगती है।

2. लैम्बर्ग कार्लोव्सकी इस मत से सहमत नहीं कि मुद्राओं का साक्ष्य मेसोपोटामिया में सिंधु सभ्यता के व्यापारियों की बस्ती होने के प्रमाण हैं। उनका कहना है कि न तो वहाँ पर भारतीय वास्तु शैली पर आधारित कोई इमारत मिली है और न किसी इमारत (या इमारतों) में पर्याप्त भारतीय मूल की वस्तुएँ मिली हैं। उनका यह भी मत है कि सिंधु सभ्यता में प्राप्त साक्ष्य भी इसके पक्ष में नहीं कि सिंधु सभ्यता के किसी स्थल में मेसोपोटामिया के लोगों की बस्ती थी।

मोहेंजोदड़ों की कुछ मुद्राओं (मकाइ फ.ए. नं. 75, 86, 122 और 454) पर दो बाघों से लड़ते हुए मानव का अंकन संभवतः सुमेरी गिल्गामेश और उनके मित्र इंकिडू के सिंहों से लड़ने के कथानक पर आधारित लगता है।[1] मकाइ ने मोहेंजोदड़ों की मुद्राओं को निर्माणशैली के आधार पर मेसोपोटामिया के अनुकरण पर भारत में निर्मित माना है।

इसी तरह एक मुद्रा पर अंकित सींगयुक्त बाघ से लड़ती एक सींग वाली आकृति की पहचान सुमेरी गाथा के इंकिड़ से की गयी है। क्रीट की कला के समान सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर मानव के बैलों से युद्ध का अंकन है। पशु को कई सिरवाला दिखाने की परंपरा का विकास कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधु सभ्यता में हुआ जहां पर इस तरह के अनेक उदाहरण हैं। सीरिया और क्रीट से इस तरह के अंकन अल्प संख्या में मिले हैं। क्रीट और सिंधु सभ्यता की बंदर की मूर्तियों में भी पर्याप्त सादृश्य हैं।

मोहेंजोदड़ों की कुछ मुद्राओं (मकाइ फ.ए. फलक LXXXIII, 1; LXXXVI, 156) में 'ग्रीक क्रास' मिला है जो कि सुमेर और एलम में काफी प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में कई उपकरणों पर मिलता है। मशकबीन का अभिप्राय मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा (मकाइ फ.ए. XCVIII, 641 (g)) पर मिला है। यही अभिप्राय शाही तम्प के बर्तनों पर भी मिलता है। मकाइ का मत है कि आधुनिक काल में भी भारत के कुछ क्षेत्रों में इस अभिप्राय को दुष्ट आत्माओं से रक्षा करने में समर्थ माना जाता है।

मकाइ (फ.ए. पृष्ठ 362) के अनुसार मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा पर बैल या भैंसे द्वारा मनुष्य को उछालते दिखाने वाला दृश्य क्रीट की कला में अंकित जानवरों के ऊपर से उछलकर निकलने वाले खेल का चित्रण हो सकता है। नाल के कब्रिस्तान क्षेत्र से प्राप्त एक सेलखड़ी मुद्रा पर सांप को पकड़े गरुड़ दिखाया गया है। इस तरह का अभिप्राय सूसा से प्राप्त एक मुद्रा पर भी मिला है जिनकी तिथि लगभग 2400 ई.पू. आंकी गयी है। मकाइ ने मोहेंजोदड़ों की एक मुद्रा (फ.ए. फलक C चित्र b और c) को मुख्यतः निम्न कारणों से उस स्थल पर निर्मित न मानकर, बाहर से लायी गयी माना है – (1) जानवर को उल्टी दशा में दिखाना, जो सिंधु शैली की अन्य मुद्राओं पर नहीं मिलता; (2) मुद्रा का संगमरमर का बना होना, यह पत्थर सिंधु सभ्यता में मुद्रा-निर्माण के लिए प्रयुक्त नहीं होता था; (3) मुद्रा की पीठ पर सिंधु सभ्यता की मुद्राओं से भिन्न प्रकार की घुंडी का होना।

---

1. मोडे इसे सुमेरी कथानक का अंकन नहीं मानते।

मोहेंजोदड़ों की चार मुद्राओं और दो ताबीजों (?) पर गरुड़ का अंकन मिलता है। हड़प्पा से प्राप्त सेलखड़ी के एक लोथल पर भी गरुड़ का चित्रण है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस अभिप्राय का मूल ईरान में हैं और बाद में सुमेर और भारत में भी इसका प्रचलन हुआ।

मेसोपोटामिया के उर नामक स्थल से दो पांसे मिले हैं जो घनाकार हैं और जिनके छहों तरफ अलग-अलग एक से लेकर छः बिन्दु बने हैं। ये सिंधु सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त घनाकार पांसों से मिलते-जुलते हैं और उन्हीं की नकल लगते हैं।

कुछ आभूषण भी सिंधु सभ्यता और पश्चिमी एशिया के मध्य संपर्क के द्योतक हैं। हड़प्पा संस्कृति की तरह के रेखांकित मनके किश, शाह टेपे, टेल अस्मर, हिसार आदि से मिलते हैं। इसी तरह सिंधु सभ्यता जैसे कांचली मिट्टी के विभक्त मनके निनेवेह, हिसार और क्रीट से भी प्राप्त हुए हैं। उर तथा किश से सिंधु सभ्यता के जैसे लम्बे ढोलाकार मनके मिले हैं। मोहेंजोदड़ों से पकाई मिट्टी के नालीदार मनके मिस्र के पत्थर के इस तरह के मनकों के अनुरूप हैं। हड़प्पा से एक मक्खी की आकृति जैसा मनका मिला है जिससे मिलते-जुलते मनके प्राचीन मिस्र और सुमेर में मिले हैं।

उर के राजकीय कब्रिस्तान में प्राप्त 'बिंब' मनकों की तरह के मनके मोहेंजोदड़ों से भी पाये गये हैं (मार्शल मो.इं.सि. पृ. 515, फलक CXLIX, 7)। लेकिन यह प्रकार सरल और सामान्य है और इसलिए संपर्क का द्योतक हो भी सकता है और नहीं भी। उर से प्राप्त गहरे हरे रंग के लम्बे ढोल-बेलनाकार मनके इस तरह के मोहेंजोदड़ों से प्राप्त मनकों से मिलते-जुलते हैं। जिस तरह के पत्थर के ये बने हैं वह या तो ईरान या भारत में उपलब्ध है। मकाइ का अनुमान है कि ऐसे मनकों का निर्माण एक ही स्थान पर हुआ जहाँ से ये अन्यत्र से लाये गये और अधिक संभावना यही लगती है कि इनका निर्माण भारत में हुआ होगा।

मोहेंजोदड़ों से सेलखड़ी की V आकृति का एक मनका मिला है (मकाइ फ.ए. फलक CIX, 8)। इसी से मिलते-जुलते मनके उर और मिस्र में बारहवें राजवंश के संदर्भ में मिले हैं मकाइ का मत है कि इस तरह के मनके बनाना भारतीयों ने पश्चिम से सीखा होगा।

मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा से कुछ अंतरक और अंतक मिले हैं जिनसे मिलते-जुलते उदाहरण मिस्र के प्राचीन साम्राज्य के समय के अवशेषों से प्राप्त

हुए हैं। हाल ही में बहरीन में की गयी खुदाइयों में कार्नीलियन के मनके मिले हैं जो सिंधु सभ्यता के ही किसी स्थल (या किन्हीं स्थलों) से लाये गये होंगे। केशपट्ट पर छोटे-छोटे छेदों का अलंकरण पश्चिमी एशिया में बहुत लोकप्रिय था। ऐसे अनेक उदाहरण किश, उर, समर्रा, सियाल्क आदि स्थानों पर मिले हैं। मोहेंजोदड़ों की खुदाइयों में भी एक इस तरह का उदाहरण उपलब्ध हुआ है। हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों से कुंडलाकार कंगन सदृश उदाहरण मिस्र, शाह टेपे, हिसार, किश तथा सूसा से भी मिले हैं।

मोहेंजोदड़ों और लोथल से सीमित लेप (रिजर्व्ड स्लिप) वाले बर्तन मिले हैं। इस तकनीक से बने बर्तन पुर और कार्कमिश में भी मिलते हैं। वूली के अनुसार संभवतः इस तरह के बर्तनों का बनाना अनातोलिया से प्रारंभ हुआ। सिंधु सभ्यता के कुछ मृद्भाण्डों पर प्राप्त घुंडीदार अलंकरण टेल अस्मर के मृद्भाण्ड पर भी प्राप्त हैं। प्रतिच्छेदी-वृत्त डिजाइन सिंधु सभ्यता में अत्यंत लोकप्रिय अभिप्राय है। लेकिन यह अभिप्राय टेल हलफ में चतुर्थ सहस्राब्दी (?) की संस्कृति तथा क्रीट की कला में भी मिलता है। बलूचिस्तान में नाल संस्कृति के बर्तनों पर भी यह दिखता है और कोटदीजी में प्राग्-हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में भी। यह कहना कठिन है कि डिजाइन का सबसे पहले प्रयोग कहाँ हुआ, यह एक दूसरे के प्रभाव का द्योतक है अथवा स्वतंत्र रूप से इसका प्रयोग कई संस्कृतियों में हुआ।

डेल्स का मत है कि कुल्ली संस्कृति का सिंधु संस्कृति के साथ संपर्क दक्षिणी एशिया के इतिहास की एक अत्यन्त रोचक बात है और मेसोपोटामिया और भारत के मध्य व्यापार एवं संपर्क में कुल्ली ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की होगी। सिंधु सभ्यता के बर्तनों की तरह पीपल के पत्ते का डिजाइन पेरियानो-घुंडई, कुल्ली और मेही में भी मिलता है। कुल्ली में हड़प्पा प्रकार के बेलनाकार छिद्रित भाण्ड का प्रकार मिला है। आमरी में हाल ही में किये उत्खननों के साक्ष्य के अनुसार वहाँ पर प्रथम काल का मत्स्य-शल्क का अलंकरण हड़प्पा संस्कृति के बर्तनों पर मिले अलंकरण की तरह है। तृतीय काल के प्रारंभ तक यह स्थल पूर्णतः सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा आवासित था। मोहेंजोदड़ों से मेढ़े की आकृति का बर्तन मिला है जो पीछे से खोखला है। यह सिंधु सभ्यता में अपनी तरह का एक ही उदाहरण है, किन्तु मिस्र, सुमेर, क्रीट और एलम की सभ्यताओं में जानवरों की आकृति वाले कई भाण्ड मिले हैं और इसलिए सिंधु सभ्यता का यह पात्र उन्हीं के प्रभाव से प्रेरित होकर निर्मित किया गया लगता है।

सिंधु सभ्यता में कुछ मिट्टी की खिलौना-चौकी मिली हैं जिनके पाये बैल के पांव की तरह हैं। इस तरह की पाये वाली चौकी मिस्र और सुमेर की संस्कृतियों में भी मिलती हैं। उपर्युक्त तीनों ही संस्कृतियों में खिलौना-चारपाइयाँ भी मिली हैं जिन पर नारी को लेटा दिखाया गया है। ये चौकियाँ और चारपाइयाँ भी परस्पर संपर्क की द्योतक लगती हैं। सिंधु सभ्यता के ताम्र-पट्ट पर अंकित रस्सी सदृश चिह्न मिस्र के तेरहवें-अट्ठाहरवें राजवंश की मुद्राओं पर भी हैं। मकाइ इस अभिप्राय के अंकन को परस्पर संपर्क के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मानते हैं। मोहेंजोदड़ों से शंख से बने हृदय की आकृति के उत्खचन पाये गये हैं (मकाइ फ.ए. पृ. 588 फलक CVII, 5, 15)। ये टेल अस्मर में हड्डी के इसी तरह के उदाहरणों से मिलते-जुलते हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त योगी (?) की मूर्ति के शाल पर तिपतिया डिजाइन है। इस तरह का अलंकरण मोहेंजोदड़ों से प्राप्त कई मनकों पर भी है (मकाइ, फ.ए. C, 12; CVI, 65; CVII, 14)। मोहेंजोदड़ों के कुछ मनकों पर अंग्रेजी अंक 8 की तरह का अलंकरण भी है। दोनों डिजाइन धार्मिक महत्त्व के लगते हैं और मेसोपोटामिया से लिये गये लगते हैं जहाँ इस तरह के डिजाइन का काफी प्रचलन था।

मातृदेवी की उपासना सिंधु सभ्यता और पश्चिमी एशिया तथा मिस्र में प्रचलित थी। सिंधु सभ्यता की कुछ मातृदेवी की मूर्तियों के सिर पर फाख्ता पक्षी दिखाया गया है जो कि सीरियाई क्रीट संस्कृति की मूर्तियों की विशेषता है। जार्ज डेल्स के अनुसार सिंधु सभ्यता में प्राप्त मिट्टी की तुन्दिल मूर्तियाँ जिन्हें मार्शल, मकाइ प्रभृति विद्वानों ने गर्भवती स्त्रियों की आकृतियाँ माना था, उनसे मिलती-जुलती मूर्तियाँ निप्पुर से मिली हैं, वहाँ पर इन मूर्तियों को ऊर्ध्व लिंग दिखाया गया है और ये मूर्तियाँ निश्चयं ही सिंधु सभ्यता की शैली के अनुकरण में बनी हैं और वास्तव में सिंधु आकृतियाँ भी पुरुष आकृतियाँ ही हैं।

मोहेंजोदड़ों में घिया पत्थर के छोटे-छोटे किन्तु आकर्षक खानेदार बर्तन मिले हैं। इस तरह के बर्तन किश, लगश, अदव, उर, खफजे और मारी में काफी संख्या में तृतीय सहस्राब्दी ई.पू. के संदर्भ में पाये गये हैं। कुछ ऐसे बर्तन बलूचिस्तान तथा फारस में भी पाये गये हैं जिनके अनुकरण में कुछ मिट्टी के बर्तन भी बने। पिगट का सुझाव है कि इस तरह के बर्तन मकरान (पूर्वी ईरान) में निर्मित हुए थे। मोडे के अनुसार इस तरह के बर्तनों का प्रेरणा स्रोत मेसोपोटामिया हो सकता है जहाँ पर समूचे पात्र मिले हैं।

मोहेंजोदड़ों में हरिताभ-धूसर सेलखड़ी के बर्तन (फ.ए. फलक CXLII,

45) पर चटाई का डिजाइन है। इस तरह के डिजाइन वाले बर्तन सुमेर तथा एलम में मिले हैं। मोहेंजोदड़ों के शौचालय टेल अस्मर में अक्कादी स्तरों में प्राप्त शौचालयों में मिलते हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त कुल्हाड़ा-बसूला सिंधु सभ्यता में अपनी तरह का एकमात्र उपकरण है। टेपे हिसार में भी इसी तरह का उपकरण मिला है।

बहरीन द्वीप से सिंधु सभ्यता में निर्मित पालिश किये फ्लिट पत्थर का एक बाट मिला है। बिब्बी के अनुसार बहरीन में इस बाट के होने के दो कारण हो सकते हैं – (1) व्यापार के संबंध में बहरीन को प्रारंभिक प्रेरणा सिंधु सभ्यता से मिली न कि मेसोपोटामिया से, और (2) बहरीन के लोगों का भारत के साथ मेसोपोटामिया से कहीं अधिक घनिष्ठ व्यापारिक संपर्क था। लोथल से 'फारस की खाड़ी' प्रकार की एक मुद्रा का पाया जाना इस बात का द्योतक है कि लोथल का बहरीन और अन्य फारस की खाड़ी के क्षेत्रों से संपर्क रहा था। बहरीन और समीपवर्ती क्षेत्रों ने मेसोपोटामिया और भारत के मध्य व्यापार में बिचौलियों की भूमिका अदा की होगी।

सोवियत मध्य-एशिया के तुर्कमेनिया गणराज्य में कैस्पियन सागर के निकट कई स्थानों - आल्तिन डेपे, नामज्गा डेपे, ताहिरबाई डेपे और अनाउ की खुदाइयों से इस क्षेत्र में सिंधु सभ्यता के प्रभाव पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा। उक्त स्थलों के उत्खननों से सिंधु सभ्यता के आकार-प्रकार वाले कई बर्तन तथा कुछ अन्य वस्तुएँ यथा एक मुद्रा, मृण्मय बैल, मनके, नग्न पुरुष-आकृतियाँ और खिलौना-गाड़ी के पहिये तथा तांबे के पात्र आदि मिले हैं। मिट्टी की बनी खिलौना गाड़ियाँ, बैल की आकृतियाँ एकदम सिंधु सभ्यता से प्रभावित हैं। आल्तिन डेपे की एक कब्र से मिली एक रजत मुद्रा पर एक बाघ का अंकन है जिसके तीन सिर हैं। इस तरह का अभिप्राय सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर भी मिलता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि हड़प्पा संस्कृति के लोग छोटे-छोटे समूहों में हिंदूकश पार कर और फिर उत्तरी ईरान से होकर आल्तिन डेपे, अनाउ और नामज्गा में विकसित ताम्राश्य सभ्यताओं के संपर्क में आये वहाँ पर धीरे-धीरे शांतिपूर्वक स्थानीय संस्कृति की धारा में मिल गये। स्वराज्य प्रकाश गुप्त का विचार है कि ये संबंध 2000 ई.पू. के आसपास रहे होंगे जबकि सिंधु सभ्यता अपने चरम विकास पर थी।

मोहेंजोदड़ों, हड़प्पा, लोथल, देसालपुर और कालीबंगाँ में सभ्यता के उन्नत युग के द्योतक स्तरों से नवपाषण संस्कृति की पत्थर की कुल्हाड़ियाँ

उपलब्ध हुई हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार पत्थर के फलक बनाने की तकनीक को सिंधु सभ्यता वालों ने नवाश्म संस्कृति के धारकों से अपनाया था।

राव के अनुसार गुजरात के सिंधु सभ्यता के उत्तराधिकारी चमकीले लाल रंग के भाण्ड वाले लोगों के मालवा और मेवाड़ के साथ संबंध थे। एरण में रंगपुर IIC और III प्रकार के कुन्द या प्रखर नौतली कटोरे मिले हैं जिन पर एकदम सौराष्ट्र की परंपरा में चित्रकारी की गयी है। इनके साथ ही कैल्सिडोनी के फलक और चपटी तांबे की कुल्हाड़ियाँ भी मिली हैं।

मेवाड़ पठार में हमें आहाड़ में लाल रंग के ह्रासोन्मुख हड़प्पा भाण्ड और चपटी कुल्हाड़ियाँ लगभग 1800 ई.पू. के, और चमकीले लाल भाण्ड लगभग 1500 ई.पू. के तिथि वाले सतहों में मिले हैं; और उत्तर में बणास घाटी में गिलूँद और कुछ अन्य स्थलों में चर्ट फलक और सिंधु प्रकार से समानता लिये भाण्ड-काले-लाल-भाण्ड के साथ मिले हैं। ये हड़प्पा प्रकार से मिलते-जुलते आकार वाले बर्तन महत्त्वपूर्ण हैं। उज्जैन के समीप कायथा में रंगपुर IIC कार के भाण्ड मिले हैं। उज्जैन जिले में ही मनोति में परवर्ती हड़प्पा सभ्यता भाण्ड के नीचे सोथी प्रकार से मिलते-जुलते बर्तन पाये गये हैं। इसका अर्थ हुआ कि प्रारंभिक हड़प्पा सभ्यता के लोगों ने वहाँ बस्ती नहीं बसायी। एस.ए. साली ने परवर्ती सिंधु सभ्यता कालीन कुछ उपकरण प्रकार महाराष्ट्र के धूलिया जिले में सावल्दा, काओठा, धूलिया आदि स्थलों में पाये हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि उनका परवर्ती सिंधु सभ्यता के लोगों से संबंध था।

दक्षिण की ओर प्रवरा नदी के तट पर स्थित नेवासा और भीमा नदी के तट पर स्थित चांदोली में सौराष्ट्र के सिंधु सभ्यता के बाद के चमकीले लाल भाण्ड के प्रयोगकर्ताओं के साथ संपर्क के साक्ष्य मिले हैं। गोदावरी पर स्थित नासिक और जोर्वे में प्रथम सहस्राब्दी के प्रारंभ में चपटी ताम्र-कुल्हाड़ियाँ मिली हैं।

गोदावरी घाटी में नेवासा और दाइमाबाद, और बेलौरी जिले में तेक्कलकोटा में सिंधु प्रकार के तकनीक से पत्थर के फलक बनाने के साक्ष्य मिलते हैं। दक्षिण कृष्णा और पेन्नार की घाटी में सिगनपल्ली, रामपुरम, शिववरम्, पतपादु और पुसलपादु में नवपाषाण-युगीन लोगों द्वारा, अल्पमात्रा में ही सही, परवर्ती हड़प्पा तकनीक में बने और रंगे बर्तन मिले हैं। सिंगनपल्ली में सेलखड़ी और शंख के बने 'बिंब' मनके हड़प्पा प्रकार के हैं। ब्रह्मगिरि, मास्की, पिक्लिहाल, हल्लूर के प्रारंभिक चरण में भी सिंधु सभ्यता प्रकार के अवशेष मिले हैं।

व्हीलर के जोर्वे और नावडाटोली में प्राप्त चपटी कुल्हाड़ियों को हड़प्पा संस्कृति के संपर्क का द्योतक मानते हैं। नावडाटोली की कुल्हाड़ियों पर ताम्र-संचय की कुल्हाड़ियों के समान ही वृत्ताकार गड्ढे मिलते हैं जिस कारण हमको वे ताम्र संचय संस्कृति के किसी क्षेत्र से आयातित लगती हैं। लोथल की ताम्र मानवाकृति (आ. 16, 13) हमें सिंधु सभ्यता में ताम्र-संचय संस्कृति से आयातित मालूम पड़ती है क्योंकि उस संस्कृति में इस तरह के बहुत से अवशेष प्राप्त हैं। कायथा के प्रथमकाल (कायथा संस्कृति) में प्राप्त तांबे की कुल्हाड़ियों पर भी हमें इसी तरह के वृत्ताकार गड्ढे मिलते हैं और ये भी ताम्र-संचय संस्कृति की लगती है।

●●●

अध्याय 19

सिंधु सभ्यता का अंत

संस्कृतियों के उद्भव और अंत, दोनों के कारणों का निर्धारण करना अधिकांशतः कठिन कार्य होता है। ऐतिहासिक काल की संस्कृतियों के ही बारे में सर्वमान्य तो अलग बात रही बहुमान्य निष्कर्ष पर पहुँचना भी कठिन होता है। प्रागैतिहासिक और पूर्व ऐतिहासिक काल के लिए तो यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। साधारणतया किसी संस्कृति का अंत एक नहीं अपितु अनेक कारणों से होता है, और जहाँ तक सिंधु संस्कृति का प्रश्न है, यह सोचना कि इतने विशाल और विभिन्न प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र में फैली और अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों वाली इस दीर्घजीवी सभ्यता का अंत सभी क्षेत्रों में एक ही कारण से हुआ होगा, नितांत अनुपयुक्त होगा। यही नहीं, संभवतः एक स्थल पर भी इसके अंत के अनेक कारण रहे होंगे। निश्चित साक्ष्यों के अभाव में इस सभ्यता के अंत के लिए विभिन्न प्रकार के अनुमान विद्वानों ने लगाये हैं। इन विभिन्न अनुमानों में कौन सही है और कौन गलत यह निर्धारण करना सरल नहीं, और न यह ही बताना संभव है कि इनमें से कौन कितनी मात्रा में उत्तरदायी था।

जैसा फेयरसर्विस ने लिखा है, नागरिक समाज एक जटिल समाज है जिसमें यथास्थिति बनाये रखने के लिए संतुलन आवश्यक है। किन्तु स्वयं की जटिलता एवं परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण यह संतुलन बनाये रखना कठिन होता है और जब संतुलन बहुत बिगड़ जाता है तो ह्रास के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं। व्हीलर ने मोहेंजोदड़ों के अंतिम प्रकाल के स्तरों में ह्रास के लक्षणों की भलीभाँति दर्शाया है। उस काल के भवनों की परियोजना और उनका आकार-प्रकार, दीवारों के निर्माण-कार्य, चबूतरों के निर्माण आदि सभी में ह्रास के चिह्न नजर आते हैं। अंतिम चरण में टीले पर और विस्तार के लिए जगह नहीं रह गयी थी और निम्न तल पर मकान बनाना बाढ़ के खतरे को मोल लेना था। जनसंख्या बढ़ने के कारण टीले पर और विस्तार की संभावना समाप्त होने पर लोगों ने पहले की बनी इमारतों को छोटे-छोटे कमरों में बांटना आरंभ कर दिया था और वह भी अधिकांशतः लापरवाही से। नये मकानों के निर्माण में पुराने मकानों की ईंटों का प्रयोग करना शुरू हो गया था। वे लोग पूर्वजों के खंडहरों में मकान बनाने लगे थे। यहाँ (मोहेंजोदड़ों में)

विशाल अन्नागार के समीप लगभग 9.15 मीटर या उससे अधिक ऊँचाई पर निम्नकोटि की इमारतें बनायी गयीं। 'डी के' टीले के 'जी' क्षेत्र के दक्षिणी भाग में श्रमजीवियों की बस्ती बस गयी थी जिनमें से अधिकांश कुम्हार थे और उनके छः भट्ठे वहीं पर बना दिये गये थे। पहले नगर के समृद्ध काल में कुम्हारों ने नगर से बाहर ही भट्ठे बनाये थे। इस प्रकार के निर्माण से स्पष्ट है कि मोहेंजोदड़ों में अब नागरिक जीवन, जिसके लिए सिंधु सभ्यता विख्यात है, के मृद्भाण्डों के स्थान पर देहातीपन पनपने लगा था। विकसित सिंधु सभ्यता प्रकार के चित्रित मृद्भाण्डों के स्थान पर सादे चित्रण रहित बर्तन बनाये जाने लगे। विकसित काल की मुद्राएं सेलखड़ी की बनी थीं और उन पर सुन्दर पशुओं की आकृतियाँ अंकित हैं, बाद की मुद्राओं के लिए सेलखड़ी का प्रयोग नहीं मिलता और लेख के स्थान पर थोड़े से ज्यामितीय चिह्न ही अंकित मिलते हैं। यह सभी लक्षण एक ओर वहाँ के निवासियों के रहन-सहन के स्तर की गिरावट के द्योतक हैं, और दूसरी ओर इस बात के कि शासन-तंत्र में ढिलाई आ गयी थी। अतः मोहेंजोदड़ों में इस सभ्यता के पूर्ण अंत से पूर्ण, शनैः-शनैः अंत की ओर अग्रसर होने के साक्ष्य उपलब्ध हैं। मोहेंजोदड़ों के अलावा हड़प्पा संस्कृति के कुछ अन्य स्थलों हड़प्पा, लोथल, कालीबंगाँ इत्यादि के अंतिम चरणों में भी ह्रास के चिह्न दिखायी देते हैं।

सिंधु सभ्यता तथा मेसोपोटामिया से प्राप्त साक्ष्य इस बात के द्योतक हैं कि अंतिम चरण में सिंधु सभ्यता का विदेशों से व्यापार एकदम कम हो गया था। यह इस बात का द्योतक है कि सिंधु सभ्यता का समाज अब कुशल नेतृत्व से वंचित था। सिंधु सभ्यता की समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण विदेशी व्यापार था और इसमें कमी होने से इस सभ्यता के वासियों पर दुष्प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विदेशी संपर्क के कम होने से विचारों और उपकरणों के पारस्परिक आदान-प्रदान का अभाव रहा और परिणामस्वरूप सभ्यता में कूपमंडूकता आ गयी होगी और दूसरी सभ्यता की उपलब्धियों, उसके आविष्कारों और खोजों को अपनी सभ्यता में प्रयुक्त करने के महान् लाभ से वे वंचित हो गये होंगे।

जातीय चरित्र के पतन और नैतिक मूल्यों में अत्यधिक ह्रास की कल्पना इन संबंध में कुछ विद्वानों ने की है। कुछ ने संस्कृति के लोगों द्वारा निरंतर वाह्य आक्रमणकारियों से जूझे रहने के कारण अंततः शक्तिहीन होने की बात कही है, तो कुछ के अनुसार राजपरिवार और राजदरबार के षड्यंत्रों ने भी इसको क्षीण करने में सहायता दी होगी। शासकों की निरंकुशता के विरुद्ध

जनता द्वारा विद्रोह की संभावना तथा पूँजीपतियों और सूदखोरों के शोषण के विरुद्ध मजदूरों तथा साधारण वर्ग द्वारा विद्रोह किये जाने की संभावना का भी उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की अनपेक्षित वृद्धि से भी सामाजिक और आर्थिक स्तर में गिरावट आने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। कुछ ने मलेरिया जैसे रोग के बड़े पैमाने पर फैलने पर लोगों का स्वास्थ्य गिर जाने की संभावना भी व्यक्त की है और कुछ ने तो कंकालों की हड्डियों का अध्ययन कर मत व्यक्त किया है कि मलेरिया के कारण हड्डियों का ठीक-ठीक विकास नहीं हो पाया था। ऐतिहासिक काल में ऐसे निश्चित साक्ष्य ज्ञात हैं जब पूरी-पूरी बस्ती मलेरिया रोग के दुष्प्रभाव के कारण उजड़ गयी।

संस्कृति के तीव्र विकास हेतु जो कार्य लोगों ने किये वे भी कुछ हद तक इसका वातावरण बदलने और अंततः ह्रास के लिए उत्तरदायी बने। मोहेंजोदड़ों, हड़प्पा जैसे नगरों की इमारतों के निर्माण एवं पुनर्निर्माण में करोड़ों ईंटें खपी होंगी। इन ईंटों के पकाने में लाखों मन लकड़ी जलायी गयी होगी, जिससे समीपवर्ती क्षेत्र का जंगल तथा वनस्पति विनष्ट हुई और भूमि में नमी की कमी हुई। चारागाहों का अत्यधिक उपयोग भी हानिकारक सिद्ध हुआ। मवेशियों विशेषतः बकरियों के शताब्दियों तक चरने से हरियाली नष्ट हो गयी। इन बातों से वातावरण पर प्रभाव पड़ा होगा और वर्षा की मात्रा में भी थोड़ी-बहुत कमी आयी होगी। नगर के समीपवर्ती क्षेत्र की भूमि में हर साल अधिक से अधिक उपज लेने के प्रयास से भूमि की उर्वरता का ह्रास हुआ होगा। शायद प्रकृति ने भी इस सभ्यता के ह्रास में योगदान दिया। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मानसून हवाओं के बदलने से भी सिंध के क्षेत्र में वर्षा में कमी आयी।[1]

इस तरह मोहेंजोदड़ों में हड़प्पा संस्कृति के दौर में ही धीरे-धीरे हरियाली कम होती जा रही थी। व्हीलर का यह मत कि मोहेंजोदड़ों के लोग अपने वातावरण को धीरे-धीरे अतिशय उपयोग से सूखा बना रहे थे और यह परिवर्तित वातावरण स्वयं मोहेंजोदड़ों नगर पर दुष्प्रभाव डाल रहा था, काफी समीचीन लगता है।

घोष का मत है कि कुछ स्थलों पर आर्द्रता का ह्रास और फलतः भूमि की शुष्कता का विस्तार सभ्यता के अंत के लिए महत्त्वपूर्ण कारण रहा। इस संदर्भ में वे बताते हैं कि सरस्वती नदी के क्षेत्र में हड़प्पा संस्कृति के स्थल,

---

1. विस्तार के लिए देखिए परिशिष्ट 3 'सिंधु सभ्यता के काल में मोहेंजोदड़ों के क्षेत्र की जलवायु'।

जिसके जीवनकाल में यह नदी निश्चित रूप से जीवंत थी, नदी के तट पर पाये गये; किन्तु उनके बाद की संस्कृति-चित्रित धूसर-भाण्ड संस्कृति के लोगों के आवास उस स्थल पर मिले हैं, जो पहले नदी का तल था। यह इस बात का द्योतक है कि लोगों के इस स्थल पर आवास बनाने के समय तक नदी सूख चुकी थी। नदी के सूखने का भी उस क्षेत्र में सूखापन बढ़ाने में योगदान रहा होगा। घोष का कहना है कि सिंधु में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ हड़प्पा सभ्यता के अंत के बाद भी अन्य संस्कृतियों ने अपनी बस्ती बसायी, किन्तु किरथर पर्वत श्रेणियों के समानान्तर जो हड़प्पा संस्कृति के स्थल हैं, उनमें इस तरह के सिंधु सभ्यता के बाद बस्ती बसाने के साक्ष्य नहीं मिलते है। इससे यह सिद्ध होता है कि जलवायु में प्रतिकूलता आ रही थी। इस संदर्भ में बीरबल साहनी पुरावनस्पति संस्थान, लखनऊ, के गुरुदीप सिंह द्वारा किये गये राजस्थान के झीलों के तट से प्राप्त पराग परीक्षणों से प्राचीन जलवायु के साक्ष्य प्रस्तुत करना समीचीन होगा। इसके अनुसार लगभग 3000–1800 ई.पू. में राजस्थान के क्षेत्र में पर्याप्त आर्द्रता तथा हरियाली थी, और 1800 ई.पू. के लगभग शुष्क जलवायु आरंभ हुई। उनका अनुमान है कि यह जलवायु परिवर्तन कालीबंगाँ तथा उत्तरी-पश्चिमी भारत के शुष्क अथवा लगभग शुष्क क्षेत्रों में हड़प्पा सभ्यता के विनाश के लिए मुख्यरूप से उत्तरदायी था। सिंधु सभ्यता के परिधीय क्षेत्र, जैसे गुजरात अथवा हिमालय की तलहटी के क्षेत्रों में इस जलवायु परिवर्तन का असर बहुत कम हुआ।

नदियों ने भी अनेक बार मार्ग बदला होगा, जिससे कुछ बस्तियाँ उजड़ गयी होंगी। ऐतिहासिक काल में सिंधु के अनेक बार मार्ग बदलने के लिखित साक्ष्य उपलब्ध हैं। भूकम्प के प्रकोप भी नदियों का मार्ग बदलने में सहायक रहे होंगे। माधोस्वरूप वत्स तो हड़प्पा नगर के विनाश के लिए रावी नदी के मार्ग-परिवर्तन को उत्तरदायी मानते हैं। रावी जो हड़प्पा के बिल्कुल समीप थी दूर हट गयी और आज यह लगभग 6 मील की दूरी पर है। जल के स्रोत का अधिक दूर होना हड़प्पावासियों के समृद्धि पर घातक प्रभाव डालने वाला सिद्ध हुआ होगा। नागरिकों का यातायात और व्यापार बहुत कुछ नदी के माध्यम से ही होता था और नदी के दूर हो जाने पर यह कठिन हो गया होगा।

कालीबंगाँ में सिंधु सभ्यता के अवशेषों के ऊपर किसी अन्य संस्कृति के अवशेष नहीं, अर्थात् सिंधु सभ्यता के बाद यह स्थल हमेशा के लिए निर्जन हो गया। बालकृष्ण थापड़ के अनुसार यहाँ पर न तो विदेशी आक्रमण, न बाढ़ और न ही लोथल और रंगपुर के समान संस्कृति के परिवर्तन से उप-सिंधु सभ्यता के होने के साक्ष्य ही मिलते हैं। डेल्स जिन्होंने 1968 में कालीबंगाँ के

क्षेत्र का सर्वेक्षण किया, का कहना है कि घग्गर और उसकी सहायक नदियों में मिलना उस क्षेत्र में संस्कृति के अंत का मुख्य कारण लगता है। उसका मत है कि 1750 ई.पू. के आस-पास नदियों के इस तरह के मार्ग परिवर्तन के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। लगभग यही तिथि कार्बन-14 विधि से भी कालीबंगाँ के अंत के लिए ज्ञात है। निश्चय ही नदियों के रुख के परिवर्तन के कारण बस्तियों में पीने और सिंचाई के लिए जल का अभाव हो गया होगा। इस कारण इस क्षेत्र में अनाच्छादन हो गया होगा।[1] इस प्रक्रिया में कुछ समय लगा होगा और कालीबंगाँ का साक्ष्य भी इसकी पुष्टि करता है। यहाँ पर अंतिम चरण में बस्ती का क्षेत्र पहले से कम हो गया था और गढ़ी वाले टीले तथा निचले टीले दोनों में ही रक्षा-प्राचीर का उपयोग नहीं रह गया था।

नदियों में वार्षिक बाढ़ का आना हड़प्पा संस्कृति के लोगों के लिए एक सामान्य विभीषिका बन चुका था। आधुनिक काल में भी सिंधु में भयानक बाढ़ आने के निश्चित साक्ष्य उपलब्ध हैं। एक ऐसी बाढ़ 1929 में आयी और नदी का जल टीले (जिससे कि प्राचीन काल की अपेक्षा अब नदी काफी दूर है) तक पहुँच गया था। और अभी हाल ही में फिर इस तरह की भीषण बाढ़ आयी। मार्शल के निर्देशन में किये गये उत्खनन में मोहेंजोदड़ों की विभिन्न सतहों से बालू के रूप में बाढ़ के प्रकोप के प्रमाण मिले हैं। मोहेंजोदड़ों में विशेष रूप से स्पष्ट है कि पुनर्निर्माण के दौर में इमारतों को ऊँचे धरातल पर बनाया जा रहा था। यद्यपि इन बाढ़ों से पूरे नगर का डूबना तो कठिन था, क्योंकि भवन निरंतर ऊँची सतह पर बनाये जा रहे थे, तथापि नगर के एक बड़े भाग का जलमग्न होना साधारण सी बात रही होगी। इससे वहाँ के लोगों के नैतिक बल में ह्रास आया होगा। उनके रहन-सहन के स्तर में गिरावट आना अवश्यम्भावी था। साधारण लोगों ने तो बाढ़ के बावजूद नगर नहीं छोड़े होंगे। किन्तु संपन्न लोग बाढ़ से उत्पन्न कठिनाइयों और असुविधाओं के कारण मोहेंजोदड़ों छोड़ कर अन्यत्र चले गये होंगे। छोटी-मोटी बाढ़ के बाद तो नगर छोड़कर गये लोग

---

1. सूरज भान द्वारा किये सर्वेक्षणों से भी हड़प्पा से पूर्व की संस्कृति, हड़प्पा संस्कृति और हड़प्पा से संबद्ध संस्कृतियों की बस्तियाँ उन स्थलों पर मिली हैं जिनकी समीप से पहले जमुना बहती थी किन्तु उस नदी के मार्ग बदलने के कारण वे स्थल धीरे-धीरे निर्जन हो गये।

लैम्बिक ने तो सुझाया है कि कदाचित् मोहेंजोदड़ों से ऊपर सिंधु नदी में अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण व्यपवर्तन से अन्य शोषित स्थानों के लोगों को मोहेंजोदड़ों आने को विवश किया हो और मोहेंजोदड़ों की जनसंख्या का संतुलन बिगड़ गया हो, और उनकी समृद्धि और शक्ति का अत्यधिक क्षय हो गया हो।

शीघ्र लौट आते रहे होंगे, किन्तु भयंकर बाढ़ के पश्चात तो क्षेत्र के लोगों को काफी समय तक लौटना कठिन हो जाता रहा होगा। मकाइ के अनुसार चन्हुदड़ों में भी सिंधु सभ्यता के लोगों के उस स्थल को छोड़ने के लिए बहुत कुछ बाढ़ ही उत्तरदायी थी। वहाँ पर अंतिम चरण में भयंकर बाढ़ के साक्ष्य रेत की तरह से स्पष्ट हैं। चन्हुदड़ों के एक टीले के बारे में मकाइ का कहना है कि वहाँ पर सिंधु सभ्यता के लोग किसी तरह कुछ समय तक बने रहे और बाद में शनैः-शनैः नष्ट हो गये या उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र अधिक समृद्ध स्थलों की ओर चले गये। वे तो यह भी सुझाते हैं कि शायद सिंधु नदी में बाढ़ इतने विशाल पैमाने पर इतनी अधिक बार और इतने लम्बे समय तक रही हो कि चन्हुदड़ों के लोग बाढ़ से रक्षा के लिए ऊँचे स्थलों की ओर गये और वहाँ शनैः-शनैः उनकी संस्कृति की विशिष्टता समाप्त हो गयी। स्तरीय साक्ष्य इस बात के द्योतक हैं कि झूकर संस्कृति के लोग चन्हुदड़ों आये तो वहाँ पर सिंधु सभ्यता के लोग नहीं थे।

राव को लोथल और भगत्राव (दक्षिण गुजरात) में कम से कम दो भीषण बाढ़ों के आने के प्रमाण मिले हैं। उनके अनुसार एक बाढ़ लगभग 2000 ई.पू. और दूसरी उसके लगभग एक शताब्दी बाद आयी थी। राव का अनुमान है कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में भी भीषण बाढ़ इसी समय आयी होगी। इमारतों को बाढ़ से बचाने के लिए चारों ओर रक्षा दीवार का निर्माण भी किया गया था। भीषण बाढ़ से खेती भी नष्ट हो जाती रही होगी और नहरें बालू से पट जाती रही होंगी। राव का कहना है कि ऐसे अवसरों पर सिंधु घाटी से सिंधु सभ्यता के कुछ लोग घग्गर की घाटी और कुछ सतलज की ओर गये। कालीबंगाँ में ये लोग पहले से आवासित क्षेत्र में भी पहुँचे। रोपड़ और कुछ अन्य सतलज की समीपवर्ती बस्तियाँ शायद इन्हीं बाढ़पीड़ित लोगों ने बसायी थीं। मोहेंजोदड़ों, लोथल और अन्य नगरों का क्षेत्र पहले से कम हो गया और वहाँ पर हर क्षेत्र में ह्रास दिखने लगता है।

कुछ स्थलों पर इस बात के प्रमाण मिले हैं कि भूमिगत जल-तल कुछ ऊँचा हो गया था। सिंधु नदी अपने साथ जो मिट्टी बहा कर लाती थी उसके जमाव के कारण नदी का तल ऊपर उठता गया और उसके साथ ही उसके इर्द-गिर्द का मैदानी क्षेत्र भी। यह प्रक्रिया धीमी किन्तु निरंतर रही और कई पीढ़ियों के अंतर में भूमि का तल काफी ऊँचा हो गया होगा तथा नगरों को बाढ़ का खतरा और बढ़ गया होगा। जैसा कि व्हीलर ने लिखा है, यदि मानवीय अनुशासन में भी कमी आ गयी हो और सिंचाई के लिए बनायी गयी नहरों तथा बांधों के प्रबंध में अनियमितता रही हो तो उससे एक ओर उपज

में कमी आयी होगी, दूसरी ओर जलप्लावन के कारण सभ्यता के ह्रास में और भी तेजी आयी होगी।

डेल्स को अपनी पुरातात्त्विक खोजों के संदर्भ में मकरान के आज के समुद्र तट से कई मील भीतर की भूमि में प्राचीन समुद्र तट के चिह्न मिले हैं। हड़प्पा संस्कृति के तीन महत्त्वपूर्ण नगर सुत्कगेंडोर, (पस्नी नदी के तट पर) और बालाकोट (कराची के उत्तर-पश्चिम में लगभग 45 मील की दूरी पर सोत्पपनी के समीप, जिसकी खोज राइक्स ने की है) की प्राचीन स्थिति के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। आज तो सुत्कगेंडोर समुद्र तट से लगभग 56 किमी., सुत्काकोह 13 किमी. और बालाकोट लगभग 19 किमी. हैं, किन्तु यहाँ पर किये सर्वेक्षण से उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा अनुमान लगाया गया है कि वे समुद्र तट पर ही अवस्थित रहे होंगे और जलमार्ग द्वारा व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण पड़ाव रहे होंगे। डेल्स के अनुसार, संक्षेप में तीन प्राकृतिक शक्तियों ने इन नगरों को समुद्र तट से दूर करने में योगदान किया, समुद्र तट की भूमि का सतत रूप से ऊपर उठना, नदियों (दास्त और सादि कौर) की लायी हुई मिट्टी के जमाव से उनके मुहानों का अवरुद्ध होना, और स्थान-स्थान पर हवाओं द्वारा रेत का जमा किया जाना। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि समुद्र तल का ऊपर उठना लगभग 480 किमी. के मकरान तट तक ही सीमित नहीं रहा होगा, बल्कि इस प्रक्रिया ने शनैः-शनैः समीपवर्ती क्षेत्र, यहाँ तक कि सिंधु के निचले भाग को भी प्रभावित किया होगा।

मोहेंजोदड़ों और अन्य तटवर्ती नगरों के लिए बाढ़ ही पर्याप्त परेशानी का कारण थी, किन्तु इसके साक्ष्य हैं कि आमरी, मोहेंजोदड़ों और कुछ अन्य, स्थल एक दूसरे प्रकार के जलप्लावन के भी शिकार हुए। मोहेंजोदड़ों में जो बारीक बलुई मिट्टी मिली है वह बाढ़ के बहते हुए पानी का परिणाम न होकर रुके हुए पानी का परिणाम लगता है। इनसे ऐसा लगता है कि ये स्थल सामान्य वार्षिकी बाढ़ के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार के जलप्लावन से भी प्रभावित हुए।

प्रसिद्ध भारतीय भूगर्भ-शास्त्री एम.आर. साहनी ने काफी साल पहले यह धारणा व्यक्त की थी कि सिंधु सभ्यता के अंत का मुख्य कारण विशाल पैमाने पर बाढ़ से भिन्न, जलप्लावन था। यह धारणा उन्होंने 1940 में किये सर्वेक्षण के आधार पर व्यक्त की थी, क्योंकि उन्हें सिंध प्रदेश के हैदराबाद नामक स्थान से चौबीस मील दक्षिण में सिंधु नदी की सतह से साठ फुट की ऊँचाई पर एक चोटी पर कछारी भूमि मिली, जिसमें सामान्य जल में रहने वाले घोंघों के शंख मिले थे। उस समय यह मत विशेष चर्चा का विषय नहीं

बना था। लेकिन अब हाल की खोजों से इस मत को काफी बल मिला है। अमेरिका के जल वैज्ञानिक आर.एल. राइक्स ने मोहेंजोदड़ों में भूगर्भ वेधन कर उससे प्राप्त सामग्री का अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने अन्य स्थानों का भी परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि अरब सागर के उत्तरी छोर पर, सिंधु सभ्यता के काल में विवर्तनिक हलचल के कारण भी कुछ स्तर ऊपर उठता गया और नदियों के मुहाने पर नदी के प्रवाह की दिशा के विपरीत उससे समकोण बनाते हुए विशाल मात्रा में रेत जमा हो गई थी। भूमि के ऊपर उठने के साथ भूकम्प भी आया होगा मोंहेजोदड़ों से नब्बे मील दूर स्थित सेहवान मुख्य रूप से इन विप्लवों का शिकार हुआ और इसमें हुए निवर्तन का मोहेंजोदड़ों तक प्रभाव पड़ा। अब सिंधु नदी का पानी समुद्र में गिरने के बजाय रुकता गया और इससे एक झील सी बन गयी पानी तो फिर भी इस उठे क्षेत्र से रिस कर निकल जाता रहा होगा पर कीचड़ और दल-दल बढ़ता गया होगा। ऐसा अनुमान किया गया है कि ऐसी स्थिति एक बार से अधिक आयी होगी। लोगों को भवनों का पुनर्निर्माण और जीर्णोद्धार करने की आवश्यकता पड़ी। इस जलप्लावन से यातायात में बड़ी बाधा पहुँची होगी। मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा के नगर व्यापार के केन्द्र थे। दल-दल के जमाव का उसके देशीय और अन्तर्देशीय व्यापार पर दुष्प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और इससे लोगों का आत्मबल भी गिर गया होगा। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों के उत्तर में स्थित कुछ अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण सिंधु सभ्यता के स्थल या तो इससे कम प्रभावित हुए थे या बचे रह गये थे।

यह मत अपेक्षाकृत सनसनीपूर्ण होने के कारण और विषय के विशेषज्ञों द्वारा विस्तृत सर्वेक्षण पर आधारित होने के कारण अच्छा खासा चर्चा का विषय बना है। लेकिन जितने प्रभावपूर्ण और नाटकीय ढंग से इसका प्रचार हुआ उतने ही तर्कपूर्ण ढंग से इसका खंडन भी हो रहा है। इस मत के खंडन के सिलसिले में लैम्ब्रिक का नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने इस तरह की झीले के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ तकनीकी शंकाएं उठाई हैं कि उसका निर्माण सामान्य परिस्थितियों में ही हुआ लगता है। नदी हजारों साल पहले से जो मार्ग अपनाये हुए है उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। यहाँ तक कि नदी की कछार भूमि में प्रत्येक वर्ष का अलग जमाव भी पहचाना जा सकता है, यद्यपि कभी-कभी नदी ने अपने ही बनाये कछार को काटा भी है। फिर राइक्स यह भी कहते हैं कि उस काल में समुद्र आमरी के बहुत निकट था। लेकिन सर्वेक्षण से उसके दक्षिण में भी प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के अवशेष मिल चुके हैं, अतः उनका यह मत पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता। विवर्तनिक प्रक्रिया से बने बांध के चिह्नों का आज बिलकुल भी न मिलना

इसकी सत्यता में संदेह उत्पन्न करता है। फिर इस झील के पानी और उसकी कीचड़ से बने दलदल के बावजूद लोग नगर में कैसे रह सकते थे, जबकि भोज्य सामग्री प्राप्त करना दुष्कर हो गया होता और यातायात ठप्प होने से अन्यत्र से संपर्क टूट गया होता। अगर वे जीवट के होते तो सामूहिक प्रयास से बांध तोड़ कर मुक्ति पा जाते, अन्यथा स्थल छोड़ अन्यत्र चला जाना ही एकमात्र चारा उनके पास था। निश्चय ही इस मत से सर्वमान्य ही नहीं बहुमान्य रूप में भी स्वीकृत होने में संदेह है। कीचड़ और दलदल से निरंतर जूझते हुए लोग मोहेंजोदड़ों जैसी विकसित नागरिक संस्कृति के निर्माता हो सकते थे, ऐसा विश्वास करना कठिन है। लैम्ब्रिक का कथन है कि मोहेंजोदड़ों में ऊपरी सतह पर जो याद मिलती है वह कच्ची ईंटों, जिनका प्रयोग विभिन्न निर्माण कार्यों में पर्याप्त रूप से हुआ था, के घुलने के कारण हुई। हवा से भी मिट्टी उड़कर आयी होगी और जम गयी होगी। उनका मत है कि जब कभी नदी मार्ग बदल कर मोहेंजोदड़ों से दूर हो गई तो लोग नगर छोड़कर नदी के बदले मार्ग के निकट अल्पकाल के लिए अस्थायी आवास बनाकर रहने लगे और फिर उपयुक्त परिस्थितियों के होने पर वापस लौट गये होंगे। लेकिन इस अल्प समय में नगर की नालियाँ गाद से भर कर बंद हो गयीं, सड़कें दब गयीं, कई भवन उजड़ गये और पहाड़ी इलाके से कुछ लुटेरे आकर बचा-खुचा सामान लूट कर ले गये। नगर में पुनः लौटे लोगों ने नवनिर्माण पुरानी नीवों के ऊपर ही किया और इससे नगर की सतह ऊपर होती गयी। कुछ अन्तराल के बाद ऐसी परिस्थितियाँ पुनः आती गयीं।

अनेक महान् संस्कृतियों के अंत का कारण बाहरी आक्रमण भी रहा है। टॉइनबी ने भी लिखा है कि जब सभ्यता में संपन्नता आती है और आसानी से लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो वे आरामतलब और विलासी हो जाते हैं। उनके पौरुष में कमी आ जाती है। उनमें नये सृजनात्मक कार्य करने का उत्साह क्षीण हो जाता है और वे पुरानी लीक पर ही चलते रहते हैं। वह वर्ग जो संस्कृति के विकास के समय जनता को कुशल नेतृत्व देते रहे थे, अब नेतृत्व के गुणों से रहित हो जाते हैं और जनता की श्रद्धा उन पर कम हो जाती है, और जनता के अनुशासित सहयोग के बिना किसी भी शक्ति के लिए अधिक अवधि तक महान् समस्याओं का समाधान करना संभव नहीं होता। दूसरी ओर लुटेरों और अन्य शत्रुओं की आँखें इन सभ्यताओं की संपन्नता को प्राप्त करने की ओर लगी रहती हैं। और, जब वे इनकी शक्ति क्षीण देखते हैं तो आक्रमण कर देते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार शायद यही बात हड़प्पा सभ्यता के संबंध में भी कुछ हद तक सत्य हो, और ह्रासोन्मुखी इस सभ्यता को बाहरी आक्रमण से अत्यन्त

हानि पहुँची हो। जो विद्वान् हड़प्पा सभ्यता के अंत के संदर्भ में आक्रमण की बात करते हैं, वे इस संदर्भ में बलूचिस्तान के तीन स्थलों-राजा घुंडई (तृतीय चरण की समाप्ति पर), नाल (झोब संस्कृति के आवास) और डाबरकोट (ऊपरी स्तर) - पर सिंधु सभ्यता के अंतिम काल की लगभग समकालीन संस्कृतियों के संदर्भ में अग्निकाण्ड के साक्ष्य की चर्चा करते हैं और इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये उस समय कुछ आक्रमणकारियों के सक्रिय होने और लूटपाट, तहस-नहस करने के साक्ष्य लगते हैं।[1] इस संदर्भ में इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि मोहेंजोदड़ों में जो आभूषण निधियाँ खुदाई में मिली हैं वे इस बात की द्योतक हैं कि आक्रमणकारियों से भयभीत होकर लोगों ने अपने स्थान त्यागने से पूर्व आभूषणों को सुरक्षा की दृष्टि से भूमि में गाड़ दिया ताकि भविष्य में लौटकर उन्हें प्राप्त कर सकें। लेकिन दूसरे विद्वानों का यह कहना है कि उस समय अगणित आवासित स्थल थे उनमें से केवल तीन स्थलों पर छोटे-मोटे अग्निकाण्ड से सिंधु सभ्यता को भी आक्रमणकारियों से नष्ट होने का साक्ष्य मानना ठीक नहीं। जो आक्रमणकारियों को इस सभ्यता के विनाश के लिए उत्तरदायी मानते हैं वे भी आक्रमणकारियों की पहचान के बारे में एकमत नहीं हैं।

कई विद्वानों की धारणा है कि सिंधु सभ्यता अनार्य सभ्यता थी। गार्डन चाइल्ड ने 1934 में इस सभ्यता के अंत के लिए आर्यों के उस पर हावी होने की संभावना व्यक्त की। व्हीलर ने भी 1946 में इसी तरह का मत व्यक्त किया। उनके अनुसार लगभग द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक सिंधु संस्कृति विद्यमान थी, यद्यपि वह पतनोन्मुख थी, लगभग इसी समय आर्य लोग आक्रान्ता के रूप में अपनी विजय-वाहिनी के साथ भारत में आये।[2] उनके अनुसार

---

1. राइक्स के मतानुसार भयानक अग्निकाण्ड भूकम्प के कारण भी हो सकता था। भूकम्प से गिरे ऊपर मंजिल की आग भयानक रूप से फैलकर भीषण अग्निकाण्ड में परिवर्तित हो सकती थी।

2. इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि एशिया माइनर के बोगाज कोई नामक स्थान में लगभग चौदहवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लेख में इन्द्र, वरुण और नासत्य (द्वय) का उल्लेख है जो उस समय आर्यों के उस क्षेत्र में होने के द्योतक हैं। बलूचिस्तान के मुगल घुण्डइ नामक स्थान में तिपाया बर्तन, घोड़े की घंटियाँ, छल्ले और चूड़ियाँ मिली हैं, जिनकी तुलना मध्य ईरान में सियाल्क में लगभग 1000 ई.पू. की तिथिवाली वस्तुओं से की गयी है। फोर्ट मुनरो की तलवार की तिथि लगभग 1200 ई.पू. आंकी गयी है। कुर्रम की घाटी में प्राप्त छेददार कुल्हाड़ी का मूल ईरान और काकेशश में उन्होंने माना। व्हीलर के अनुसार ये सब पश्चिम की ओर से लाये गये थे और आर्य भी भारत में पश्चिम की ओर से ही आये।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में जिनकी रचना उन्होंने द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य में मानी है, अनार्यों के दुर्ग रूप में सुरक्षित नगरों का उल्लेख है जिन्हें आर्य विजेताओं ने धराशायी किया था।[1] आर्य अपने देवता इन्द्र से इन शत्रुओं के दुर्गों को नष्ट करने की प्रार्थना करते हैं और इन्द्र को इनका विजेता (पुरंदर) कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार इन अनार्य पुरों की पहचान हड़प्पा एवं मोहेंजोदड़ों के दुर्गों से की जानी चाहिए। व्हीलर प्रश्न करते हैं कि ऋग्वेद में उल्लिखित आर्यों के शत्रुओं के पुर (दुर्ग) कहां हैं या थे? पुर या दुर्ग हड़प्पा संस्कृति के स्थलों - हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों, कालीबंगाँ इत्यादि को छोड़कर व्यापक पैमाने पर किसी अन्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के संदर्भ में नहीं मिलते। यदि यह मान भी लिया जाय कि ये सिंधु सभ्यता के बाद के रहे होंगे, जिन्हें अभी पुरातत्त्ववेत्ता ढूँढ नहीं पाये, तो हमें कल्पना करनी होगी कि सिंधु सभ्यता के अंत और आर्यों के आक्रमण के बीच में अल्प काल में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सभ्यता का उदय हुआ जिसमें काफी मजबूत दुर्ग बनाये गये और जिन्हें आर्यों ने विजय किया। किन्तु यह मत अधिक तर्कसंगत नहीं लगता।[2]

मोहेंजोदड़ों में सिंधु सभ्यता के विनाश के लिए आर्य विजेताओं को दोषी ठहराते हुए व्हीलर साक्ष्य के तौर पर मोहेंजोदड़ों के अंतिम स्तर से प्राप्त स्त्री पुरुष एवं बालकों के कंकालों, का जिसमें कुछ पर पैने शस्त्र के घाव के निशान

---

1. इन नगरों के लिए 'पुर' शब्द का इस्तेमाल किया गया है जिनका अर्थ दुर्ग भी होता है। ऋग्वेद में एक पुर को विस्तृत दूसरे को चौड़ा कहा गया है। कहीं-कहीं दुर्गों को, प्रतीकात्मक रूप में, धातु का कहा गया है, और कहीं शारदी (शरद ऋतु के)। दुर्ग कुछ संदर्भों में पत्थर के (अश्ममयी) और कुछ में कच्ची ईंटे (?) (आमा) के बने उल्लिखित हैं।

2. लेकिन इस संदर्भ में यह उल्लेख भी समीचीन होगा कि कुछ लोग सिंधु सभ्यता को ही आर्यों की संस्कृति मानते हैं, और अब कोटदीजी और कालीबंगाँ में सिंधु सभ्यता के पूर्व की संस्कृति के संदर्भ में किलेबंदी का साक्ष्य मिलना उनके पक्ष में एक और तर्क प्रस्तुत करता है। जैसे सांकलिया का कथन है, अब केवल आर्यों के ही देवता को 'पुरंदर' (पुरों का भेत्ता) संज्ञा देना ठीक नहीं क्योंकि स्वयं सिंधु सभ्यता के लोगों द्वारा पूर्व संस्कृति के दुर्गों का भेदन किये जाने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

हैं और जो संभवतः सामूहिक रूप से मौत के घाट उतारे गये थे, का संदर्भ देते हैं।[1] ऐसा लगता है कि जीवन-रक्षार्थ भागते समय, कोई जीने पर चढ़ते समय, कोई सड़क पर ही और कोई मकान के भीतर ही मार डाले गये। मृतकों के शव बिना किसी उचित शवोत्सर्ग के पड़े रह गये, मानों उनके

---

1. मोहेंजोदड़ों में कुल अड़तीस नर-कंकाल मिले हैं। इनमें पांच तो समूहों में और एक अलग मिला है। मार्शल के निर्देशन में जो उत्खनन हुए थे, वे परतों के आधार पर नहीं किये गये थे अतः इन नरकंकालों का ठीक-ठीक तिथि क्रम निर्धारण कठिन है। लेकिन व्हीलर ने कहा कि कम से कम तीन समूह (I)-(III) ऐसे हैं जो निश्चित रूप से समकालीन हैं और अंतिम चरण के हैं। (I) 'डी के' क्षेत्र में एक सार्वजनिक कुएं वाले कमरे में चार कंकाल मिले हैं। इस कुएं में जाने के लिए जो सीढ़ियाँ हैं उसमें दो शव ऐसे पड़े थे जिससे ऐसा लगता है कि भागने का भरसक प्रयास करते हुए मारे गये हों। दो कंकाल समीप ही थे। मकाइ के विवरण के अनुसार ये अंतिम प्रकार के हैं और निश्चित रूप से हत्या के शिकार हुए थे। (II) 'एच आर' क्षेत्र में घर नं. V में तेरह कंकाल मिले जो वयस्क पुरुष, स्त्री और बच्चों के हैं, जिनमें से कुछ के शरीर पर आभूषण भी पाये गये हैं। इनमें से कुछ पर तलवार जैसे पैने शस्त्र से घाव किये जाने के निशान हैं जो अनुमानतः उनकी मृत्यु के कारण बने। (III) डेल्स ने 'एच.आर' क्षेत्र के उत्खनन में 1964 में 5 नरकंकाल पाये जो अंतिम चरण के दीवारों के मध्य बिना उपयुक्त रूप से दफनाये पड़े थे; अनुमानतः ये शव उन लोगों के हैं जो किसी भयानक विपत्ति के शिकार हुए थे। (IV) 'वी.एस.' क्षेत्र में छह नरकंकाल (जिनमें से एक बच्चे का है) बिखरे पड़े मिले। इनके विषय में विस्तृत जानकारी का अभाव है। (V) 'एच.आर.' क्षेत्र में पूड़ा एक कंकाल। (IV) 'डी.के.' क्षेत्र में नौ कंकाल, जिनमें पांच बच्चों के थे, अस्त-व्यस्त रूप में पड़े मिले। इस समूह के साथ दो हाथी दांत मिले। मकाइ का मत है कि इनमें से कुछ हाथी दाँत का कार्य करते थे जो आक्रमण के समय हाथीदांत लेकर भागना चाहते थे, पर मार डाले गये। उनका यह भी कथन है कि मृत्यु के बाद इन्हें जल्दी में ढक दिया गया। कंकालों में एकमात्र यही समूह है जिसमें शवों को ढकने का प्रयास किया गया था - अन्य तो खुले ही छोड़ दिये गये थे। व्हीलर का अनुमान है कि इन कंकालों का नगर के बीच में यों ही पड़े रहना इस बात का द्योतक है कि इन हत्याओं के बाद नगर में बस्ती नहीं रही। गढ़ी वाले टीले में इस तरह के कंकालों का न मिलना इस बात का द्योतक है कि उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण अक्रांता उसमें कुछ समय तक रहे। वहाँ पर विजेताओं ने मारे गये लोगों के शवों को हटा दिया था। उपर्युक्त शवों का पूरा-पूरा कंकाल मिलना इस बात का द्योतक है कि पशु-पक्षियों ने इन्हें नोचा नहीं। व्हीलर का मत है कि संभवतः आक्रांत नगर में यत्र-तत्र छिटपुट आग जलते रहने के कारण ये जानवर शायद इन शवों तक नहीं पहुँच पाये। कुछ विद्वानों का मत है कि शायद प्लेग जैसी बीमारी के फैलने से लोग नगर छोड़ कर कुछ समय के लिए चले गये लेकिन कुछ असमर्थ लोग नगर में ही रह गये। वे कंकाल, जिन पर शास्त्रों के प्रहार के निशान

..... *शेष अगले पृष्ठ पर*

निकट संबंधी भी नहीं रहे हों जो कम से कम उनका अंतिम संस्कार तो करते। उनके मतानुसार ऐसी संभावना है कि लगभग द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य से कुछ पूर्व भारत में आर्यों के आक्रमण ने हड़प्पा संस्कृति का विनाश किया। मानों बर्बर आक्रमणकारियों को नगर जीवन से कोई वास्ता ही नहीं था, वे तो नये प्रदेश प्राप्त करने और लूटपाट में ही रुचि रखते थे।[1] व्हीलर ने मोहेंजोदड़ों के पतन के विषय में लिखा है – ह्रास दीर्घीकृत और क्रमिक रहा और अंत विध्वंसात्मक (decline was long drawn out and progressive, and the final fall catastrophic)।

हड़प्पा में सिंधु सभ्यता के अंत के बारे में भी व्हीलर ने कुछ मोहेंजोदड़ों की तरह की धारणा व्यक्त की है। इस संबंध में यह भी सुझाव दिया गया है कि हड़प्पा की पहचान ऋग्वेद में उल्लिखित हरियूपिया से की जानी चाहिए, जहाँ पर संभवतः आर्यों ने अनार्यों पर विजय पायी थी। इस संदर्भ में व्हीलर ऋग्वेद के साक्ष्य का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार वचीवन्तों, जिनका

नहीं हैं, ऐसे ही असमर्थ बीमार लोगों के हो सकते हैं। डेल्स भी आक्रमण वाले मत में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार हजारों लोगों की बस्ती में थोड़े से लोगों का आकस्मिक आपत्ति से मृत्यु को प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे इस बात की भी संभावना मानते हैं कि ये बाढ़ की विभीषिका के शिकार हो सकते थे। अन्यथा यदि वे आक्रमण के शिकार हुये होते तो खुदाई के दौरान अग्नि से क्षतिग्रस्त दुर्ग, विशाल संख्या में शव मिले होते। कहीं भी इस बात का साक्ष्य नहीं दिखाई देता कि विशाल पैमाने पर आक्रमण हुआ था। वे तो इन सभी नरकंकालों को एक हीं काल का मानने में भी संदेह व्यक्त करते हैं, इनमें से कुछ कंकालों के पहले और कुछ के बाद के काल के होने की संभावना व्यक्त करते हैं। अस्त्रों के घाव तो बहुत थोड़े से ही कंकालों पर पाये गये हैं और कुछ तो ऐसे लगते हैं कि उन्हें, सरसरी तौर पर ही सही, दफनाया गया था। एक भी तो उदाहरण ऐसा नहीं जिसमें कंकाल के साथ कवच मिला हो। 'डी के' क्षेत्र के 'जी' भाग में दो कंकाल सीढ़ी के पास इस तरह पड़े मिले जिनसे लगता है कि किसी विपत्ति के कारण वे भाग कर जान बचाने का प्रयास कर रहे थे किन्तु सीढ़ी के पास ही पीछा करने वालों द्वारा दबोच दिये गये थे। लेकिन इस छुट-पुट घटना को आर्यों के आक्रमण से जोड़ना डेल्स के अनुसार नितांत अनुपयुक्त है। आंतरिक विद्रोह को दबाने के फलस्वरूप या दो गिरोहों के बीच मुठभेड़ से भी इस तरह का नरसंहार संभव है।

1. स्वयं मार्शल ने इस नरसंहार के लिये सिंधु के पश्चिम में पर्वतीय लुटेरों को उत्तरदायी माना था जो समय-समय पर इस ह्रासोन्मुखी सभ्यता के लोगों पर आक्रमण कर उन्हें लूटते रहते थे। आर्यों का भारत पर आक्रमण उनके अनुसार दो शताब्दियों बाद हुआ।

उल्लेख इंद्र के शत्रुओं के रूप में हुआ है (और इसलिए जिसे हम अनार्य मान सकते हैं), को अभ्यावर्तिन चयमान ने पराजित किया। व्हीलर ने आर्यों का तादात्म्य कब्रिस्तान 'एच' संस्कृति के लोगों से किया था, किन्तु ब्रजवासी लाल ने अब तर्कों से स्पष्ट किया है कि स्तर विज्ञान के साक्ष्य के आधार पर यह कब्रिस्तान 'एच' सिंधु संस्कृति के कब्रिस्तान आर-37 से न केवल बाद का है अपितु दोनों के बीच काल-व्यवधान भी है[1] तो व्हीलर भी अब अपने पूर्व मत पर अधिक बल नहीं देते। अपनी पुस्तक 'Early Indus Civilisation' में मकाइ ने लिखा है कि मोहेंजोदड़ों का अंत 17वीं शती ईसवी पूर्व में हुआ, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि उनकी यह धारणा कार्बन-14 विधि से प्राप्त तिथियों के साक्ष्य के बहुत निकट है।[2] उनका यह कहना है कि इसी समय बेबीलोनिया पर ह्यक्सोस (Hyksos) लोगों का आक्रमण हुआ और ईरान में इसी समय प्रथम बार इण्डो-ईरानी (आर्य) लोगों ने पदार्पण किया। निश्चय ही मकाइ भी बाहरी आक्रमण को काफी हद तक मोहेंजोदड़ों के पतन के लिए उत्तरदायी समझते हैं। उनके अनुसार मोहेंजोदड़ों में धातुओं के उपकरणों (बर्तन इत्यादि) के जो संचय मिले हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि आक्रमण की आशंका से लोग इन्हें गाड़ कर अन्यत्र चले गये और फिर दुर्भाग्य से वहाँ पर लौट न सके।

मोहेंजोदड़ों से 130 कि.मी. की दूरी पर चन्हुदड़ों में भी हड़प्पा संस्कृति के अंत के लिए कुछ विद्वानों ने आक्रमणकारियों को उत्तरदायी बतलाया है। लेकिन इसके भी निश्चित साक्ष्य नहीं हैं, और दूसरी ओर इस बात के साक्ष्य हैं कि अंतिम चरण में यह स्थल भयानक बाढ़ से ग्रसित हुआ था। यहाँ पर झूकर नामक संस्कृति के लोग सिंधु सभ्यता के बाद कुछ अंतराल से आये जिस कारण उन्हें इस सभ्यता के विनाश के लिए उत्तरदायी मानना ठीक नहीं लगता। इस संस्कृति के उपलब्ध सामग्री सिंधु सभ्यता की तुलना में निम्नकोटि की है। इसके बाद झांगर संस्कृति के लोगों ने कुछ अंतर के बाद चन्हुदड़ों में बस्ती बसायी।

सिंधु सभ्यता के अंत के संदर्भ में उसके सौराष्ट्र और नर्मदा के समीप की बस्तियों की कहानी कुछ भिन्न रही। रंगपुर, लोथल आदि से प्राप्त अवशेषों से निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि वहाँ ह्रासोन्मुखी संस्कृति शनैः-शनैः कुछ

---

1. विस्तार के लिए देखिये परिशिष्ट 13।

2. यद्यपि उन्होंने यह मत तब व्यक्त किया था जब कार्बन-14 विधि ज्ञात नहीं थी।

परिवर्तित होकर पर्याप्त काल तक जीवित रही। सिंधु सभ्यता में चमकदार लाल रंग के मृद्भाण्ड काफी संख्या में बनने लगे जिन पर चित्रण के कुछ अभिप्राय सिंधु सभ्यता के बर्तनों पर अंकित अभिप्रायों से भिन्न थे। पक्की ईंटों के स्थान पर कच्ची ईंटों का प्रयोग हुआ। अब चकमक पत्थर (फ्लिंट) की जगह जैस्पर के फलक बनने लगे। इन स्थलों पर अंतिम चरण में बस्ती एक छोटे क्षेत्र तक सीमित रही और उसमें स्वच्छता का प्रबंध नगण्य था। गुजरात और मध्य-भारत में द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य और उससे पूर्व कुछ समानान्तर किनारे वाले अश्मफलक मिले हैं जो सिंधु सभ्यता के अश्म-फलकों से मिलते-जुलते हैं। रोपड़ और विशेषतः आलमगीरपुर ह्रासोन्मुखी सिंधु सभ्यता के स्थल हैं। आंक्खेड़ी और बड़गाँव से भी कुछ ऐसी सामग्री मिली है जो ह्रासोन्मुखी हड़प्पा संस्कृति से मिलती-जुलती है। इनमें खंडित मृद्भाण्ड और मृण्मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। इन स्थानों में ताँबे के उपकरण तो मिले, किन्तु पत्थर के उपकरण नहीं मिले।[1]

●●●

---

1. कुछ विद्वानों का मत है कि गेरुए रंग के मृद्भाण्ड, जो कई स्थानों में मिले हैं, वास्तव में ह्रासोन्मुखी सिंधु सभ्यता के ही मृद्भाण्ड हैं। अतरंजीखेड़ा में इनकी छोटी ग्रामीण बस्ती और तांबे के कुछ उपकरण भी मिले हैं। संभवतः यही लोग ताम्र-निधियों के निर्माता भी थे (देखिये परिशिष्ट 13)।

परिशिष्ट 1

प्राचीन मेसोपोटामिया, मिस्र और सिंधु की ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ - कुछ समानताएँ और विशिष्टताएँ

सिंधु सभ्यता के निर्माता सुनियोजित नगर-व्यवस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रति सजग थे। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों जैसे नगरों में भवन-निर्माण पक्की ईंटों से किया गया जबकि अधिकांश अन्य स्थलों पर कच्ची ईंटों से वे विभिन्न पशुओं को पालते, कृषि करते और स्थल और जल-मार्गों द्वारा व्यापार करते थे। वे सोना, चाँदी, ताँबा, टीन का उपयोग आभूषणों, अस्त्र-शस्त्रों और अन्य उपकरणों के लिए करते थे। उनके बर्तन चाक पर निर्मित थे और कुछ पर विभिन्न अभिप्राय चित्रित हैं। वे कांचली मिट्टी, हाथी दाँत, विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थर, शंख और मिट्टी के आभूषण और अन्य उपकरण बनाते थे। ये मुद्राओं का प्रयोग करते थे और विशिष्ट प्रकार की लिपि में लेख लिखते थे जो अभी तक पढ़े नहीं गये। सिंधु सभ्यता ताम्र-पाषाण संस्कृति थी, अर्थात इसमें पाषाण का प्रयोग तो पाषाण युग से दाय भाग के रूप में मिला था किन्तु साथ ही तांबा, कांसा, सोना, चाँदी तथा कुछ अन्य धातुओं का प्रयोग आरंभ हो गया था। किन्तु उस संस्कृति के लोग लौह के प्रयोग से अपरिचित थे। उपर्युक्त बातें मिस्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृतियों पर भी लागू होती हैं। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण ताम्र-पाषाणयुगीन संस्कृतियों का विकास नदियों की घाटियों में हुआ। नदियों की घाटियों में संस्कृतियों के पनपने के कई कारण थे। नदियाँ अपने साथ लायी मिट्टी से भूमि को उपजाऊ बनाती हैं और सिंचाई के लिए पर्याप्त मात्रा में जल प्रदान करती हैं। उसके माध्यम से नौकाओं पर आवागमन और व्यापार हो सकता है। जिस तरह मिस्र में नील, मेसोपोटामिया में दजला-फरात नदियों का यहाँ की संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, उसी प्रकार पंजाब तथा सिंध में सिंधु तथा उसकी सहायक नदियों ने भी सिंधु सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।[1]

---

1. स्वयं मार्शल ने सुझाव दिया था कि अगर भविष्य में सभ्यता का विस्तार सिंधु से दूर स्थलों में सिद्ध हो जाएगा तो शायद 'सिंधु सभ्यता' के वनस्पति भारतीय सभ्यता अधिक उपयुक्त होगा हाल ही में एम.आर. मुगल ने इस सभ्यता के लिए 'विशाल सिंधु सभ्यता' (Greater Indus Civilization) नाम सुझाया है। पुरातात्त्विक खोजों से प्रमाणित हो चुका है कि भारत में गंगा-यमुना और ट्रांस-काकेशिया में अक्षु नदी का योगदान भी मानवी कार्यकलापों एवं संस्कृति के विकास में कम नहीं रहा।

वातावरण और मानवीय अध्यवसाय की भिन्नता के फलस्वरूप विभिन्न संस्कृतियों के विकास में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन ताम्रपाषाण संस्कृतियों के विकास में विभिन्न जाति-प्रजातियों के लोग सहायक थे। उनकी लेखन शैली, उनके देवी-देवता, उनकी सामाजिक स्थिति और नैतिक मान्यता में अंतर होना स्वाभाविक था। किन्तु स्थानीय आवश्यकताओं और सुविधाओं के कारण इन संस्कृतियों का विकास एक-सा न होते हुए भी उनके विचारसूत्र में पर्याप्त समानता पायी जाती है। मिस्री, सुमेरी, क्रीट और सिंधु सभ्यताओं में विचारों की अभिव्यक्ति के लिए लेखन-कला अपनायी गयी और उनमें चित्रशैली का पर्याप्त प्रयोग हुआ, किन्तु उनके लिपि-चिह्नों में पर्याप्त भिन्नता रही। सिंधु और मिस्र दोनों की सभ्यताओं में लोग कताई-बुनाई करते थे। किन्तु हड़प्पा संस्कृति वालों ने वस्त्रों के लिए कपास का प्रयोग किया, जबकि मिस्र में अलसी (फ्लैक्स) को वरीयता दी गयी। इसी तरह मृद्भाण्डों पर चित्रांकन सभी संस्कृतियों में हुआ किन्तु चित्रांकन की विधा एवं विषय में पर्याप्त भिन्नता रही।

सिंधु सभ्यता का सुमेरी और मिस्री सभ्यताओं की भाँति अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। शि. रंगनाथ राव के इस कथन में कुछ सच्चाई दिखती है कि सिंधु सभ्यता के लोगों ने अपनी संस्कृति की विशिष्टता को विदेशी संस्कृति के प्रभाव से बलपूर्वक बचाया। सुनियोजित नगर व्यवस्था, सार्वजनिक स्नानागार, विशिष्ट प्रकार की अभिलिखित मुद्राएं और विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्ड और उन पर अलंकरण की विधा सिंधु सभ्यता को प्राचीन विश्व संस्कृति के इतिहास में एक अलग स्थान प्रदान करते हैं। सिंधु सभ्यता की मूर्तियाँ भी अपनी विशिष्टता लिए हैं जो अन्य सभ्यताओं की कृतियों से अलग पहचानी जाती हैं। मिस्र और मेसोपोटामिया में साधारण जनों के भवन तो साधारण कोटि के थे किन्तु राजाओं की कब्रें और देवताओं के मंदिर अत्यन्त वैभवशाली बनाये गये थे। सिंधु सभ्यता के नगरों के साधारण जनों के भवन मेसोपोटामिया और मिस्र के नागरिकों के भवन की तुलना में कहीं विशाल और आरामदेह हैं, लेकिन भव्य कब्रों और विशाल मंदिरों का, जो मिस्र और मेसोपोटामिया के स्थापत्य की विशिष्टता है, सिंधु सभ्यता में नितांत अभाव है। सिंधु तथा मेसोपोटामिया के धार्मिक विश्वासों में कुछ समानता अवश्य दिखती है किन्तु यह समानता मात्र ऊपरी है, और सिंधु सभ्यता की इससे अधिक विशिष्टता यह है कि वह परवर्ती

हिन्दू धर्म के कितने ही मुख्य तत्त्व बीज रूप में लिए हुए है। जैसा मार्शल का कहना है, संभवतः कुछ वस्तुओं की खोज या आविष्कार सिंधु घाटी में हुआ होगा और कुछ का इतर प्रदेशों में; फिर उन स्थानों से उनका अन्यत्र प्रसार हुआ होगा। यह भी संभव है कि कुछ सभ्यताओं के निर्माताओं के आदि पूर्वज एक ही थे जिनसे उन्होंने दाय के रूप में विचार प्राप्त किये किन्तु अपनी सूझबूझ से विभिन्न परिस्थितियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तित-परिवर्द्धित कर उसे असली जामा पहनाया।

●●●

परिशिष्ट 2

सिंधु सभ्यता से पूर्व की कुछ संस्कृतियाँ

सिंधु सभ्यता के उदय से पूर्व अफगानिस्तान, बलूचिस्तान एवं सिंधु में कई संस्कृतियाँ पनपीं। इन संस्कृतियों के वर्गीकरण का मुख्य आधार उनके भाण्डों का आकार-प्रकार तथा चित्रण शैली और अभिप्राय है। इन संस्कृतियों का उद्‌घाटन करने वाले विद्वानों में स्टाइन, मजुमदार, डिकार्डी, रॉस, फेयरसर्विस, डेल्स एवं कसाल मुख्य हैं। विद्वानों ने इन संस्कृतियों से संबंधित सामग्री का समाकलित अध्ययन कर उनका वर्गीकरण, कालनिर्धारण और सांस्कृतिक महत्त्व दर्शाया है।[1]

दक्षिणी अफगानिस्तान में स्थित मुण्डीगाक की सांस्कृतिक सामग्री को उत्खननकर्ता कसाल ने छः प्रकालों में बाँटा है। प्रथम काल के प्रथम चरण में हाथ से बने गुलाबी भाण्ड प्रयुक्त हुए। द्वितीय चरण में पश्चिमी एशिया की संस्कृति से प्रभावित चाक-निर्मित मृद्‌भाण्ड प्रचलन में आये और तांबे का उपयोग शुरू हुआ। इस काल के अंतिम चरण में आमरी संस्कृति के संपर्क के साक्ष्य मिलते हैं। द्वितीय काल में संस्कृति का स्वतंत्र विकास अधिक और पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव गौण हो गया। तांबे की सुइयाँ, रीढ़दार कटार, सेलखड़ी की अलंकृत मोहरें बनने लगीं। तृतीय काल के मृद्‌भाण्डों तथा अन्य उपकरणों में विविधता है जो विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव की द्योतक है। तांबे की हत्थेदार छेदवाली कुल्हाड़ी और बसूले पाये गये। द्विरंगी भाण्ड (जो आमरी संस्कृति की विशेषता है) और बहुरंगी भाण्ड (जो नाल संस्कृति की विशेषता है) प्रयोग में आये। मुण्डीगाक का यह काल नामज्गा II अ और अनाउ II का समकालीन था। क्वेटा प्रकार के भाण्ड भी मिले। सीस्तान के सहर-ए-मोख्ता I से संपर्क के साक्ष्य मिलते हैं। इस काल की तिथि लगभग 2600 ई.पू. है। चौथे प्रकाल में आवास में विस्तार हुआ। प्रासाद, मंदिर और रक्षा-प्राचीर का निर्माण नागरिक जीवन के विकास के द्योतक हैं। मृद्‌भाण्डों के कुछ अभिप्राय

---

1. पिगट ने बलूचिस्तान एवं सिंध की प्राचीन संस्कृतियों को भाण्डों के आधार पर दो वर्गों में बांटा -- (1) उत्तरी क्षेत्र जिसमें लाल भाण्ड का प्रयोग है और (2) दक्षिणी क्षेत्र जिसमें पाण्डु रंग के भाण्ड प्राप्त होते हैं। किन्तु यह देखा गया है कि लाल भाण्ड बहुल क्षेत्र में कुछ स्थलों पर पाण्डु भाण्ड मिले हैं, और पाण्डु भाण्ड बहुल क्षेत्र के कुछ स्थलों में लाल भाण्ड मिले हैं।

ईरानी संपर्क के और लोहित (स्कारलेट) भाण्ड पश्चिमी एशिया के प्रभाव के द्योतक हैं। कुल्ली शैली के अनुरूप पशुओं को स्वाभाविक से कहीं अधिक लम्बा दिखाया गया है। लेकिन दोनों में मूलभूत अंतर भी है। कुल्ली के भाण्डों पर पशुओं के साथ वनस्पति भी दिखलाई गई है, लेकिन मुण्डीगाक के पात्रों पर नहीं। मुण्डीगाक से सिंधु सभ्यता से प्रभावित कुछ मातृदेवी की मूर्तियाँ, मृद्भाण्ड और पत्थर का पुरुष सिर भी प्राप्त हुआ है।

दक्षिण-मध्य अफगानिस्तान में स्थित देह मोरासी घुंडई में दुप्रो द्वारा किये उत्खनन में एक विकसित गाँव के अवशेष मिले हैं। कच्ची ईंटों की चहारदीवारी के भीतर कुछ निर्माण-कार्य, मृद्भाण्ड, तांबे की नली और अलाबास्टर का प्याला मिला। सीस्तान के सदृश पाण्डु पर काले चित्रणयुक्त धूसर भाण्ड, तकुए, तांबे के टुकड़े, पत्थर की खानेदार मुद्रा, कंघेदार कुदाली और झोब संस्कृति की तरह की मातृदेवी की मूर्तियाँ मिलीं। बलूचिस्तान में ईरानी तत्त्वों के प्रसारण में इस स्थल की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

सीस्तान प्राचीन काल में पूर्व और पश्चिम को जोड़ने वाली कड़ी रहा है। यहाँ हेल्मंद नदी के डेल्टा में तोसी द्वार सहर-ए-सोख्ता में किये गये उत्खनन से ज्ञात चार प्रकालों वाली सांस्कृतिक सामग्री में प्रारंभ से लेकर अंत तक निरंतरता रही। इन प्रकालों की रेडियो-कार्बन तिथियाँ क्रमशः 3500-3200; 2660-2400; 2400-2380 तथा 1800-1530 ई.पू. ज्ञात हुई हैं। प्रथम प्रकाल में ईंटों से निर्मित इमारतों के बारे में अल्प सूचना मिली। द्वितीय प्रकाल में कई कमरों वाले भवन बने। कई कीमती पत्थरों के मनके मिले हैं। बलुए पत्थर और अलाबास्टर के बर्तनों पर मेसोपोटामिया का प्रभाव लगता है। उत्खननों से मृण्मय स्त्री (मातृदेवी), पुरुष और पशु-आकृतियाँ मिली हैं। बैल की लगभग 200 मृण्मूर्तियों का मिलना उसके धार्मिक महत्त्व का द्योतक लगता है। मृद्भाण्ड और कुछ अन्य उपकरण पश्चिमी एशिया, मुण्डीगाक, ईरानी संस्कृति एवं सिंधु संस्कृति के संपर्क का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

ईरानी मकरान के बामपुर नामक स्थल, जिसे पहले स्टाइन ने खोदा था, डिकार्डी के उत्खननों में प्रथम से चतुर्थ काल तक मुख्यतः दूधिया रंग के लेप वाले लाल भाण्ड मिले। तृतीय काल के डिजाइन मुण्डीगाक के चतुर्थ काल से मिलते-जुलते हैं और इस तरह दक्षिणी अफगानिस्तान और बलूच-ईरानी सीमा में सिंधु सभ्यता से थोड़े पहले के चरण में पारस्परिक संबंधों के द्योतक हैं। बामपुर में चतुर्थ काल के पश्चात् दूधिया लेप के स्थान पर लाल लेप वाले

नये भाण्ड पाये गये। अलंकरण में कुछ कुल्ली प्रकार के अभिप्राय भी हैं, किन्तु विशिष्ट कुल्ली प्रकार के गोल आँख वाले डिजाइन का अभाव है।

क्वेटा के आस-पास के टीलों पर 'क्वेटा' भाण्ड मिले हैं जो गुलाबीपन लिए सफेद रंग से लेकर हरीतिमा लिए हैं। इनकी दूधिया या पाण्डु सतह पर नीलारुण-बभ्रु रंग अधिकांशतः ज्यामितीय अभिप्राय अंकित मिलते हैं। पशुओं की आकृति वाले चित्रण अत्यल्प हैं। इस प्रकार बर्तनों की तुलना चौथी या तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. की ईरानी संस्कृतियों से की गई है। मुण्डीगाक में ऐसे बर्तन (चतुर्थ काल के) कुल्ली-हड़प्पा प्रकार के बर्तनों से पहले (तृतीय काल में) पाये गये हैं।

डिकार्डी के सर्वेक्षण के फलस्वरूप क्वेटा के दक्षिण की ओर और सिंधु के मैदान तक कई टीलों में टोगाऊ प्रकार के मृद्‌भाण्ड मिले हैं। ये चाक से बने हैं। इन पर लाल लेप और पशु-चित्रण हैं। पशु कभी पूरे दिखाये गये हैं और कभी केवल उनका सींग मात्र। कुछ चिड़ियाँ और मानवाकृतियों भी अंकित हैं। कुछ स्थलों पर टोगाऊ प्रकार के भाण्ड नाल और कुल्ली भाण्डों वाली सतहों से नीचे की सतहों में मिले।

क्वेटा घाटी में स्थित दम्ब सदात के उत्खनन में सबसे प्राचीन (प्रथम काल) अवशेषों के साथ केची बेग मृद्‌भाण्ड मिलने से उसे किले गुलमोहम्मद का समकालीन माना है। इस काल में ईंटों से निर्मित वास्तु के अवशेष मिले। द्वितीय काल में सांस्कृतिक निरंतरता रही और घाटी में विशाल पैमाने पर निर्माण कार्य हुए। तृतीय काल के अवशेष मुंडीगाक III से तुलनीय हैं। इस काल के उपकरणों में खानेदार मोहरें, पशु-मूर्तियाँ, तराशे और घिस कर बनाये पाषाण उपकरण, मिट्‌टी और पत्थर की गोली, कीमती पत्थरों के मनके और तांबा विशेष उल्लेखनीय हैं। भाण्ड-प्रकार रानाघुँडई, सूरजगल, डाबरकोट इत्यादि से समानता रखते हैं। यहाँ पर झोब संस्कृति की तरह की मातृदेवी की मूर्तियाँ भी मिलीं। भाण्डों पर अंकित कुछ चिह्नों का सिंधु लिपि से साम्य होना महत्त्वपूर्ण है। यहाँ के निर्माण-कार्यों में एक अपेक्षाकृत विशाल चबूतरा उल्लेखनीय है।

क्वेटा से जैकोबाद जाने वाले मार्ग पर बलूचिस्तानी मैदान में स्थित पीराक दंब का पता राइक्स ने 1957 में लगाया। कसाल द्वारा 1968 में किये सीमित उत्खनन से बिना व्यवधान के तीन कालों के साक्ष्य मिले। निचले स्तरों से एकरंगी अलंकरण वाले पाण्डु भाण्ड, मध्य प्रकाल में द्विरंगी मृद्‌भाण्ड और

तीसरे प्रकाल में काले धूसर और कुछ अन्य प्रकार के भाण्ड के साथ लोहा भी मिला। यह स्थल ताम्रयुग से लौहयुग में प्रवेश के साक्ष्य के लिए महत्त्वपूर्ण है।

बलूचिस्तान के झालवान और लासबेला की सीमा पर बोरली नदी के दोनों और संस्कृति के आवास मिले हैं जिन्हें एडिथ साहिर समूह नाम दिया गया है। इस संस्कृति को दो प्रकालों में बाँटा गया है। प्रथम चरण में संस्कृति कुल्ली संस्कृति से प्रभावित रही। मुख्य टीले पर 'जिगुरेट' की तरह का निर्माण कार्य हुआ था। जिसमें ऊपर तक पहुंचने के लिए मार्ग था। टीलों पर प्राप्त शिलाखण्डों के ढेर मूलतः इमारतों के निर्माण में प्रयुक्त हुए थे। एक शिलाखण्ड निर्मित कई प्रवेश द्वार वाली विशाल (64.5 मी. x 13.5 मी) इमारत और एक वृत्ताकार इमारत महत्त्वपूर्ण लगती है। एक क्षेत्र में 40 से भी अधिक इमारतों का समूह देखा गया है। यहाँ पर सिस्ट शवाधान के अवशेष भी मिले। द्वितीय चरण में नाल के समान कुछ मृद्भाण्ड और सिंधु सभ्यता के सदृश मृत्पिड ('केक') मृण्मय चित्रित कूबड़वाला बैल, मृण्मय चूड़ियाँ, खिलौना-गाड़ी इत्यादि पाये गये हैं।

मध्य बलूचिस्तान के सुरब क्षेत्र में अंजीरा और स्याह दंब की सामग्री का उत्खननकर्त्री डिकार्डी ने पांच भागों में वर्गीकरण किया है। प्रथम प्रकाल में ईरान की नवाश्मयुगीन सियाल्क संस्कृति की तरह के पाषाण-फलक तथा लाल लेप वाले मृद्भाण्ड मिले। इस काल में अंजीरा में अर्धयायावरों की बस्ती बसी जिसकी सादृश्यता किले गुलमोहम्मद II (3500-3100 ई.पू.) से की गई है। द्वितीय काल में शिलाखंडों की नींव वाली कच्ची ईंटों की इमारतें बनी। किले गुलमोहम्मद I-III की भाँति के कुछ बर्तन, यथा लाल लेप वाले चमकीले भांड, टोकरी के सांचे पर निर्मित भाण्ड और चमकीले धूसर भाण्ड बने। तृतीय काल के प्रथम चरण में टोकरी के सांचे से बनाए मृद्भाण्ड और टोगाऊ तथा आमरी-केचीबेग प्रकार के बहुरंगी मृद्भाण्ड पाये गये। द्वितीय चरण में पहले के कुछ भाण्डों का चलन बंद हो गया। एक विशाल मंच का निर्माण हुआ जिसका निश्चित प्रयोजन अज्ञात है। तृतीय चरण में 'जरी' मृद्भाण्ड और नाल संस्कृति के भाण्ड से मिलते-जुलते भाण्ड मिले। आमरी-केचीबेग भाण्डों के कारण तृतीय काल को किले गुलमोहम्मद के चतुर्थ काल के अंत और दंब सदात I का समकालीन माना गया है। चतुर्थ काल की सामग्री दंब सादात II के सदृश रही। अंजीरा में अपेक्षाकृत अच्छी तरह तराशे पत्थरों से कई इमारतें बनीं। कुछ नाल प्रकार के भाण्ड मिले। कुछ भाण्डों पर कुल्ली संस्कृति का प्रभाव

दिखता है और 'अंजीरा' प्रकार के मृद्भाण्ड का सर्वप्रथम ज्ञान हुआ। पेरियानो घुंडई की तरह के आर्द्र और सीमित लेप वाले और रानीघुंडई के तृतीय काल के तृतीय चरण में पाये गये भाण्डों सदृश डिजाइन वाले भाण्ड मिले।

गोमल घाटी से होकर अफगानिस्तान और भारत का प्राचीन काल से संपर्क रहा था। इस घाटी में अहमद हसन दानी द्वारा खोजी गयी कई सिंधु तथा प्राग् सिंधु सभ्यता कालीन बस्तियों में गुमला (जहाँ उत्खनन भी हो चुका है) विशेष उल्लेखनीय है। गुमला में सांस्कृतिक सामग्री के चार प्रकाल हैं। प्रथम और द्वितीय में आवासीय निरंतरता रही और जो लोग आकर बसे उन्हें कृषि, तांबे, कांसे और मृद्भाण्डों का ज्ञान था। रहने के लिए उन्होंने झोपड़ियाँ बनायीं। चर्ट के फलक, और सफेद चित्रित मृद्भाण्डों की परम्परा में चित्रित किनारीदार प्यालों का निर्माण हुआ। गुमला के तीसरे प्रकार की सामग्री कोटदीजी तथा कालीबंगा के सदृश है। सींगदार देव की आकृति और असंख्य मातृदेवी की मूर्तियाँ मिलीं। चौथे प्रकाल में सिंधु सभ्यता का प्रसार हुआ जिसमें मृत्पिड (केक), खिलौना गाड़ियों के ढांचे और पहिये, चूड़ियाँ, बाट, रेखांकित कार्नीलियन मनका, चकमक और चर्ट-फलक उपलब्ध हुए। 'सिंधु' प्रकार की मुद्राएं नहीं मिलीं। मकानों की योजना शतरंज के पेट की तरह की थी। सिंधु सभ्यता का प्रसार तीसरे प्रकाल की बस्ती के जलाये जाने के बाद हुआ था और स्वयं उनकी बस्ती भी अग्निकांड से नष्ट हुई। कुछ हथगोले मिले जो युद्ध में अस्त्र की तरह प्रयुक्त होते रहे होंगे।

क्वेटा से 3.21 कि.मी. दूरी पर स्थित किले गुलमोहम्मद में फेयरसर्विस ने 1950 में खुदाई कराई। उन्होंने यहाँ की पुरातात्त्विक सामग्री को दो प्रकालों में वर्गीकृत किया है। प्रथम काल के स्तरों की दो रेडियो-कार्बन तिथियाँ 3688 ई.पू. तथा 3712 ई.पू. ज्ञात हुई हैं। इस प्रकाल की आवासित भूमि पर भेंड़, बकरी और बैल की हड्डियाँ इन पशुओं के पालतू होने की द्योतक हैं। प्रथम प्रकाल के अंतिम चरण में कच्ची ईंटों के साक्ष्य मिले हैं। वे कई तरह के पत्थर के फलक बनाते थे। धातु का प्रयोग सम्भवतः उन्हें ज्ञात न था। कुछ घिसी हुई खंडित शिलाएं मिली हैं जिन पर अन्न पोसा गया होगा। हड्डी के कुछ सूजे मिले हैं। किले गुलमोहम्मद के दूसरे प्रकाल के अवशेषों में पर्याप्त सांस्कृतिक विकास के साक्ष्य लगते हैं। इस काल में लाल भाण्ड बनने लगे थे।

भाण्डों पर टोकरी की छाप का मिलना उनके टोकरी की सहायता से बनाये जाने का प्रमाण है। मकानों की दीवालें कच्ची ईंटों की थीं। इस काल में

धातु प्रयोग के साक्ष्य नहीं हैं। तीसरे प्रकाल की सामग्री के साथ प्रथम बार तांबे के दर्शन होते हैं। हाथ से बने बर्तनों के साथ चाकनिर्मित बर्तन भी बने। भाण्डों पर काले या लाल रंग के अलंकरण भी मिलते हैं। पत्थर के फलक और हड्डियों के सूजे का प्रयोग पूर्ववत रहा। इस प्रकाल के लोग भी अर्द्ध-घुमक्कड़ ही थे। वे भोजन चूल्हों पर बनाते थे। पशुओं में भेड़, बकरी, गधा और बैल पालते थे। कुछ हड्डियों की पहचान कतिपय विद्वान घोड़े और अन्य गधे की हड्डियों से करते हैं। किले गुलमोहम्मद की इस प्रकाल की सामग्री से मिलती-जुलती सामग्री बलूचिस्तान के रानाघुंडई I तथा सूरजंगल से भी मिली हैं जो समकालीनता की द्योतक लगती हैं।

उत्तरी बलूचिस्तान में रानाघुंडई टीले (जो पिगट के वर्गीकरण के अनुसार झोब संस्कृति का स्थल है) के सर्वेक्षण से रास को पांच प्रकालों के साक्ष्य मिले। इमारतों के अवशेष का न होना इस बात का द्योतक है कि प्रथम काल में यायावर लोग वहाँ रहे। इस काल के संदर्भ में अलंकृत भाण्ड, चकमक पत्थर के फलक, हड्डी के सूजे और बैल, भेंड़ , गधे तथा घोड़े की हड्डियाँ मिलीं। द्वितीय काल में यहाँ पर नये लोग आये जिनके बर्तन सुन्दर और चाक से बने थे और उन पर कलात्मक शैली में बैल और हिरन (जिनके पैर काफी लम्बे दिखाये गये हैं) पाण्डु या लाल रंग से अंकित हैं। इस संस्कृति की हिसार के प्रथम काल (लगभग 3500 ई.पू.) से कुछ समानता है। द्वितीय काल के बाद यहाँ पर कुछ समय तक बस्ती नहीं रही। भवनों के तीन निर्माण चरण तृतीय काल के दीर्घावधि तक चलते रहने के प्रमाण हैं। तृतीय काल में मृद्भाण्ड सुन्दर बने और द्वितीय काल के भाण्डों से पर्याप्त भिन्न थे। कुछ बर्तनों पर लाल सतह पर काले और लाल दुरंगे अभिप्राय अंकित हुए। बहुरेखीय वर्गों के अभिप्राय का प्रयोग आमरी के पात्रों के अधिक निकट है। तृतीय काल के प्रथम चरण की तुलना सूरजंगल के आवास से प्राप्त सामग्री से की गई है। तृतीय काल के द्वितीय चरण में सुराही की तरह के बर्तन मिले हैं। रानाघुंडई तृतीय काल के तृतीय चरण के बर्तनों की तुलना पेरियानो घुंडई के बर्तनों से की जाती है। लाल लेप पर काले रंग के चित्रण की विधा रही। कुछ पशुओं और मछली का भी चित्रण मिलता है। झोब संस्कृति के कई स्थलों से नारी (मातृेदवी?) की रौद्र रूप में मूर्तियाँ मिली हैं।

झोब संस्कृति का सम्पर्क एक ओर पुरैतिहासिक ईरान और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों और दूसरी ओर परवर्ती चरणों में सिंधु सभ्यता के साथ भी रहा। डाबरकोट की बराबर भुजाओं वाले सलीबनुमा अभिप्राय युक्त हरिताभ

पत्थर की मुद्रा, एक अन्य स्थल (सम्भवतः पेरियानो घुंडई) से प्राप्त इसी अभिप्राय वाली मुद्रा, मोगल घुंडई से कार्नीलियन का रेखांकित मनका, पेरियानो घुंड़ई से लहरदार अलंकरण वाला मिट्टी का कंगन - ये सब सिंधु सभ्यता से संपर्क के द्योतक लगते हैं।

पाण्डु भाण्डों की परम्परा में आमरी नाल प्रकार के बर्तनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है जो सिंधु और बलूचिस्तान के कुछ स्थलों पर मिले हैं। बर्तनों के कुछ ऐसे आकार-प्रकार अथवा चित्रण हैं जो आमरी में हैं पर नाल में नहीं, अथवा नाल में है पर आमरी में नहीं। लेकिन कई ऐसे तत्त्व हैं जो दोनों में समान हैं। दोनों ही का पेस्ट अच्छे प्रकार का है और पाण्डु रंग का है। भाण्डों पर दूधिया लेप है। दोनों चाक निर्मित हैं। दोनों पर ही पैनल डिजाइन है। लेकिन नाल मृद्भाण्डों पर पशुओं की आकृतियों मछली, हिरन और वृषभ का अंकन मिलता हैं। आमरी मृद्भाण्डों पर पशुओं के अंकन न के बराबर हैं। ज्यामितीय अलंकरण में दोनों में कुछ समानता और कुछ भेद है। चित्रण के लिए आमरी में लाल और काले रंग का प्रयोग हुआ है लेकिन नाल में इन दोनों के अलावा पीला, नीला और हरा रंग भी प्रयुक्त हुआ है। नीले और नीले रंग का भाण्ड चित्रण के लिए प्रयोग पूरे प्रागैतिहासिक पश्चिमी एशिया में नहीं मिलता।

नाल और मुण्डीगाक के भाण्डों में कुछ समानता है जो दक्षिणी अफगानिस्तान के बलूचिस्तान के क्षेत्र पर प्रभाव का द्योतक हैं। नाल में एक सिंधु सभ्यता प्रकार का छेदवाला बाट मिला है। दो ताम्र निधियाँ मिली हैं। इनके उपकरणों में आर्सेनिक का अत्यल्प मात्रा में होना सिंधु सभ्यता के ताम्र उपकरणों के लिये प्रयुक्त ताम्र के स्रोत से भिन्न स्रोत का द्योतक हैं। नाल में मिले कब्रिस्तान में पूर्ण तथा आंशिक दोनों प्रकार के शवोत्सर्ग के प्रचलन के साक्ष्य मिले। तीन कब्रों के किनारे कच्ची ईंटें लगी थीं। शवों के साथ विभिन्न उपकरण और पशुओं की हड्डियाँ मिलीं। एक सेलखड़ी की मुद्रा पर पावों में सर्प दाबे हुए गरुड़ का चित्रण है जो सूसा से प्राप्त लगभग 2400 ई.पू. की और टेलब्राक की मुद्राओं पर अंकित ऐसे अभिप्राय के सदृश है।

1929 में ननिगोपाल मजुमदार ने सिंधु में सर्वेक्षणात्मक उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर ही आमरी संस्कृति के कुछ चरण सिंधु सभ्यता से पहले के और कुछ चरण सिंधु सभ्यता के समकालीन बताये थे। बाद में यहाँ पर किये उत्खननों से इसकी पुष्टि हुई। एम. कसाल ने 1959-61 में यहाँ पर पुनः उत्खनन कराया। यहाँ कुल पांच प्रकालों के अवशेष मिले हैं, जिनमें से, प्रथम

काल के प्रथम चरण में अधिकांश बर्तन हाथ से निर्मित हैं। चाकनिर्मित बर्तनों के किनारे पतले हैं। पेस्ट पीला या गुलाबी है। अलंकरण ज्यामितीय हैं। कुछ द्विरंगी (काले और लाल) चित्रणयुक्त हैं। इस काल में तांबे के टुकड़े, पत्थर के फलक, पत्थर की गोलियाँ, मिट्टी के मनके आदि मिले हैं। स्थायी निवास के चिह्न नहीं पाये गये। द्वितीय चरण (IB) में कच्ची ईंटों के घर बने। पहले काल की अपेक्षा चाकनिर्मित बर्तनों की संख्या बढ़ी। चित्रण में पुराने अभिप्रायों के साथ नए अभिप्रायों को स्थान मिला। 'हीरक', चेक, लटकन, सिग्मा और टोगाउ भाण्डों के समान हिरन के सींग आदि डिजाइन मिलते हैं। द्विरंगी और तिरंगी चित्रण मिलते हैं जो IB के चित्रण से ही विकसित हैं। ID में सिंधु सभ्यता के तत्त्व दिखते हैं, यथा पशुओं, विशेषतया बैल, का चित्रण, मत्स्य-शल्क अभिप्राय के बहुलता से प्रयोग और प्रकार के भाण्ड बनते रहे किन्तु सिंधु सभ्यता की विशेषता वाले बर्तनों की संख्या में वृद्धि हुई। तृतीय काल के प्रथम तीन चरण सिंधु सभ्यता के हैं तथा चौथा और अंतिम चरण झूकर संस्कृति का। चतुर्थ काल झांगर संस्कृति का है।

कुछ विद्वानों ने आमरी संस्कृति के प्रारंभ में ईरानी तत्त्वों (जो बलूचिस्तान के माध्यम से पहुँचे) का मिश्रण पहचाना है। प्रथम काल तक संस्कृति का अपना अलग व्यक्तित्व है। शनैः-शनैः इसमें सिंधु सभ्यता के तत्त्वों का प्रवेश हुआ। विद्वानों का अनुमान है कि आमरी में संस्कृति का प्रारम्भ तृतीय सहस्राब्दी के प्रारंभिक चरण के लगभग हुआ।

'कुल्ली संस्कृति' नाम कोलबा जिले के इसी नाम के स्थल के आधार पर दिया गया है। स्टाइन ने कुल्ली के सर्वेक्षणात्मक उत्खनन किये थे। कुल्ली संस्कृति का प्रारंभ सिंधु सभ्यता के प्रारंभ से पहले हो गया था, किन्तु यह उसके कुछ समय तक समकालीन भी रही। कुल्ली संस्कृति में प्राप्त बर्तनों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया है :- (1) कुल्ली मृद्भाण्ड (2) हड़प्पा प्रकार के भाण्डों के साथ पाये गये कुल्ली प्रकार के भाण्ड और (3) हड़प्पा तथा कुल्ली संस्कृति के पारस्पारिक संपर्क के फलस्वरूप विकसित भाण्ड।

कुल्ली संस्कृति में गोल बर्तन, बोतल की आकृति के बर्तन, छोटे-सीधे किनारे वाले बर्तन, तश्तरियाँ, साधार तश्तरियाँ और छिद्रित बेलनाकार बर्तन मिले हैं। अंतिम दो आकार सिंधु सभ्यता में भी मिलते हैं। बर्तन सादे और चित्रित दोनों प्रकार के मिले हैं। चित्रण काले रंग से है। पशुओं का चित्रण अधिकांशतः वृक्षों या वनस्पति के साथ किया गया है। पशु में अधिकांशतः

कूबड़ वाला बैल, बिल्ली जैसी आकृति और हिरन या बकरी का चित्रण है। बड़े पशुओं को स्वाभाविक से अधिक लंबा और उन पर लंबवत छाया किया दिखाया गया है। बैल को अधिकांशतः एक ध्वज से बंधा दिखाया गया है, जो भाव की दृष्टि से सिंधु सभ्यता मुद्राओं पर एक-शृंगी पशु के आगे दिखाए ऐसे अभिप्राय से मिलता-जुलता है। अन्य अभिप्रायों में पक्षी,, कंघीनुमा अभिप्राय, ओमेगा जैसा अभिप्राय, फुल्ल, तिकोन लटकन आदि हैं। चित्रण के लिए काले रंग के साथ लाल रंग का भी प्रयोग हुआ है।

कुल्ली संस्कृति की नारी मृण्मूर्तियाँ विभिन्न आभूषणों से सज्जित हैं और उन्हें धड़ के नीचे चपटा बनाया गया है। ये गृह-पूजा और देवताओं को चढ़ावे के लिए अभिप्रेत लगती हैं। पशु मृण्मूर्तियों में बैल की आकृति सर्वाधिक हैं और उन पर आड़ी तिरछी रेखाओं का चित्रण है।

शवोत्सर्ग में जलाना और गाड़ना दोनों प्रथाएं कुल्ली संस्कृति में प्रचलित थीं। कुल्ली संस्कृति के मेही नामक स्थल से पात्र शवोत्सर्ग के भी उदाहरण मिले। मेही की कब्रों में मृद्भाण्ड, मृण्मूर्तियाँ, दो तांबे के दर्पण इत्यादि वस्तुएँ मिलीं। एक सिर रहित नारी की आकृति वाले दर्पण का हत्था मिला है। दर्पण में निहारते हुए नारी के सिर का अक्ष मानों उसे सिर युक्त बना देता। पिगट ने इस सुन्दर कल्पना के लिए कलाकार की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कुल्ली संस्कृति के स्थल टोली और मजेरा दम्ब में रक्षा प्राचीर से आवास घिरे होने के साक्ष्य मिले हैं। कुल्ली संस्कृति के स्थलों पर भवन निर्माण के लिए पत्थर का प्रयोग हुआ है। मेही में कच्ची ईंटों के प्रयोग के साक्ष्य मिले हैं। कुल्ली में पत्थर की दीवारों पर सफेद पलस्तर लगाया गया था और वे अंदर की ओर थोड़ी तिर्यक भी थीं। कुछ उदाहरणों में कमरे की रूपरेखा और सीढ़ियों की उपस्थिति मकानों के दुमंजिले होने के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पत्थर के सिलबट्टे मिले हैं जिन पर अनाज कूटा जाता रहा होगा। पत्थर के फलक (शाही तम्प, मेही), चर्ट का घनाकार बांट, मिट्टी की चूड़ियाँ, एक सोने का पत्र (कुल्ली) इत्यादि कुछ वस्तुएँ सिंधु सभ्यता से प्रेरित लगती हैं। मेही से प्राप्त पत्थर के बर्तन बड़े आकर्षक हैं। इनमें चार खाने हैं और उनके बाहरी तरफ बारीकी से वर्ग और छाया का अलंकरण है।

सिंधु-कुल्ली समन्वय के द्योतक चित्रणों के संदर्भ में बोर्नेख घाटी में स्थित निन्दोवारी नामक कुल्ली संस्कृति का स्थल महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर कसाल ने उत्खनन कराया। इस स्थल पर दो टीले हैं। उत्तरी टीला सीढ़ीदार है और

दीवार से विभाजित है। उसके शिखर पर बुर्जनुमा अवशेष हैं जो मंदिर का द्योतक हो सकता है। दक्षिणी टीला छोटा है और इसमें रक्षा-प्राचीर और इतर संस्कृति के बर्तन मिले हैं। बड़े टीले पर सिंधु और कुल्ली प्रकार के मृद्भाण्ड तथा मातृदेवी और वृषभ की मृण्मूर्तियां पायी गयीं। कुछ हड़प्पा अभिप्राय कुल्ली शैली में चित्रित हैं। उदाहरणार्थ विशिष्ट सिंधु अभिप्राय प्रतिच्छेदी-वृत्त कुल्ली भाण्ड की सतह पर अंकित हैं। विद्वान अभी निश्चित नहीं हैं कि यह परस्पर समानता ग्रामीण संस्कृति वालों के सिंधु सभ्यता से प्रेरित होने अथवा सिंधु सभ्यता के लोगों के ग्रामीण शैली से प्रभावित होने की द्योतक है। इतना निश्चित है कि निन्दोवारी में बस्ती कुछ काल तक सिंधु सभ्यता की समकालीन थी।

कोटदीजी में खान द्वारा की गयी खुदाइयों से वहाँ गढ़ी और आवास स्थल प्राप्त हुए। कुल 16 आवास स्तरों में नीचे से 12 सिंधु सभ्यता से पूर्ववर्ती (कोटदीजी) संस्कृति की, तेरहवीं अग्निकाण्ड के साक्ष्य वाली परत संक्राति काल की, और अंतिम तीन सिंधु सभ्यता काल की हैं। कोटदीजी संस्कृति में चर्ट (चकमक) के फलक और बाणाग्र मिले। पत्राकार बाणाग्र कोटदीजी के अतिरिक्त केवल तीन अन्य स्थलों-पेरियानो घुंडई, कनै और पण्डिवाही में मिले हैं। सिल बट्टे, पत्थर की पालिश की गई गेंदे, पत्थर की गोफन गोलियां, और मिट्टी और शंख की चूड़ियाँ मिली हैं। कीमती पत्थरों के मनके नहीं मिले। मिट्टी का एक वृषभ अत्यन्त प्रभावशाली और कलापूर्ण है। कोटदीजी संस्कृति के संदर्भ में नियोजित भवन, सुदढ़ सुरक्षा दीवार तथा नालियों का प्रबंध होना उसे सिंधु सभ्यता के पूर्व की नगर संस्कृति की संज्ञा देने के पक्ष में है; लेकिन इस संस्कृति के लोग अभी लेखन-कला से परिचित नहीं थे। तांबे के प्रयोग के अत्यल्प साक्ष्य हैं इस संस्कृति के अधिकांश भाण्ड चाक पर बने पतले और हलके हैं। ये गुलाबी से लाल रंग लिए हैं और अधिकांशतः रिम और कंधों पर सीधी रेखाओं या लहरियों से अलंकृत हैं। इस तरह के अभिप्राय कुछ हद तक हड़प्पा में पूर्व-हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में और आमरी के IB-IIB चरण में मिले हैं। इसी संस्कृति के संदर्भ में सिंधु सभ्यता की तरह के मिट्टी के पिण्ड 'केक' मिले हैं। मत्स्य-शल्क का अभिप्राय भी मिलता है। इनका नगर सुनियोजित और रक्षा-प्राचीर से सुरक्षित था। प्रारंभ से ही चाक द्वारा भाण्डों के निर्माण के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि कोटदीजी संस्कृति के लोग बाहर से आये थे। यद्यपि इन लोगों ने सुरक्षा दीवार तथा घरों की दीवारों की नीव में पत्थर का प्रयोग किया तथापि निर्माण के लिए मुख्यतः कच्ची ईंटों का ही प्रयोग हुआ। 5730 वर्ष के अर्ध जीवन को आधार मानकर चतुर्थ परत के लिए

2100 ± 138 ई.पू. और 14वें परत के लिए 2605 ± 145 रेडियो कार्बन तिथि ज्ञात है।

कालीबंगाँ के दो टीलों में से गढ़ी वाले टीले में सिंधु सभ्यता के काल में निर्मित गढ़ी के नीचे पूर्वकाल की रक्षात्मक दीवार के अवशेष मिले हैं। रक्षा प्राचीर मूलतः 1.90 मीटर चौड़ी थी लेकिन बाद में इसे लगभग दुगुना चौड़ा बना दिया गया। रक्षित क्षेत्र उत्तर-पश्चिम में 250 मीटर है। सिंधु सभ्यता से पूर्व की सभ्यता के संदर्भ में मिले भाण्ड कोटदीजी, आमरी और बलूचिस्तान के कई स्थलों से प्राप्त पूर्व हड़प्पा संस्कृति के बर्तनों की तरह के हैं। ये उतनी अच्छी तरह नहीं पकाये गये हैं जितनी सिंधु सभ्यता के भाण्ड पकाये गये हैं और उनकी अपेक्षा छोटे और पतले हैं। इनका रंग गुलाबी से लाल तक है और इन पर काले रंग से ज्यामितीय अभिप्राय चित्रित हैं। कुछ पर सफेद रंग से छाया की गई है। चित्रण में रिम पर काली मोटी धारी विशेष उल्लेखनीय है। खानेदार तिकोन, मत्स्य शल्क आदि अभिप्राय हैं किन्तु पशुओं (हिरन को छोड़कर) के अंकन का अभाव है। एक प्रकार का भाण्ड ऐसा है जिसे चाक पर बनाया गया किन्तु उसका बाह्य धरातल मुख्यतः नीचे का भाग, खुरदरा बनाया गया। कुछ नांदों के भीतरी भाग को उथले उत्कीर्ण अभिप्रायों से और बाहरी भाग को रस्सी की छाप के अभिप्राय से अलंकृत किया गया था। सिंधु सभ्यता के कुछ विशिष्ट पात्र-पान पात्र, बेलनदार छिद्रित बर्तन और साधार तश्तरी - इस संस्कृति में नहीं मिले। उपलब्ध प्रकार में एक साधार कटोरा उल्लेखनीय है। सांकलिया ने इसकी तुलना ईरान के सियाल्क तथा हिंसार और भारत में नावडाटोली से प्राप्त इस तरह के बर्तनों से की है। इस संस्कृति के लोगों का सक्कर और रोहरी की फ्लिट खदानों से सम्पर्क नहीं था। और इन्होंने अपने पाषाण उपकरण गोमेद, कैंल्सीडोनी और कार्नीलियन से बनाये थे। इनमें से कुछ पर उनके प्रयोग में लाये जाने के निशान मिले हैं। ताम्र उपकरण अत्यल्प मात्रा में मिले हैं। ताम्र उपकरणों में कुल्हाड़ी और परशु विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। सेलखड़ी, शंख, कार्नीलियन, पकी मिट्टी और तांबे के मनके मिले हैं; लेकिन कांचली मिट्टी के मनके और कार्नीलियन के रेखांकित मनके, जो सिंधु सभ्यता की विशिष्टता है, इस संस्कृति में नहीं पाये गये। पकी मिट्टी और तांबे की चूड़ियाँ, पत्थर के सिलबट्टे के खिलौने गाड़ी के पहिये इस संस्कृति में मिलते हैं। इस काल की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि जुते हुए खेत का मिलना है। कृषि कर्म के साथ ही ये लोग पशुपालन और शिकार से भी अपनी आजीविका चलाते थे। इस काल के शवाधान नहीं प्राप्त हुये हैं। इस काल के स्तर कुछ अस्तव्यस्त

मिले और उनमें कुछ दरारें भी मिलीं। अनुमानतः कालीबंगाँ की प्रथम संस्कृति का अंत भूकम्प के कारण हुआ।

व्हीलर द्वारा 1946 में किए हड़प्पा के उत्खनन में सिंधु सभ्यता के नीचे अप्रयुक्ता धरती के ऊपर सिंधु सभ्यता से भिन्न प्रकार के मृद्भाण्ड मिले। कुछ मानों में ये सिंधु सभ्यता के भाण्डों से भी अधिक परिष्कृत हैं। इन पर गहरे बैंजनी या लाल लेप हैं और सतह अनाकर्षक एवं सादी है। अधिकांश अलंकरण कोर (रिम़) तक सीमित हैं और मुख्यतः सावधानी से बनी आड़ी काली धारियाँ हैं जिन पर कुछ उदाहरणों में लटकन दिखाई गई हैं।

●●●

परिशिष्ट 3

सिंधु सभ्यता के काल में मोहेंजोदड़ों क्षेत्र की जलवायु

आज तो मोहेंजोदड़ों और उसका समीपवर्ती क्षेत्र काफी हद तक रेगिस्तान बन गया है। यहाँ तापमान ग्रीष्म ऋतु में 120 अंश फारेनहाइट तक और शीतकाल में हिमांक तक पहुँच जाता है। आजकल मोहेंजोदड़ों के आसपास साल भर में औसतन केवल 75 मिलीमीटर वर्षा होती है। जहाँ पर नदी को भली भाँति नियंत्रित किया गया है और नहरें निकाली गई हैं वहाँ काफी अच्छी फसल होती है, अन्यत्र जहाँ ये सुविधाएँ नहीं हैं साधारण प्रकार की घास और ईंधन की लकड़ी ही सामान्यतः उगती है। अनुमानतः सिंधु सभ्यता के काल में शायद ऐसा नहीं रहा होगा। नगर, विशेषतया सुनियोजित विशाल नगर, के निर्माण के लिए लोग उपयुक्त जलवायु, वातावरण और सुविधाओं वाला स्थल ही चुनते हैं। नगर की स्थिति एवं विकास के लिए अनिवार्य है कि समीपवर्ती क्षेत्र से उसे पर्याप्त मात्रा में अन्न तथा अन्य भोज्य सामग्री उपलब्ध होती रहे। ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि यदि मोहेंजोदड़ों का क्षेत्र रेगिस्तानी होता तो सिंधु सभ्यता के निर्माता उसे महान् नगर-निर्माण के लिए भला क्यों चुनते? कई विद्वानों ने पहले यह धारणा व्यक्त की थी कि पहले सिंधु सभ्यता की जलवायु आज से बहुत भिन्न थी और आज की अपेक्षा सभ्यता के विकास के कहीं अनुकूल थी।[1] मोहेंजोदड़ों के भवन निर्माण के लिए पकाई गई ईंटों का ही मुख्य रूप से उपयोग हुआ है, कच्ची ईंटें ज्यादातर भराई के लिए ही प्रयुक्त हुई थीं। पकाई गई ईंटें महंगी बैठती हैं। दूसरी ओर कच्ची ईंटें सस्ती तो होती ही हैं, गरमी के मौसम में ये मकान को पकाई गयी ईंटों की अपेक्षा अधिक शीतल रखती है। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि मोहेंजोदड़ों में भवन-निर्माण के लिए पक्की ईंटों के प्रयोग का एक कारक उस समय उस क्षेत्र में वर्षा का अधिक होना रहा होगा। इन ईंटों को पकाने के लिए पर्याप्त ईंधन इस्तेमाल

---

1. इस सिलसिले में बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान, लखनऊ, के गुरदीप सिंह द्वारा राजस्थान की कुछ झीलों से तल से प्राप्त पराग के अध्ययन से निकाल गये निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार 3000 ई.पू. से 1800 ई.पू. तक राजस्थान अधिक आर्द्र और शस्य-श्यामल रहा था। किन्तु लगभग 1800 ई.पू. से वहां की जलवायु में शुष्कता के प्रमाण मिलते हैं। पुरातात्त्विक और रेडियो कार्बन तिथि के साक्ष्य भी इस बात की ओर इंगित करते हैं कि लगभग 1800 ई.पू. में कालीबंगाँ की बस्ती ह्रासोन्मुखी थी। इसका एक कारण इस क्षेत्र में शुष्कता में वृद्धि होना लगता है।

किया गया होगा और इसका अर्थ है उस काल में वृक्ष-वनस्पति का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना। काफी मात्रा में वनस्पति उगने के लिए पर्याप्त वर्षा का होना अपेक्षित है। मुद्राओं पर गैंडा, बाघ, हाथी आदि वन्य पशुओं के अंकन हैं और बाघ को छोड़कर इन पशुओं की अस्थियाँ भी उत्खनन के दौरान मिली हैं। गैंडा नम और दलदली जगह में रहना पसंद करता है, और बाघ तथा हाथी जंगल में। यदि ये पशु वहां थे, जैसा कि कलाकारों द्वारा उनके यथार्थ एवं सजीव चित्रण से तथा वहाँ प्राप्त उनके अस्थि अवशेषों और वातावरण उनके अनुरूप ही रहे होंगे और ऐसा वातावरण पर्याप्त वर्षा वाले क्षेत्र में ही संभव लगता है। मोहेंजोदड़ों में ऊंट की हड्डियों का अति न्यून संख्या में मिलना इस क्षेत्र के रेगिस्तानी होने के विपरीत साक्ष्य प्रस्तुत करता है। सिंधु सभ्यता के स्थलों की खुदाई में बबूल और इमली की लकड़ी के साक्ष्य मिले हैं जो झाड़दार वन की उपज हैं। ऐतिहासिक काल में भी यहाँ पर अधिक वर्षा होने का अनुमान विद्वानों ने लगाया है। जिस विशाल पैमाने पर सुनियोजित ढंग से मोहेंजोदड़ों (और सिंधु सभ्यता के कुछ अन्य स्थलों में भी) नालियों का निर्माण हुआ है उससे सिंधु सभ्यता के लोगों की सफाई के प्रति जागरुकता प्रकट होती है। लेकिन कुछ विद्वानों ने ऐसी भी धारणा व्यक्त की है कि नगर नियोजकों ने नालियों का इतने बड़े पैमाने पर निर्माण वर्षा जल का सुचारू रूप से निकास करने के उद्देश्य से भी किया होगा। वे नालियों के साक्ष्य को भी प्राचीन सिंध में आज से कहीं अधिक वर्षा होने के समर्थन में एक प्रमाण मानते हैं। सिंध और पंजाब ईरान के राजा दारा (छठी शती ई.पू.) की बीस क्षत्रपियों में से सबसे अधिक जनसंख्या वाली और सबसे अधिक समृद्ध क्षत्रपियाँ थीं। सिकन्दर के आक्रमण के समय (चतुर्थ शती ई.पू. का अंतिम चरण) में भी सिंध काफी उपजाऊ था, उनकी जनसंख्या काफी थी और उसमें दलदली जंगल थे मुस्लिम इतिहासकारों के उल्लेख भी इस मत की पुष्टि में विद्वानों ने उद्धृत किये हैं।

कुछ विद्वानों ने यह भी मत व्यक्त किया कि सिंध प्रदेश सिंधु सभ्यता के काल में मानसूनी हवाओं के क्षेत्र में आता था। कालांतर में मानसूनी हवाओं के रुख में परिवर्तन हो गया जिससे दक्षिणी-पश्चिमी मानसूनी हवाओं ने पूर्व की ओर अपना रुख बदल दिया और सिंधु प्रदेश उसके क्षेत्र से बाहर हो गया।[1] स्टाइन को बलूचिस्तान में प्राचीन काल के मानव-निर्मित बांधों के अवशेष

---

1. पिगट के मतानुसार यह मत उस मत से भी अधिक समीचीन लगता है जिसके अनुसार उत्तरी तूफानी कटिबंध उत्तर-हिमनद काल के तुरंत बाद दक्षिण की ओर मुड़ गया। सामान्य जलवायु की स्थिति आने पर भी इसकी स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ।

मिले हैं। उनके मतानुसार वे एक ओर तो इस बात के सूचक हैं कि पर्याप्त वर्षा होती थी जिसमें उनमें पानी एकत्र हो जाता था, और दूसरी ओर इस बात के कभी-कभी सूखा भी पड़ता रहा होगा; अन्यथा बांध निर्माण की आवश्यकता ही क्यों होती। फिर इन बांधों को बनाने के लिए पर्याप्त संख्या में मजदूरों की आवश्यकता पड़ी होगी, जिससे इस क्षेत्र में काफी जनसंख्या होने का साक्ष्य मिलता है। लेकिन कुछ विद्वान्, जैसे राइक्स, ऑरेल स्टाइन के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं। वे इन बाँधों का उपयोग पानी एकत्र करने की अपेक्षा खेती में नमी बनाये रखने के लिए किया गया मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इन बांधों की बनावट ऐसी है कि अधिक से अधिक एक-दो दिन तक ही इसमें इकट्ठा हुआ जल टिक पाता। उनका यह भी कहना है कि इनके निर्माण के लिए अधिक लोगों की आवश्यकता नहीं थीं, थोड़े से लोग भी इस कार्य को करने में समर्थ थे। वे तो इस पर भी संदेह करते हैं कि बांध प्रागैतिहासिक काल के हैं, और इसकी संभावना अधिक मानते हैं कि ये आज से कुछ ही शती पूर्व बनाये गये थे।

हाल ही में जल-वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक विधि से इस समस्या का अध्ययन किया है। सिंधु तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों के संदर्भ में इस बारे में आर.एल. राइक्स ने अति महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित किये हैं जो जलवायु परिवर्तन संबंधी धारणा के विपरीत पड़ते हैं।[1] उन्होंने वातावरण में परिवर्तन के लिए अन्य कारणों को उत्तरदायी बताया है जिनमें मानव द्वारा विशाल पैमाने पर पेड़ों को काटना, मवेशियाँ, विशेष रूप से भेड़-बकरियों को चराने के लिए चरागाहों का अत्यधिक उपयोग किया जाना भी है। इससे हरियाली नष्ट हो गयी होगी और भूमि में आर्द्रता घट जाने से वर्षा की मात्रा पर थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। लेकिन इससे जलवायु पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा होगा, यद्यपि विशाल पैमाने पर वनस्पति नष्ट करने से रेगिस्तान का बढ़ता जाना स्वाभाविक था।

स्वयं व्हीलर भी, जो पहले सिंधु क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन के मत के समर्थक थे और जिनके तर्कों से इस मत को समर्थन ही नहीं काफी बल भी मिला था तथा इसे प्रचलित करने में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, अब राइक्स के मत से अत्यधिक प्रभावित हुए लगते हैं। अब वह मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में भवन निर्माण के लिए पक्की ईंटों के प्रयोग का कारण उस समय

---

1. व्हीलर ने अपने ग्रंथ इंडस सिविलिजेशन के तृतीय संस्करण में इसका संक्षेप में उल्लेख किया है।

काफी मात्रा में वर्षा होना नहीं मानते, बल्कि उसे उच्चवर्गीय लोगों के अपने फायदे के लिए बनाया जाना मानते हैं। सिंधु सभ्यता के अन्य कई प्रमुख स्थलों (यथा सौराष्ट्र के स्थलों) में पकाई गई ईंट का प्रयोग मोहेंजोदड़ों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। शायद इसलिए कि वहाँ ईंधन के साधन सीमित थे।

कई विद्वानों (यथा राइक्स, डायसन और फेयरसर्विस) का मत है कि जल-विज्ञान, प्राणिशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, पुरातत्त्व एवं स्थापत्य कला के साक्ष्य इस बात का निश्चित समर्थन नहीं करते कि बलूचिस्तान या सिंध में रेगिस्तान क्रमशः बढ़ता गया था। मोहेंजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त हड्डियाँ और मुद्राओं पर अंकित चित्रों से जिन जानवरों का सिंधु क्षेत्र में होना ज्ञात होता है उनमें से अधिकांश हाल ही तक उस क्षेत्र में पाये जाने का साक्ष्य नहीं मिलता। लेकिन यह भी संभव है कि सिंधु सभ्यता के काल में भी इस क्षेत्र के वनों में हाथी नहीं होता था। उसे दूसरे क्षेत्र, शायद सिंधु सभ्यता के ही किसी अन्य क्षेत्र से वहाँ लाया गया होगा। फेयरसर्विस का कहना है कि पिछले चार हजार वर्षों में सिंध प्रदेश की जलवायु में कोई मूलभूत अंतर नहीं आया है। उनके अनुसार सिंध प्रदेश में आज भी वहाँ उगने वाली कंडी, बबूल तथा अन्य लकड़ियों से हड़प्पा संस्कृति की ईंटों से भी अधिक मजबूत ईंटें पकाई जा सकती हैं। चूंकि ये झाड़ बहुत जल्दी उग आते हैं इसलिए ईंधन के लिए जंगल कटने वाली बात बहुत नहीं जमती। लेम्ब्रिक, जो सिंधु में बहुत साल तक प्रशासक का कार्य करते रहे, का कहना है कि आजकल नदी के आसपास जो पेड़ हैं वे सारे प्रदेश के उपयोग हेतु ईंट पकाने के लिए ईंधन मुहैया करने के लिये पर्याप्त हैं और प्राचीन काल में इससे कम पेड़ नहीं रहे होंगे। सांकलिया ने बताया है कि सिंधु सभ्यता के भवनों में खिड़कियों के निश्चित साक्ष्य नहीं मिलते और आज भी सिंध और बीकानेर क्षेत्र के लोग साधारणतया बिना खिड़कियों के मकान बनाते हैं। उनके अनुसार सिंध के प्राचीन एवं बीकानेर में अर्वाचीन काल के भवनों में जलवायु आजकल के बीकानेर की तरह रही होगी। जहाँ तक पक्की ईंटों के प्रयोग का प्रश्न है कुछ विद्वानों ने यह भी बताया है कि आधुनिक सिंध में जितनी वर्षा होती है उससे पांच गुना अधिक वर्षा वाले क्षेत्र (50 सेमी.) में भी कच्ची ईंटों का प्रयोग पर्याप्त वर्षा होने के कारण करते होंगे। यह भी मत व्यक्त किया गया है कि निरंतर बाढ़ के कारण ही नहीं अपितु समुद्र तट के समीप की भूमि के ऊपर उठने के फलस्वरूप भी नदियों का पानी समुद्र में गिरने के बजाय वापस लौटने के कारण झील बन जाने से भी मोहेंजोदड़ों के लोगों के लिए यह आवश्यक हो गया होगा कि वे इस तरह के जल-प्लावन के प्रतिरोध में पक्की ईंटों की चिनाई वाले मकान बनायें।

राइक्स ने मोहेंजोदड़ों की नालियों के आकार-प्रकार का गहराई से विवेचन कर यह मत व्यक्त किया है कि इस नगर की नालियाँ वर्षा जल के निकास के लिए पर्याप्त नहीं थीं, वे घरों के गंदे पानी के निकास के लिए ही उपयुक्त लगती हैं। अतः यह सोचना समीचीन नहीं कि उन्हें वर्षा-जल के निकास हेतु बनाया गया था और इस आधार पर सिंध में उस समय पर्याप्त वर्षा होने की धारणा बनाना भी ठीक नहीं। फेयरसर्विस का कहना है कि नालियों का अधिकतर ढका हुआ बनाया जाना भी इसके विरुद्ध पड़ता है कि नालियाँ वर्षा के पानी के निकास के लिए थीं। राइक्स ने यह भी बताया है कि सिंधु के बाढ़ प्रभावित क्षेत्र में छोटे-छोटे जंगल और बड़ी-बड़ी घास उग सकती थी जैसे आज भी सिंधु में कहीं-कहीं दिखाई देती है। ऐसे स्थल बाघ, गैंडा आदि जंगली पशुओं के रहने के लिए उपयुक्त थे। उत्तरी सिंध में बाघ जब भी दिख जाते हैं और लगभग तीन शताब्दी पहले तक सिंध के तीर में गैंडे पाये जाने के साक्ष्य हैं। राइक्स का यह भी कहना है कि आधुनिक काल में सिंधु नदी को सिंचाई के लिए नियंत्रित करने से पूर्व, बिना वर्षा के भी बाढ़ प्रभावित क्षेत्र में उथले आंतभौम जलस्तर की भूमि को साफ करके खेती की जा सकती थी, और यदि आज भी नदी को अनियंत्रित कर दिया जाय तो इस तरह की ताम्र-पाषाण युगीन परिस्थितियाँ पुनः लौट सकती हैं। राइक्स की यह धारणाा उन विद्वानों की धारणा से भी मेल खाती है जिनके अनुसार लगभग नौ हजार वर्षों से, जब से मनुष्य ने वातावरण पर प्रभुत्व स्थापित करना शुरू किया, जलवायु में नाममात्र का ही परिवर्तन हुआ है।

●●●

परिशिष्ट 4

दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह

मेसोपोटामिया के विभिन्न क्षेत्रों से कीलाक्षर लिपि में लिखी कुछ ऐसी मृत्पट्टिकाएं मिली हैं जिनमें वहां के व्यापारियों द्वारा विभिन्न देशों से वस्तुएं आयात करने के संदर्भ में तीन नाम – दिल्मुन[1], मगन[2] और मेलुह्ह का उल्लेख है। यह उल्लेखनीय है कि इन नामों का उल्लेख या तो इसी क्रम में किया गया है या फिर मेलुह्ह, मगन और दिल्मुन के रूप में। याने दिल्मुन तथा मेलुह्ह का उल्लेख या तो आदि में है या अंत में, किन्तु मगन का उल्लेख सदैव मध्य में है। इन नामों के उल्लेख वाले लेखों की तिथि लगभग 2450 ई. पू. से 1900 ई.पू. है।

लगभग 2450 ई.पू. के एक लेख में दिल्मुन से लकड़ी से लदे जहाज आने का उल्लेख है। सारगन काल (लगभग 2350 ई.पू.) के लेखों में दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह से जहाजों का उसकी नयी राजधानी अगेड (बेबीलोन) में आने का उल्लेख है। दिल्मुन के व्यापारी उर में बसे हुए थे। दिल्मुन का क्षेत्र वहाँ था जहाँ सूर्योदय होता है, और वह लोकोत्तर स्वर्ग के समान है। बाद के कुछ लेखों में भी जहाज द्वारा इन स्थलों से सोना, चाँदी, ताँबा, लाजवर्द से बने मनके, हाथीदाँत की कंघी, आभूषण, अंजन काठ और मोती लाये जाने के उल्लेख हैं। दिल्मुन, मगन और मेलुह्ह की पहचान विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से की है पर यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि ये क्षेत्र मिस्र और भारत के बीच होने चाहिए और इनमें से एक सिंधु-सभ्यता के किसी क्षेत्र का द्योतक होना चाहिए। कुछ विद्वानों यथा कार्नवाल, बिब्बी, मैलोवन, आल्चिन तथा श्रीमती आल्चिन ने दिल्मुन की पहचान बहरीन द्वीप से की है। बहरीन में रस-अल-कला और फेयल्का में डेन पुरातत्त्वविदों द्वारा किये गये उत्खननों में अन्य वस्तुओं के साथ विशाल संख्या में सेलखड़ी की मुद्राएं मिली हैं। चूँकि बहरीन उन वस्तुओं का स्रोत नहीं लगता जो मेसोपोटामिया के प्राचीन लेखों में दिल्मुन के संदर्भ में उल्लिखित हैं अतः यह धारणा व्यक्त की गई है कि बहरीन के लोग भारत और मेसोपोटामिया के बीच व्यापार में बिचौलिया की भूमिका निभाते थे। कार्नवाल

---

1. इसे 'तिल्मुन' भी पढ़ा गया है।
2. इसे 'मकन' भी पढ़ा गया है।

ने दिल्मुन की पहचान बहरीन से किये जाने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं :-

(1) सुमेरी लेखों में दिल्मुन के राजा को समुद्र के मध्य रहने वाला कहा गया है और अस्सीरिया की भाषा में 'समुद्र के बीच' आ अर्थ द्वीप होता है; (2) दिल्मुन को 30 बेरू (लगभग 60 घंटे) की दूरी पर बताया गया है और लगभग 5 मील प्रतिघंटे की रफ्तार से नाव चलाने पर बहरीन पहुँचने में इतना ही समय लगता; (3) क्लासिकल लेखकों ने बहरीन को Tylos कहा है जो 'दिल्मुन' का ही परिवर्तित रूप लगता है; (4) बेबीलोनी लेखों में नबु नामक देवता का दिल्मुन में पूजित होने का उल्लेख है और बहरीन के लेखों में 'इन्जक' देवता, जो नबु का ही दूसरा नाम है, के पूजित होने का उल्लेख है; (5) अस्सीरिया के लेखों से दिल्मुन के राज्य के अंतर्गत अरब सागर के तटवर्ती क्षेत्र का उल्लेख है, और इन क्षेत्रों में बहरीन की संस्कृतियों से मिलती-जुलती संस्कृतियां पायी गयी हैं; (6) बहरीन की खुदाइयों में प्राप्त सामग्री सुमेरी लेखों में दिल्मुन के संदर्भ में वर्णित सामग्री से मेल खाती है और (7) सुमेरी लेखों में दिया दिल्मुन का भौगोलिक विवरण बहरीन की भौगोलिक स्थिति से मेल खाता है (उदाहरणार्थ लेखों में वर्णित झरने बहरीन के झरनों के समान है।)

दिल्मुन की पहचान बहरीन से किये जाने के पक्ष में उपर्युक्त तर्क काफी प्रभावशाली हैं और अधिकांश विद्वान इसी पहचान को स्वीकार करते हैं। तथापि यहाँ क्रैमर के भिन्न मत का उल्लेख करना भी उपयुक्त होगा। वे दिल्मुन को सिंधु प्रदेश का द्योतक मानते हैं। मृत्तिकापट्ट लेख में इसे सूर्योदय का देश, साफ-सुथरे नगरवाला, जो लोकोत्तर स्वर्ग है और जहाँ हाथी पाये जाते हैं, कहा गया है। क्रैमर का कहना है कि स्वच्छता रखने के लिये सिंधु सभ्यता में जितना प्रयास किया गया है उतना किसी भी प्राचीन सभ्यता में नहीं मिलता। सुमेरी लेखों में दिल्मुन के जहाजों का उल्लेख है, और सिंधु सभ्यता जो समृद्ध सभ्यता थी और जिसका विदेशों से व्यापारिक संबंध था, वहीं से ये जहाज आते रहे होंगे। राव इस संबंध में लोथल से प्राप्त गोदी-बाड़ा का उल्लेख करते हैं। उनका यह भी कहना है कि जहाँ तक हाथियों के उल्लेख का प्रश्न है यह सौराष्ट्र के क्षेत्र के संदर्भ में ठीक बैठता है जहाँ ऐतिहासिक काल तक हाथी पाये जाते थे। राव का यह भी कहना है कि सौराष्ट्र में कूड़ नामक एक सिंधु सभ्यता का स्थल है जिसे स्थानीय लोग दिल्मुन नाम से जानते हैं। सूर्योदय का देश भी सिंधु सभ्यता के साथ ठीक बैठता है।[1] किन्तु इस संदर्भ में कार्नवाल ने

1. लेकिन राव इस सम्बन्ध में पूर्णतया निश्चित नहीं हैं और वे दिल्मुन की बहरीन से पहचान की संभावना को स्वीकार करते हैं।

निर्दिष्ट किया है कि सुमेरी लेखों में फारस की खाड़ी को सूर्योदय का सागर कहा गया है, और इस आधार पर बहरीन के लिए जो सुमेर से पूर्व दिशा में स्थित है सूर्योदय का देश कहा जा सकता है।

लीमान्स ने 'मगन', जिसकी सुमेरी लेखों में तांबे के स्रोत के रूप में विशेष उल्लेख मिलता है, की पहचान बलूचिस्तान के मकरान तट से की है। मगन और मकरान नामों का ध्वनि साम्य भी इस मत को कुछ बल देता है। कुछ विद्वानों के अनुसार मगन को पहचान ओमन या दक्षिणी अरब के किसी क्षेत्र से की जानी चाहिए।

अधिकांश विद्वान मेलुह्ह की पहचान सिंधु सभ्यता के क्षेत्र से करते हैं।[1] मेसोपोटामिया और सिंधु सभ्यता के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों के निश्चित साक्ष्य उपलब्ध हैं और इसलिए सुमेरी लेखों में इस क्षेत्र के नाम का उल्लेख स्वाभाविक ही है। मेलुह्ह की सिंधु सभ्यता के क्षेत्र से पहचान किये जाने के पक्ष में अल्चिन ने संस्कृत भाषा के म्लेच्छ शब्द का उल्लेख किया है जिसका अर्थ 'बर्बर' है। म्लेच्छ शब्द अनार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है और वे सिंधु सभ्यता को अनार्य सभ्यता मानते हैं। मेसोपोटामिया के एक लेख के अनुसार अक्कद काल में मेलुह्ह की भाषा का रूपांतर करने के लिए शासन की ओर से अनुवादक की व्यवस्था थी। मेलुह्ह से प्राप्त वस्तुओं में लकड़ी, विशेषतः काली लकड़ी (जिसका आबनूस से तात्पर्य रहा होगा), लाल पत्थर (जिससे कार्नीलियन अभिप्रेत रहा होगा) और हाथीदांत विशेष उल्लेखनीय हैं। कार्नीलियन के मनके सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से पर्याप्त संख्या में मिले हैं। चन्हुदड़ों और लोथल में कार्नीलियन के मनके बनाने के कारखाने होने के साक्ष्य हैं। हाथीदांत की वस्तुएँ भी सिंधु सभ्यता के स्थलों से प्राप्त हुई हैं। मोहेंजोदड़ों, लोथल और सुरकोटड़ा में पूरे के पूरे हाथीदांत खुदाई में मिले हैं जो कलाकृतियों के निर्माण हेतु रखे रहे होंगे। मेलुह्ह से आयातित वस्तुओं में तांबे का उल्लेख है। शायद यह राजस्थान के क्षेत्र का भी द्योतक हो जहाँ तांबा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था।

संक्षेप में प्राचीन मेसोपोटामिया के लेखों में मेलुह्ह से आयातित जिन वस्तुओं का उल्लेख है वे मेलुह्ह की सिंधु सभ्यता से पहचान के पक्ष में हैं; कोई भी महत्त्वपूर्ण तर्क इसके विपक्ष में नहीं।[2]

●●●

---

1. मेलोवन मेलुह्ह और मगर दोनों को मेसोपोटामिया और भारत के मार्ग में समुद्र तट पर स्थित मानते हैं।

2. यों कुछ विद्वानों ने इसकी पहचान सीस्तान से सुझायी है पर इसमें अधिक बल नहीं।

परिशिष्ट 5

सिंधु सभ्यता की संभावित राजधानियाँ

हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों एक दूसरे से लगभग 640 कि.मी. की दूरी पर स्थित हैं। इन दोनों नगरों में एक दुर्ग और एक निचला नगर होने के साक्ष्य मिलने के कारण पिगट ने इनके हड़प्पा साम्राज्य की दो राजधानियाँ होने की संभावना व्यक्त की। उन्होंने इस सिलसिले में ऐतिहासिक काल में कुषाण साम्राज्य की दो राजधानियों का उदाहरण दिया है। कुषाण राजा दो राजधानियों – उत्तर में पेशावर और दक्षिण में मथुरा से राज्य करते थे। व्हीलर ने इस संदर्भ में नवीं शताब्दी में अरब शासन के अंतर्गत दो राजधानियों-मुल्तान और मन्सूरा से शासन संचालन का उदाहरण दिया है जो भौगोलिक दृष्टि से सिंधु सभ्यता के उपर्युक्त दोनों नगरों के निकट हैं। मुल्तान हड़प्पा के काफी समीप है और मंसूरा मोहेंजोदड़ों के। व्हीलर ने यह भी सुझाया है कि पहले मोहेंजोदड़ों प्रमुख नगर रहा होगा किन्तु जब भूगर्भशास्त्रीय कारणों से उसके इर्द-गिर्द झील बन गई और नगर ह्रासोन्मुख होने लगा तो ऐसी स्थिति में हड़प्पा नगर का राजनैतिक और आर्थिक महत्त्व बढ़ जाना स्वाभाविक था और वही सिंधु सभ्यता का प्रमुख नगर बन गया। बाद में सिंधु सभ्यता के ही अन्य स्थल कालीबंगाँ में उत्खनन किया गया। वहाँ पर भी हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की तरह गढ़ी और निचले नगर के अवशेष प्राप्त हुए। कुछ पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इसके हड़प्पा साम्राज्य की तीसरी राजधानी होने की संभावना व्यक्त की जो राजस्थान और उसके समीपवर्ती क्षेत्र के प्रशासन के लिए उत्तरदायी थी। इसी तरह लोथल को, जहाँ पर उत्खनन के फलस्वरूप उपर्युक्त नगरों की भाँति गढ़ी और निचले नगर की रूपरेखा मिली है, हड़प्पा संस्कृति के सौराष्ट्र और समीपवर्ती क्षेत्र की राजधानी माना जा सकता है। शि. रंगनाथ राव के मतानुसार इस बात की अधिक संभावना है कि ये एक ही साम्राज्य की राजधानियाँ थीं और इस साम्राज्य का केन्द्र-स्थल सिंधु घाटी में था। वे इसे विश्व में प्रथम महान् साम्राज्य की संज्ञा देते हैं जिसने विभिन्न जातियों और धर्म के लोगों को एक सूत्र में बांधा। लेकिन हाल ही के उत्खननों से सुरकोटड़ा में भी गढ़ी और निचले नगर की रूपरेखा स्पष्ट हुई है। यह स्थल लोथल से अधिक दूर नहीं। निश्चय ही गढ़ी और निचले नगर की योजना मात्र से किसी स्थल को राजधानी मानना समीचीन नहीं, वैसे इनमें से

कुछ नगर राजधानियाँ हो सकते हैं। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हड़प्पा सभ्यता के क्षेत्र को हड़प्पा साम्राज्य का क्षेत्र सिद्ध करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। यह भी हो सकता है कि अलग-अलग क्षेत्रों के लोग अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से शासन कर रहे थे, लेकिन उनमें सांस्कृतिक एकता थी। लिखित साक्ष्यों के उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

●●●

परिशिष्ट 6

सामाजिक एवं आर्थिक वर्गभेद और रूढ़िवादिता

हमने सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं यथा वेशभूषा, आभूषण आमोद-प्रमोद, शव-विसर्जन, खानपान (अध्याय 'आर्थिक जीवन') आदि का विवेचन विभिन्न अध्यायों के अन्तर्गत किया है। इस परिशिष्ट में वर्गभेद और रूढ़िवादिता का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

वर्गभेद

सिंधु सभ्यता के कई जातियों के होने के साक्ष्य का उल्लेख इसी पुस्तक में अन्यत्र (देखिए अध्याय 16) किया गया है। अतः यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि सिंधु सभ्यता के समाज में कई सामाजिक वर्ग थे। विभिन्न उपकरणों से अनुमान लगाया जा सकता है कि कुम्भकार, राज, बढ़ई, टमटा, सोनार, दस्तकार, जुलाहे, ईंट बनाने वाले, मनके बनाने वाले, मुद्रा बनाने वाले इत्यादि पेशेवर लोग रहे होंगे। ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि उस काल में पुरोहितों का एक अलग वर्ग रहा होगा और तत्कालीन समाज में उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा। शासक के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं। कुछ विद्वानों ने कल्पना की है कि शासक धर्म का भी महत्त्वपूर्ण अधिकारी था। राजकर्मचारियों व सेनाधिकारियों का समाज में अच्छा स्थान रहा होगा। किन्तु संपन्नता की दृष्टि से व्यापारियों का प्रमुख स्थान रहा होगा। गढ़ी वाले टीले में शासक, महत्त्वपूर्ण कर्मचारी, सभ्रांत एवं संपन्न लोग रहते रहे होंगे और निचले नगर में अधिकतर सामान्य जन।

हड़प्पा के विभिन्न प्रकार के मकानों और उनकी स्थिति को देखकर उस समय जाति प्रथा के प्रचलन की संभावना कुछ विद्वानों ने मानी है। विशाल अन्नागारों और गढ़ी की पश्चिमी एशिया से तुलना कर पुरोहित-राजाओं की कल्पना की गई है। उपकरणों की निर्माण-शैली में जो रूढ़िवादिता है उसे धर्म के प्रभाव का फल माना गया है और धर्म का स्रोत राजा था ऐसा सुझाया गया है। लेकिन दूसरे विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यह रूढ़िवादिता और विभिन्न स्थलों के उपकरणों में समानता आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक अनुशासनबद्धता का परिणाम थी। यह तो लगभग निश्चित लगता है कि हड़प्पा

के बैरकों में रहने वालों की स्थिति समाज में निम्न थी, किन्तु यह कहना कठिन है कि इन मजदूरों की स्थिति दासों जैसी थी। इन बैरकों को देखकर वत्स को तेल-अल-अमर्ना के मजदूरों के गांव का ध्यान आया। व्हीलर का कहना है कि मिस्र के दी-अल-मदीना, काहुन या गीजे के गांव का भी उल्लेख समानता की दृष्टि से इस संदर्भ में किया जा सकता है। मिस्र के इन गांवों में छोटे-छोटे घरों को हड़प्पा के बैरकों की तरह कतार में बनाया गया था। पर जहाँ तक उनमें रहने वालों का प्रश्न है उनकी स्थिति और हड़प्पा के बैरकों में रहने वालों की स्थिति में अंतर लगता है। उदाहरणार्थ दीर-अल-मदीना के ग्रामीण लोग राजाओं के लिए कब्रें तैयार करते थे और उनके घर नगर की बस्तियों से दूर एकांत में होते थे। काहुन और गीजे के बैरकों में रहने वालों का वास्ता मृतकों के शवाधान संबंधित संरचनाओं के निर्माण में नहीं बल्कि राजकीय प्रशासन संबंधी कार्यों से रहा होगा। वे गढ़ी में रहने वाले शासक और संभ्रांत व्यक्तियों के आवासों के निकट ही निवास करते थे जिससे आवश्यकता पड़ने पर उनकी सेवा तुरंत उपलब्ध हो सके। व्हीलर ने सुझाया है कि शायद उनकी स्थिति सुमेर के धर्म-प्रभावित शासन के अंतर्गत दासों अथवा अर्द्ध-दासों की तरह रही हो। सुमेर में इस तरह के अनेक लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मन्दिरों में विभिन्न कार्यों यथा कपड़ों का निर्माण, बेकरी या कताई-बुनाई के लिए दास और अर्द्ध-दासों को काम पर लगाया जाता था। लेकिन रंगनाथ राव ने ठीक ही कहा है कि सिंधु सभ्यता में विभिन्न कार्यों के लिए मजदूर अवश्य लगाये जाते रहे होंगे किन्तु इस धारणा की पुष्टि के लिए अकाट्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं कि इन मजदूरों की स्थिति दासों जैसी थी। गढ़ी वाले टीले के लोगों को समाज और राजनीति में महत्त्व तो लगता है किन्तु निचले नगर में पर्याप्त संख्या में अति विशाल और अति छोटे घर मिलते हैं जो इस बात का द्योतक हैं कि उस समय धनी और निर्धन लोग पास-पास के मकानों में रहते थे।

राव का मत है कि आधुनिक ग्रामों के साक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दो कमरे वाले घरों में पांच या छह लोग रहते रहे होंगे और बड़े घरों में अधिक से अधिक दस से बारह लोग।

लोथल की एक ही कब्र के दो शवों में एक दीर्घशिरस्क है और दूसरा लघुशिरस्क। ऐसी धारणा व्यक्त की गयी है कि इनमें एक शव स्त्री का और दूसरा पुरुष का है और यदि यह पति-पत्नी के साथ ही गाड़े जाने का उदाहरण है तो यह दो भिन्न जातियों के मध्य वैवाहिक संबंध का द्योतक है। लेकिन इस

एकमात्र और अनिश्चित साक्ष्य के आधार पर तत्कालीन समाज में अंतर्जातीय विवाह के सामान्य प्रचलन होने की धारणा बनाना ठीक नहीं होगा। यह सोचना स्वाभाविक है कि सिंधु सभ्यता में समाज की इकाई परिवार रही होगी। स्त्री मूर्तियों के बहुसंख्या में प्राप्त होने से कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि तत्कालीन धर्म में मातृदेवी की प्रधानता थी और संभवतः परिवार मातृ-प्रधान था। किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

रूढ़िवादिता

फेयरसर्विस के अनुसार एक ओर सिंधु सभ्यता के कस्बे और गांव नगरों के ही लघु रूप हैं और दूसरी ओर नगर भी ग्रामों के ही विस्तृत और परिष्कृत रूप। अंतर मात्र इतना है कि ग्रामों की अपेक्षा नगरों में भव्य भवन थे और उनमें पर्याप्त संपन्नता भी थी। एक ओर तो हम हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों जैसे नगरों में प्रारंभ से लेकर अंत तक लगभग एक ही तरह के नगर विन्यास और उपकरण पाते हैं। दूसरी ओर सिंधु सभ्यता के विस्तृत क्षेत्र के विभिन्न स्थलों के मृद्भाण्ड तथा कुछ अन्य उपकरणों में भी पर्याप्त समानता मिलती है। तकनीकी क्षेत्र में शायद ही विश्व की किसी अन्य सभ्यता में इतनी एकरूपता मिले जितनी हम सिंधु सभ्यता में पाते हैं। फेयरसर्विस का विचार है कि उपकरणों की एकरूपता शासन की निरंकुश तानाशाही के कारण नहीं, जैसा कि कुछ विद्वानों ने सुझाया है, बल्कि जनता का एक खास रहन-सहन का ढंग इसका कारण था, जो कुछ उसी तरह का था जैसा कि पिता-पुत्र का संबंध। ग्रामीणों का नैतिकलोक नगरों में भी विद्यमान था। सिंधु सभ्यता के विभिन्न नगरों की योजना में पर्याप्त समानता जनता का एक खास परंपरा के प्रति मोह होना, उसमें रंग जाना और उसका निर्वाह करने का फल है। उनके अनुसार परंपरा ही उनके नैतिक मूल्यों का आधार बन गयी थी और धर्म ने इस परंपरावाद को और मजबूत बना दिया होगा। प्रारंभ में नगर और ग्रामों में घनिष्ठ संपर्क रहा जिससे दोनों के मूलभूत उपकरणों में समानता रही किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया उनके संपर्क में ढिलाई आने लगी। दूरस्थ स्थलों में तो संपर्क बहुत कम हो गया और वे नगरों की छाया मात्र रह गये।

आल्चिन और श्रीमती आल्चिन के अनुसार वस्तुओं के निर्माण में उपयोगिता

और मजबूती की ओर विशेष ध्यान और कल्पनाशीलता और नवीनता की ओर कुछ उदासीनता उनकी परलोक के प्रति अत्यधिक आस्था तथा चिंतन के कारण भी हो सकती है। उनके परंपरावाद में बहुत कुछ परवर्ती काल के भारतीय समाज की रूढ़िवादिता का पूर्वरूप मिलता है। सिंधु सभ्यता में अत्यन्त आदिम प्रकार की बिना छेदवाली चपटी कुल्हाड़ियाँ और बिना रीढ़दार भाले इस सभ्यता के प्रारंभ से अंत तक हर चरण में मिले हैं। यह उल्लेखनीय है कि समकालीन मेसोपोटामिया में हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी और बीच में रीढ़दार भाले सिंधु सभ्यता से काफी पहले से बनने लगे थे। किन्तु मेसोपोटामिया से व्यापारिक संपर्क के बावजूद सिंधु सभ्यता के लोगों ने उन्नत प्रकार के उपकरणों का निर्माण नहीं किया और परम्परागत ढंग से ही अविकसित प्रकार के उपकरण बनते रहे।[1]

●●●

1. तांबे की हत्थे के लिए छेदवाली एकमात्र कुल्हाड़ी मोहेंजोदड़ों की ऊपरी सतह पर मिली है जिसे कुछ विद्वान पश्चिम की ओर आये आक्रमणकारियों द्वारा लायी गयी मानते हैं।

परिशिष्ट 7

सिंधु सभ्यता के कुछ नगरों की अनुमानित जनसंख्या

प्राचीन नगरों की विशेषतः उन नगरों की जिनके बारे में साहित्यिक साक्ष्य नहीं हैं, जनसंख्या का आकलन अत्यन्त दुष्कर है और पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर जो अनुमान लगाए गये हैं उनमें मतभेद होना स्वाभाविक है। विषय का विस्तृत विवेचन न कर हम कुछ मतों का ही यहाँ उल्लेख करेंगे। फेयरसर्विस ने मोहेंजोदड़ों के एक छोटे से भाग (गढ़ी, VS और DK क्षेत्र) को छोड़कर शेष भाग के लिए 41,250 जनसंख्या आंकी है। हड़प्पा के लिए, गढ़ी क्षेत्र को छोड़कर, उन्होंने 23,544 जनसंख्या का अनुमान लगाया है। इस तरह के निर्णय लेने में उन्होंने दो बातों को ध्यान में रखा। एक तो 400 वर्ग फीट का क्षेत्र एक व्यक्ति के लिए पर्याप्त होता है और दूसरा एक भवन में लगभग 6 व्यक्ति रह सकते हैं।

दत्तमजुमदार ने हड़प्पा की जनसंख्या को आंकने के लिए अन्नागार के आकार को आधार बनाया और 37,155 के लगभग जनसंख्या आंकी। रंगनाथ राव का कहना है कि लोथल में करीब 4500 वर्गमीटर के क्षेत्र में छोटे-बड़े करीब 80 घर हैं। लोथल के तृतीय चरण में करीब 90,000 वर्गमीटर का क्षेत्र था जिसमें 1600 घर बन सकते थे। एक घर में औसतन 6 व्यक्ति होने का अनुमान है और इस तरह लोथल की जनसंख्या लगभग 10 हजार हुई। उनका कहना है कि यदि नगर की चहारदीवारी 15000 हो सकती है जो उनके अनुसार एक ताम्र-पाषाणकालीन नगर के लिए काफी है। दूसरी ओर पोस्सेहल का मत है कि लोथल की जनसंख्या एक हजार से दो हजार के बीच रही होगी। यह सही है कि प्राचीन काल के नगरों और कसबों की आबादी आज के नगरों और कस्बों की तुलना में काफी कम रही होगी, फिर भी हमें लगता है कि लोथल की जनसंख्या कम से कम पाँच हजार से तो अधिक रही ही होगी।

●●●

परिशिष्ट 8

गोदी-बाड़ा (Dockyard)

(फ. VI, 2)

लोथल में पकी ईंटों से निर्मित एक ढांचा मिला है जिसे शि. रंगनाथ राव ने गोदी पहचाना है।[1] इसके भीतर का क्षेत्र समलम्बक है और इसका औसत आकार 214 x 36 मीटर है। इसकी गहराई 3.3 मीटर है। लेकिन राव के अनुसार अनुमानतः मूलरूप में गहराई 4.15 मीटर रही होगी। राव के विवरण के अनुसार इसकी उत्तरी दीवार में 12 मीटर चौड़ा प्रवेश द्वार था जिससे जहाज आते-जाते थे। यह प्रवेशद्वार एक नहर के द्वारा भोगावा नदी से जुड़ा था, जिससे गोदी में पानी आता था। राव के अनुसार उन लोगों ने जानबूझ कर गोदी को समुद्र अथवा भोगावा नदी के तट पर नहीं बनाया क्योंकि वहाँ पर स्थित होने से बाढ़ और बाद से उस को हानि पहुंचने की संभावना थी। दक्षिणी दीवार में एक मीटर चौड़ी जल-निकास के लिए नाली बनी थी। यहाँ पर ईंटों पर खांचे मिले हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि यहाँ पर लकड़ी का दरवाजा लगा था जिसे आवश्यकतानुसार उठाया या गिराया जा सकता था। उच्च ज्वार के समय इसे खोल कर अतिरिक्त पानी को बाहर निकलने दिया जाता था और निम्न ज्वार में दरवाजे को बंद कर गोदी में अपेक्षित मात्रा में पानी बने रहने दिया जाता था।

राव का मत है कि डिजाइन, आकार और निर्माण की दृष्टि से लोथल की गोदी प्राचीन फिनीशिया और रोम की गोदियों से कहीं अधिक विकसित थी और निश्चय ही यह अपने ढंग का विश्व में सबसे प्राचीन उदाहरण है। उन्होंने बी.एस. लेले द्वारा किये गये अध्ययन के आधार पर अन्य गोदियों से लोथल की गोदी की तुलना की है और निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन ही नहीं आधुनिक गोदियों की तुलना में भी इसका आकार कोई खास कम नहीं था। उन्होंने डाइरेक्टर आफ पोर्ट्स, अहमदाबाद, के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पुरैतिहासक काल में समुद्र का एक अंग लोथल के निकट तक फैला था और इसलिए यहाँ पर गोदी का होना संभव लगता है।

---

1. आगे दिये विवरण में यदि किसी अन्य के मत का उल्लेख नहीं किया गया है तो इस विषय की पूरी सामग्री राव के विवरण पर आधारित है।

राव के अनुसार लोथल में गोदी के मिलने से सिंधु सभ्यता के विदेशों से व्यापार में लोथल का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार करना पड़ेगा। उत्खनन के आधार पर राव का कहना है कि लोथल में लगभग 2000 ई.पू. में एक बाढ़ आयी जिससे नगर और गोदी दोनों को क्षति पहुंची और भोगावा नदी अब दो किलोमीटर दूर बहने लगी। लोथलवासियों ने दो मीटर गहरी एक नहर खोद कर गोदी को नदी से जोड़ दिया। लेकिन अब गोदी बड़े जहाजों के आने के उपयुक्त नहीं रह गयी थी और केवल छोटी-छोटी नावें ही उसमें आती रहीं। उनके अनुसार लगभग 1900 ई.पू. में एक और भीषण बाढ़ आयी जिसने गोदी को रेत से पूरी तरह पाट दिया और इसके बाद उसका उपयोग नहीं हो पाया।

अधिकांश विद्वान श्री राव के इस मत से सहमत लगते हैं कि यह ढाँचा गोदी का ही है, लेकिन कुछ विद्वानों ने इसे तालाब माना है। सबसे पहले यू. पी. शाह ने गोदी के मत को चुनौती दी और उसके पश्चात् लौरेंस लैश्निक ने काफी जोर-शोर से राव के मत का खंडन किया और इसे तालाब माना है।[1] राव ने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिये हैं -- (1) यदि यह तालाब होता तो लोगों ने इसके लिए पक्की ईंटों से ही निर्माण किया होता, (2) यदि यह तालाब होता तो इसमें पानी जमा होने के लिए काफी चौड़ी खुली जगह होनी चाहिए थी, (3) इसकी दीवारें सीधी हैं, यदि यह तालाब होता तो इसमें भीतर जाने के लिए या तो सीढ़ियाँ होतीं या फिर ढाल होती, (4) लोथल के उत्खनन में एक विशाल चबूतरा मिला है जिसका तालाब के संदर्भ में तो कोई विशेष महत्त्व नहीं लगता लेकिन गोदी के संदर्भ में जहाज में लादने के लिए और जहाज से उतारा हुआ माल रखने के लिए उसका प्रयोग स्वाभाविक लगता है, (5) इसके तल की मिट्टी में खारापन पाया गया और उसमें घोंघे भी मिले हैं जो इस बात के द्योतक लगते हैं कि इसमें समुद्र का पानी भी आता था। इसके अंदर खारे पानी के होने का साक्ष्य इसके जल का सिंचाई अथवा पीने के लिए प्रयोग होने के पक्ष में नहीं है, अतः यह भी इसके तालाब होने के विरुद्ध ही जाता है, (6) भीतरी दीवार में कुछ छेद मिले हैं जिसमें लकड़ी के खम्भे लगे रहे होंगे। इन खम्भों से जहाजों को लंगर डालते समय बांधा जाता

---

1. लैश्निक के कुछ तर्कों में तो काफी बल है लेकिन उनके तर्क में एक मुख्य कमजोरी यह है कि वे लोथल को एक नगर मानने के लिए तो क्या एक बड़ा गांव मानने को भी तैयार नहीं हैं। उनका एक तर्क है कि भला छोटे गांव में गोदी की क्या आवश्यकता।

रहा होगा, (7) इसके भीतर कुछ छेदवाले पत्थर मिले हैं जिसका उपयोग जहाजों के लंगर डालने के संदर्भ में उन्हें बांधने के लिए किया गया होगा।

यद्यपि राव के उपर्युक्त तर्क काफी प्रभावशाली हैं तथापि यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि अभी भी कुछ विद्वान् उनके इस मत से सहमत नहीं हैं।

लेश्निक का कहना है कि पहले तो यह नहीं कहा जा सकता कि उन लोगों ने गोदी क्यों बनायी जब जहाज को लाने ले जाने के अन्य साधारण तरीके मालूम थे। राव के अनुसार जहाज को गोदी में प्रवेश कराने के लिए 90^0 का कोण बनाना होता था, लेकिन यह इसके लिए उपयुक्त तरीका नहीं लगता क्योंकि इसमें मोड़ने में कठिनाई हुई होगी। गोदी में पानी लाने के लिए जिस नहर का राव ने उल्लेख किया है उसकी स्थिति पर भी संदेह किया गया है। गोदीबाड़े के अंदर छिद्रयुक्त पत्थर जिन्हें राव ने जहाज को लंगर डालने की रस्सी बांधने के लिए बताया लेश्निक उन्हें ढेकली में डंडे पर वजन देने के लिए प्रयुक्त होना मानते हैं। लेश्निक का कहना है कि लोथल की खुदाई में केवल दो ही कुएं मिले हैं जो वहाँ के जल की आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त नहीं थे। अतः तालाब की आवश्यकता पड़ी होगी जिसका पानी स्नान तथा कपड़े धोने आदि के साथ ही सिंचाई के लिए भी होता रहा होगा। सामान्यतः वर्षा जल ही इसमें एकत्रित होता रहा होगा यद्यपि नदी से भी इसे जोड़ दिया गया होगा। दीवारों की ऊचाँई 15 फुट है जो डेकली के लिए उपयुक्त है। पोस्सेहल का कहना है कि लेश्निक का मत मानने में राव के मत से कम कठिनाइयाँ नहीं हैं। उनके अनुसार लोथल में इतनी कम वर्षा नहीं होती कि इतना बड़ा तालाब बनाने की आवश्यकता पड़ती। फिर भूमि के भीतर थोड़ी ही गहराई पर पानी उपलब्ध है तो सिंचाई और दूसरे प्रयोगों के लिए तालाब बनाने की आवश्यकता नहीं दिखती। छिद्र युक्त पत्थर के छेद रस्सी के लिए तो उपयुक्त हैं (ये दो-तीन इंच व्यास के हैं), पर डंडे पर डालने के लिए बहुत छोटे हैं। सीढ़ी न होने के कारण यह स्नान और कपड़े धोने के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता था। पीने का पानी तो बगल के कुएं से लेते रहे होंगे न कि तालाब से जिसका पानी अपेक्षाकृत गंदा रहा होगा।

●●●

परिशिष्ट 9

सिंधु सभ्यता में खोपड़ी की शल्य-चिकित्सा

सिंधु सभ्यता में खोपड़ी की शल्य चिकित्सा के दो उदाहरण ज्ञात हैं : एक कालीबंगाँ से जो निश्चित है, और दूसरा लोथल से जो संदिग्ध है। कालीबंगाँ से प्राप्त एक बालक की खोपड़ी पर छः छेद हैं। निरीक्षण से पाया गया कि ये छेद कुछ भर गये थे। स्पष्ट है कि बालक की खोपड़ी की शल्य-चिकित्सा की गई थी और वह सफल हुई तथा बालक उसके बाद कम से कम उतने समय तक अवश्य जीवित रहा जितना समय उन छेदों को भरने में लगा होगा।

लोथल से प्राप्त एक बालक की खोपड़ी पर भी छेद पाया गया।[1] इस बालक की उम्र नौ-दस साल के लगभग रही होगी। कालीबंगाँ के साक्ष्य के विपरीत लोथल से प्राप्त इस खोपड़ी में किये छेद के भरने के कोई साक्ष्य नहीं दिखे। या तो शल्य-चिकित्सा सफल नहीं हुई और उसके थोड़े ही समय बाद बालक मर गया, या फिर हमें मानना पड़ेगा कि छेद मरणोपरान्त किया गया था। यदि छेद भरने के बाद किया गया तो उसका संबंध शवोत्सर्ग के संदर्भ में किसी धार्मिक विश्वास से जोड़ना होगा, न कि शल्य-चिकित्सा से।

यह उल्लेखनीय है कि इन दो सिंधु सभ्यता के उदाहरणों के अलावा भारत में इस तरह की शल्य-चिकित्सा के केवल दो अन्य उदाहरण मिले हैं – एक बुर्जाहोम (कश्मीर) से और दूसरा लंघनाज (गुजरात) से।

खोपड़ी की शल्य-चिकित्सा सिरदर्द और चोट आदि के कारण होने वाली असह्य पीड़ा को ठीक करने के लिए की गयी होगी। पेरु (मध्य अमेरिका) की जनजातियों में इस तरह की शल्य-चिकित्सा आज भी की जाती है। भारत के ऐतिहासिक काल के साहित्य में भी इस तरह की चिकित्सा के उल्लेख मिलते हैं।

●●●

---

1. राव ने अपनी पुस्तक 'लोथल एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन' में लोथल के इस उदाहरण को खोपड़ी पर शल्य-चिकित्सा किये जाने का प्राचीनतम उदाहरण कहा है। उनका यह कथन सही नहीं लगता। भारत में सिंधु सभ्यता में ही कालीबंगाँ के उदाहरण को लोथल से बाद का नहीं कहा जा सकता, और जहाँ तक विश्व के संदर्भ का प्रश्न है, इस संबंध में यूरोप के नवपाषाणयुग के साक्ष्य निश्चय ही भारतीय उदाहरणों से पहले के हैं।

परिशिष्ट 10

सिंधु सभ्यता की परवर्ती भारतीय सभ्यता को देन

प्रायः प्रत्येक सभ्यता अपनी पूर्ववर्ती संस्कृति का परिवर्तित और विकसित रूप होती है। अधिकांशतः प्राचीन सभ्यताएं सभ्यताओं को कुछ देकर ही विलीन होती हैं। अनेक विद्वान सिंधु सभ्यता में ऐतिहासिक काल के कुछ तत्त्वों का मूल देखते हैं। चूंकि सिंधु सभ्यता के अंत और ऐतिहासिक काल के प्रारंभ के बीच लम्बा काल-व्यवधान रहा है अतः इस संबंध में मतमतांतर होना स्वाभाविक है और निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। नीचे हमने उन संभावित तत्त्वों का उल्लेख किया है जो, कुछ विद्वानों के अनुसार, ऐतिहासिक काल की संस्कृति को सिंधु सभ्यता की देन माने जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश का पिछले पृष्ठों में विभिन्न संदर्भों में कुछ विस्तार से वर्णन हो चुका है, अतः यहाँ उनका उल्लेख मात्र ही पर्याप्त होगा :-

1. सिंधु सभ्यता के संदर्भ में अनेक देवी-देवताओं का अंकन या मूर्तियाँ मिली हैं। ऐतिहासिक काल में बहुदेववाद प्रचलित रहा।

2. सिंधु सभ्यता के अंतर्गत मातृदेवी का देवोपासना में प्रमुख स्थान है जिसका अत्यन्त विकसित रूप ऐतिहासिक काल में हम शक्ति धर्म में पाते हैं। वैदिक देवताओं में देवियाँ हैं तो, पर देवों की अपेक्षा उनका स्थान गौण है।

3. शिव-पशुपति जैसे देवता की धारणा सिंधु सभ्यता की ही देन लगती है।

4. सिंधु सभ्यता में लिंग और योनि पूजा के साक्ष्य मिलते हैं। इसका महत्त्व इसलिए विशेष रूप से है कि ऋग्वेदीय आर्य लिंगपूजा नहीं करते थे अपितु अनार्यों की लिंगपूजक कहकर भर्त्सना करते थे। लेकिन लगता है विजेता आर्य विजित अनार्यों से प्रभावित हुए और यजुर्वेद तक आते-आते राजकीय कर्मकाण्ड में लिंग को स्थान मिलने लगा। कालांतर में तो यही शिव का विशेष प्रतीक हो गया और इसे मानव प्रतिमाओं से भी अधिक महत्त्व मिला। योनि पूजा के साक्ष्य भी सिंधु सभ्यता में प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक काल में विशेषतः शाक्त सम्प्रदाय के अंतर्गत इस तरह की पूजा के साक्ष्य मिलते हैं।

5. सिंधु सभ्यता में योग का प्रचलन था। ऋग्वेद में योग सम्बन्धी सामग्री का अभाव है किन्तु ऐतिहासिक काल के अनेक संप्रदायों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

6. जल का धार्मिक महत्त्व भी सिंधु सभ्यता में दिखता है। प्रायः सभी घरों में स्नानागार का प्रबन्ध था और मोहेंजोदड़ों का विशाल स्नानागार तो इस संदर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक काल में धार्मिक अनुष्ठानों के संदर्भ में स्नान का अत्यधिक महत्त्व है।

7. कुछ विद्वान् हड़प्पा मुद्राओं के अंकनों में पौराणिक आख्यानों के अनुरूप आख्यानों का अंकन होने की संभावना मानते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य द्वारा भैंसे को सींग से पकड़ कर उसकी नाक पर पांव रख कर उस पर भाला भोंकने के दृश्य को मकाइ ने शिव द्वारा दुंदभी का वध और जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने देवी द्वारा महिषासुर-मर्दन के जैसे किसी आख्यान का अंकन माना है। मनुष्यों द्वारा वृक्ष को उखाड़ने के अंकन को बनर्जी ने महाभारत में उल्लिखित कृष्ण द्वारा यमलार्जुन वृक्षों को उखाड़ने जैसे किसी आख्यान का अंकन माना है।

8. सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर ऐसे अंकन, जिनमें विभिन्न पशुओं के अवयवों के संश्लेषण से आकृति बनी हैं, की तुलना ऐतिहासिक काल के किन्नर, गंधर्व, कुंभाण्ड आदि के अंकनों से की जा सकती है।

9. सिंधु सभ्यता की कुछ मुद्राओं पर ध्वज बना है। परवर्ती काल में देवताओं के लिए ध्वज के निर्माण की परंपरा बहुत लोकप्रिय हुई।

10. कई प्रतीक, यथा स्वस्तिक, चक्र आदि जो सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर मिले हैं ऐतिहासिक काल में भी पर्याप्त धार्मिक महत्त्व के रहे।

11. सिंधु सभ्यता में मातृदेवी और कुछ अन्य देवताओं (?) को नग्न दिखाया गया है। ऐतिहासिक काल में भी कुछ देवी-देवताओं को, विशेषतः जैन तीर्थकारों को, नग्न दिखाया गया है।

12. सिंधु सभ्यता में, विद्वानों का अनुमान है, पशुओं का पर्याप्त धार्मिक महत्त्व था, और ऐतिहासिक काल में भी ऐसा ही रहा है जब पशुओं को स्वतंत्र रूप से या देवताओं के वाहन के रूप में आदरपूर्ण स्थान दिया गया।

13. सिंधु सभ्यता की मुद्रा पर अंकित अभिप्राय के साक्ष्य से लगता है कि इस सभ्यता के धार्मिक अनुष्ठानों में नरबलि और पशुबलि भी सम्मिलित थे।

ऐतिहासिक काल में भी हमें नरबलि और पशुबलि की प्रथा का प्रचल
मिलता है।

14. जिस तरह से सिंधु सभ्यता की मुद्राओं और बर्तनों पर वृक्षों का अंक
है वह उनके धार्मिक प्रभाव का द्योतक है। इस संदर्भ में पीपल का वृ
विशेष उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक काल में भी पीपल आदि कई वृक्षों व
पूजा होती रही है और उन्हें वार्षिक महत्त्व का माना गया है। सांची
भरहुत और अमरावती की कला में वृक्षों का धार्मिक महत्त्व स्पष्ट है।

15. कला के क्षेत्र में भी सिंधु सभ्यता का प्रभाव लगता है। सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर वृषभ का अत्यन्त सजीव और प्रभावोत्पादक आलेखन है। कुछ विद्वानों ने अशोक कालीन रामपुरवा-वृषभ में इसी कला-परंपरा का निर्वाह हुआ माना है। मोहेंजोदड़ों की कांस्य नर्तकी में भारतीय नारी सौंदर्य के आदर्शों का कुछ रूप मिलता है।

16. सिंधु सभ्यता की कुछ मूर्तियां कायोत्सर्ग मुद्रावाली जैन तीर्थकारों की मूर्तियों से मिलती हैं।

17. योगी की मुद्रा में हाथ पर ताबीज है। कुछ अन्य अवशेषों को भी ताबीज पहचाना गया है। परवर्ती भारतीय जीवन में ताबीजों का प्रयोग पर्याप्त रूप से हुआ।

18. मूर्तियों में प्रजनन अंगों को स्वाभाविक से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना, दोनों-सिंधु सभ्यता काल और ऐतिहासिक काल की मूर्तियों में दिखाई देता है।

19. मनुष्य पशु युद्ध का चित्रण सिंधु सभ्यता की मुद्राओं और ऐतिहासिक काल की बसाढ़ से प्राप्त एक मुद्रा और अहिच्छत्रा के मृण्मय फलक पर मिलता है।

20. मोहेंजोदड़ों के गढ़ीवाले टीले में स्तंभ-युक्त भवन के अवशेष मौर्य-कालीन पाटलिपुत्र के स्तंभों पर आधारित भवनों की याद दिलाते हैं।

21. कुछ विद्वान् कौशाम्बी के उत्खनन में उद्घाटित रक्षा प्राचीर की निर्माण शैली को सिंधु सभ्यता की रक्षा प्राचीर की निर्माण शैली से प्रभावित मानते हैं।

22. कुछ विद्वान् तो सिंधु सभ्यता की ताम्रपट्टिकाओं को आहत सिक्कों का पूर्वरूप मानते हैं।

23. मोहेंजोदड़ों की शिव-पशुपति की मुद्रा पर जो ग्रैवेयक दिखाया गया है, ऐतिहासिक काल में यक्ष मूर्तियों के गले में उसी तरह का ग्रैवेयक बना मिलता है। मनके के हार, कर्णाभरण, चूड़ियां, अंगूठी, कर्धनी आदि आभूषण जो सिंधु सभ्यता में प्रचलित थे बाद की सभ्यताओं में भी लोकप्रिय रहे।

24. 'योगी' की मूर्ति जिस तरह से बायां कंधा ढके दायें के नीचे से होकर शाल धारण किये दिखाई गई है वही विधि हम परवर्ती बुद्धमूर्तियों में संघाटि धारण करने में पाते हैं।

25. सिंधु सभ्यता में जिस तरह की बैलगाड़ियां थीं वे आज की बैलगाड़ियों से विशेष भिन्न नहीं थी।

26. अधिकांश विद्वानों का मत है कि भारत में सिंधु सभ्यता के लोगों ने ही सबसे पहले हाथी पालना शुरू किया। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में हाथी का सेना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा।

27. कर्निंघम और कुछ अन्य विद्वान् सिंधु सभ्यता की लिपि को ब्राह्मी लिपि का मूल मानते हैं।

28. कुछ लोग मोहेंजोदड़ों से प्राप्त कांस्य मूर्ति को मन्दिर से सम्बद्ध मानते हैं और उसे आज की देवदासी का पूर्व रूप मानते हैं।

29. कालीबंगाँ और लोथल में प्राप्त अग्निवेदिकाएं बाद की संस्कृति में भी मिलती हैं।

30. सिंधु सभ्यता के कुछ बर्तन प्रकार थाली, कुल्हड़, कटोरे आदि बाद की संस्कृतियों में भी मिलते हैं।

●●●

परिशिष्ट 11

तिथि निर्धारण की रेडियो-कार्बन विधि

तिथि निर्धारण की रेडियो कार्बन (अथवा कार्बन-14) विधि लिब्बी ने 1949 में खोज निकाली थी और लगभग चार दशकों से अनेक संस्कृतियों की तिथि निर्धारण में इसकी सहायता ली गयी है। सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों के लिए कार्बन-14 तिथियां उपलब्ध हैं। इस विधि में कार्बन पदार्थों की तिथि निर्धारित करने का आधार है उस पदार्थ में उपलब्ध कार्बन-14 तत्त्व के अर्धजीवन का आकलन करना। जीवधारियों अर्थात् मनुष्य, पशु-पक्षी और वनस्पति में दो तरह का कार्बन पाया जाता है - कार्बन-12 और कार्बन-14। जीवितावस्था में कार्बन-12 और कार्बन-14 का अनुपात सभी जीवधारियों और वनस्पति में समान होता है। जीवधारी के मरने अथवा वनस्पति के कटने और सूखने के बाद भी कार्बन-12 तो उतना ही रहता है जितना जीवितावस्था में था, लेकिन कार्बन-14 धीरे-धीरे कम होने लगता है। उसमें यह क्षय एक निश्चित गति से होता है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि जैविक (कार्बनिक) पदार्थों में कार्बन-14 की मात्रा 5568 ± 30 साल में अपनी मूल मात्रा से आधी हो जाती है। कुछ दूसरे विद्वान कार्बन-14 का अर्द्धजीवन 5730 ± 40 वर्ष[1] मानते हैं। अब प्रायः सभी विद्वान् दूसरे मत को स्वीकार करते हैं और इस पुस्तक में भी दी गयी रेडियो कार्बन तिथियाँ उसी पर आधारित हैं।

---

1. घन ऋण (±) का चिह्न इस बात का द्योतक है कि इस चिह्न से पहले दी गई संख्या एकदम निश्चित नहीं है और इस बात की गुंजाइश है कि इस चिह्न के बाद दी हुई संख्या को इसमें एक बार बढ़ाने से और इसमें से घटाने से जो दो संख्याएं मिलें वास्तविक तिथि उन दोनों के बीच कहीं भी हो सकती है। उदाहरण के लिए 5730 ± 40 का अर्थ है कि तिथि परीक्षण के समय से (5730 + 40) 5770 तथा (5730 − 40) 5690 वर्षों के बीच कहीं भी हो सकती है। यों तो इन दो संख्याओं के बीच की संख्या निकालने से उसमें गलती होने की सीमा कम हो जाती है, लेकिन जैसे कुछ विद्वानों ने चेतावनी दी है कि जब तक किसी स्थल के चरण विशेष के बारे में अनेक संगत कार्बन-14 तिथियाँ ज्ञात न हों तब तक बीच की संख्या को सही तिथि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसलिए ± का चिह्न लगाना ही वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त है।

इस संबंध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कार्बन-14 तिथि हेतु जो प्रतिदर्श (Sample) भेजा जाय उसमें यह उल्लेख करना आवश्यक है कि यह जले अनाज के दाने का है या लकड़ी का; और फिर लकड़ी के प्रतिदर्श में भी यह उल्लेख होना आवश्यक है कि यह भवन के खम्भे का है या साधारण लकड़ी का। यह इसलिए आवश्यक है कि कार्बन-14 विधि से लकड़ी के सूखने की तिथि का ज्ञान होगा न कि उसके भवन में प्रयोग किये जाने का; और पुराने मकान की अच्छी लकड़ी का प्रयोग पुनः नये मकान में हो सकता है और ऐसी दशा में मकान की तिथि लकड़ी के लिए प्राप्त कार्बन-14 तिथि से बाद की हो सकती है। साधारणतया किसी भवन में प्राप्त जले अन्न के दानों की तिथि और उस भवन की तिथि एक ही होगी।

किसी संस्कृति के तिथि निर्धारण के संदर्भ में कार्बन-14 विधि के प्रयोग संबंधी कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक है। अच्छा तो यह है कि उस संस्कृति विशेष के न केवल किसी स्थल विशेष के विभिन्न चरणों से अपितु एक ही परत के लिए भी अनेक कार्बन-14 तिथियां ज्ञात हों। ऐसा करने से ही सही तिथि ज्ञात होने की संभावना है। निश्चय ही किसी स्थल विशेष से प्राप्त केवल एक या दो कार्बन-14 तिथियाँ उस स्थल की निश्चित तिथि निर्धारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। अक्सर यह धारणा हो सकती है कि 'प्रारंभिक' प्रतिदर्श (सैम्पल) लगभग संस्कृति के प्रारंभ के द्योतक है और 'बाद' के सभ्यता के अंत के। लेकिन यह आवश्यक नहीं है। बल्कि अधिकांशतः ऐसी संभावना कम ही रहती है। इससे बस इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'पहले' वाली तिथि के समय संस्कृति विद्यमान थी और 'बाद' वाले के बाद तक यह बनी रही। फिर किसी स्थल पर सभ्यता के प्रारंभ और अंत और उसके विभिन्न चरणों के संदर्भ में कार्बन-14 विधि से ज्ञात की गयी तिथियां उस स्थल विशेष के लिए ही मान्य हो सकती है। उन तिथियों को उसी संस्कृति के अन्य स्थानों के लिए भी आंख मूंदकर स्वीकार नहीं किया जा सकता, विशेष रूप से तब जबकि यह स्थल दूर-दूर स्थित हों और उनके भौगोलिक वातावरण में भी भिन्नता हो। सिंधु सभ्यता के संदर्भ में, जिसका विस्तार एक अत्यन्त विस्तृत भू-भाग पर रहा था, जिसके स्थल विभिन्न भौगोलिक और जलवायु की परिस्थितियों में हैं और साधारण ग्राम्य-संस्कृति से लेकर विकसित नगर सभ्यता के द्योतक हैं, यह सोचना स्वाभाविक है कि सामान्यतः बस्तियों का उदय और अंत अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग कारणों से अलग-अलग समय में हुआ होगा।

एक बात स्पष्ट है कि विद्वान कार्बन-14 विधि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसे अब उतनी निश्चित रूप से सही तिथि बताने वाली विधि नहीं मानते जितनी कि शुरू-शुरू में मानते थे जब इस विधि की पहली खोज हुई थी। विदेशों में वृक्ष-विलय विधि (डेण्ड्रोक्रोनोलॉजी) और अनुवर्ण मृत्तिका (Clay varve) का परीक्षण से प्राप्त तिथियों और कार्बन-14 विधि से प्राप्त तिथियों में पर्याप्त अंतर पाया गया। भारत में उपर्युक्त दोनों ही विधियों का प्रयोग अभी तक संभव नहीं हो सका है, अतः यहाँ पर कार्बन-14 तिथियों की तुलना के लिए उनका साक्ष्य उपलब्ध नहीं। किन्तु इनके संबंध में विदेशों से प्राप्त तथ्य हमें कार्बन-14 तिथि के बारे में सचेत करने के लिए पर्याप्त हैं।

कुछ समय पूर्व तक ऐसी धारणा थी कि जीवधारियों में कार्बन-14 ग्रहण करने की दर विश्व के सभी क्षेत्रों में सदैव एक ही रही है, लेकिन अब विद्वानों ने इस पर संदेह व्यक्त किया है। कुछ कारणों यथा औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन हेतु ईंधन के रूप में अत्यधिक कोयला प्रयोग होने से अथवा परमाणु विस्फोट के कारण इसमें अंतर आ सकता है। यह देखा गया है कि मिस्र और मेसोपोटामिया के इतिहास के तृतीय और द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य की बहुत सी ऐसी तिथियाँ हैं जो लिखित ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर लगभग निश्चित हैं किन्तु कार्बन-14 विधि से इस काल के स्तरों के लिए जो तिथियाँ ज्ञात हैं वे इन लिखित साक्ष्यों से ज्ञात तिथियों के बहुत बाद की हैं। यदि यह भी मान लें कि ऐतिहासिक साक्ष्यों से निर्धारित तिथियों के पूर्णतया निश्चित तिथियाँ स्वीकार करना कठिन है, तो भी कुछ कार्बन-14 तिथियाँ ऐसी हैं जिन्हें न केवल संदिग्ध अपितु असंभव की संज्ञा देनी होगी। उदाहरण के लिए कार्बन विधि के अनुसार तृतीय राजवंश के राजा आसेर (Djoser) की जो तिथि मिलती है वह उसके उत्तराधिकारी हुनी (Huni) की लगभग निश्चयपूर्वक ज्ञात तिथि से 8 शताब्दी बाद की है।[1] व्हीलर का कहना है कि हो सकता है कि इस तरह की विसंगति किन्हीं कारणों से सिंधु सभ्यता की कार्बन तिथियों पर भी लागू होती हो।

●●●

1. वैसे यह भी हो सकता है कि तिथि का यह भेद प्रतिदर्शों के दूषित होने के कारण हो। लेकिन एक नहीं अनेक प्रतिदर्शों का साक्ष्य इस धारणा का समर्थन नहीं करता।

प्राग् सिंधु तथा सिंधु सभ्यता के स्थलों की कुछ कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू.	(अर्द्धायु 5730 वर्ष)
आमरी	TF—863,	2665 ± 100
(सिंध)	TF—864,	2900 ± 115
दंब सदात	UW—60,	2200 ± 165
(बलूचिस्तान)	P—523,	2200 ± 75
	L—180E,	2200 ± 360
	L—180C,	2220 ± 410
	P—522,	2500 ± 200
	L—180B,	2320 ± 360
	UW—59,	2510 ± 70
कोटदीजी	P—195,	2100 ± 140
(सिंध)	P—180,	2250 ± 140
	P—179,	2330 ± 155
	P—196,	2600 ± 145
मुण्डिगाक	TF—1129,	3145 ± 110
(अफगानिस्तान)	TF—1132,	2995 ± 105
	TF—1131,	2755 ± 105
कालीबंगाँ	TF—154,	1820 ± 115
(राजस्थान)	TF—156,	1900 ± 110
	TF—165,	1965 ± 105
	TF—161,	2095 ± 105
	TF—240,	1765 ± 115
	TF—162,	2105 ± 105
	TF—241,	2255 ± 95
	TF—157,	2290 ± 120
	TF—155,	2370 ± 120

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्द्धायु 5730 वर्ष)	
मोहेंजोदड़ों (सिंध)	TF—75,	1755 ± 115
	P—1182A,	1865 ± 65
	P—1176,	1965 ± 60
	P—1178A,	1965 ± 60
	P—1180,	1995 ± 65
	P—1179,	2085 ± 65
	P—1177,	2155 ± 65
	TF—143,	1665 ± 110
	TF—946,	1765 ± 105
	TF—149,	1830 ± 145
	TF—150,	1900 ± 105
	TF—605,	1975 ± 110
	P—481,	2050 ± 75
	TF—153,	2075 ± 110
	TF—25,	2090 ± 115
	TF—942,	2225 ± 115
कालीबंगाँ II (राजस्थान)	TF—152,	1770 ± 90
	TF—142,	1790 ± 105
	TF—141,	1860 ± 115
	TF—139,	1930 ± 105
	TF—151,	1960 ± 105
	TF—948,	1980 ± 100
	TF—147,	2030 ± 105
	TF—145,	2060 ± 105
	TF—608,	2070 ± 110
	TF—947,	1925 ± 90
	TF—163,	2080 ± 105
	TF—607,	2090 ± 125
	TF—160,	2230 ± 105

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	
लोथल	TF—19,	1800 ± 140
(गुजरात)	TF—23,	1865 ± 110
	TF—29,	1895 ± 115
	TF—26,	2000 ± 125
	TF—27,	2000 ± 115
	TF—22,	2010 ± 115
	TF—133,	1895 ± 115
	TF—136,	2080 ± 135
रोजदी	TF—199,	1745 ± 105
(गुजरात)	TF—200,	1970 ± 115
सुरकोटड़ा	TF—1310,	2000 ± 135
(गुजरात)	TF—1305,	2055 ± 100
	TF—1310,	1970 ± 100
	TF—1295,	1940 ± 100
	TF—1294,	1780 ± 100
	TF—1297,	1790 ± 95
	TF—1307,	1660 ± 110
	TF—1311,	1780 ± 90
बाड़ा	TF—1204,	1845 ± 155
(पंजाब)	TF—1205,	1890 ± 95
	TF—1207,	1645 ± 90

●●●

परिशिष्ट 12

सिंधु सभ्यता और वैदिक संस्कृति

सिंधु सभ्यता की खोज होने के समय से यह प्रश्न बराबर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करता रहा है कि इस सभ्यता के जनक कौन थे? कई विद्वानों ने वैदिक और सिंधु सभ्यता की कुछ आधारभूत विभिन्नताओं की ओर ध्यान आकर्षित कर उन्हें अलग परिस्थितियों की उपज माना है।

मार्शल और कुछ अन्य विद्वानों ने सिंधु सभ्यता और ऋग्वैदिक सभ्यता के मध्य अंतर को इस प्रकार दिखाया है[1] :- (1) ऋग्वैदिक सभ्यता ग्रामीण संस्कृति लगती है जबकि सिंधु सभ्यता के लोग सुनियोजित नागरिक जीवन से भलीभाँति परिचित थे। (2) आर्य धातुओं में सोने तथा चाँदी से परिचित थें और यजुर्वेद में लोहे के प्रयोग के भी निश्चित संदर्भ मिलते हैं। सिंधु सभ्यता के लोग सोने, चाँदी का प्रयोग करते थे, किन्तु उन्होंने चांदी का उपयोग सोने से अधिक किया; तांबे और कांसे के विभिन्न आयुधों तथा उपकरणों का निर्माण करना वे जानते थे, किन्तु वे लोहे से परिचित नहीं थे। (3) ऋग्वैदिक आर्यों के जीवन में अश्व का बड़ा महत्त्व था। किन्तु इस विषय में निश्चित साक्ष्य नहीं है कि सिंधु सभ्यता के लोग अश्व से परिचित थे। (4) वेदों में व्याघ्र का उल्लेख नहीं मिलता और हाथी का अत्यल्प मात्रा में उल्लेख मिलता है। किन्तु सिंधु सभ्यता की मुद्राओं पर व्याघ्र और हाथी दोनों ही का पर्याप्त मात्रा में अंकन उपलब्ध है। (5) आर्य विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करते थे। वे रक्षा उपायों में कवच बनाना जानते थे, जबकि सिंधु सभ्यता के किसी भी स्थल की खुदाई से निश्चित रूप से रक्षा संबंधी कोई भी वस्तु अभी तक नहीं मिली। (6) आर्य गाय को विशेष आदर देते थे। पर सिंधु सभ्यता में मुद्राओं तथा अन्य कलाकृतियों से लगता है कि गाय की विशेष महत्ता नहीं थी, गाय की अपेक्षा बैल का अधिक महत्त्व था। (7) आर्य संभवतः मूर्तिपूजक नहीं थे। दूसरी ओर सिंधु सभ्यता के लोग मूर्तिपूजक थे। (8) सिंधु सभ्यता के स्थलों से नारी मूर्तियां प्रभूत संख्या में उपलब्ध होने से ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के देवताओं में मातृदेवी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। आर्यों में पुरुष देवता अधिक महत्त्वपूर्ण

---

1. मुख्य रूप से मार्शल की कृति मोहेंजोदड़ों एंड दि इंडस सिविलिजेशन पर आधारित।

रहे हैं। देवियों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम है। (9) मार्शल ने मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा में अग्निकुण्डों के अवशेषों का न मिलना इस बात का प्रमाण माना है कि यहाँ पर यज्ञादि का प्रचलन नहीं रहा होगा। जबकि आर्यों के धार्मिक जीवन में यज्ञों का अत्यन्त महत्त्व रहा है।[1] (10) सिंधु सभ्यता की मुद्राओं और अन्य उपकरणों से स्पष्ट है कि लोग लिखना जानते थे किन्तु आर्यों के विषय में कुछ विद्वानों की धारणा है कि वे लिखना नहीं जानते थे और अध्ययन-अध्यापन मौखिक रूप से करते थे। (11) ऋग्वेद में असुरों के दुर्गों का उल्लेख है और हम यह जानते हैं कि सिंधु सभ्यता के सभी प्रमुख नगर में दुर्ग थे। (12) अनार्यों को चपटी नाक वाला भी कहा गया है। हड़प्पा संस्कृति की कुछ मूर्तियों में भी चपटी नासिका दिखलायी गयी है। आर्यों की नाक प्रखर होती थी।

कुछ विद्वानों ने हड़प्पा सभ्यता और आर्य संस्कृति को एक ही माना है। उनके अनुसार दोनों में जो विभेद है वह समय का अंतर मात्र है। उनके अनुसार ऐसी स्थिति में वैदिक सभ्यता या तो हड़प्पा सभ्यता की जन्मदात्री थी अथवा उससे ही विकसित थी। किन्तु मार्शल के अनुसार इस मत को स्वीकार करने में कई कठिनाइयां हैं। उनके अनुसार यदि यह मान लिया जाय कि वैदिक संस्कृति हड़प्पा सभ्यता से पहले की है तो ऐसी कल्पना करना युक्तिसंगत ही होगा कि वैदिक ग्रामीण संस्कृति से शनैः-शनैः हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों जैसे नगर का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में विकास के लिए काल का अंतर अवश्य रखना होगा। किन्तु प्रश्न यह है कि संस्कृति संबंधी जिस तरह की सामग्री का ऋग्वेद में उल्लेख है वह आगे हड़प्पा सभ्यता के काल में क्यों नहीं मिलती? उदाहरण के लिए यदि वैदिक संस्कृति सिंधु सभ्यता की पूर्वगामिनी है तो रक्षात्मक वस्तुओं (कवच आदि) का सिंधु सभ्यता में अभाव क्यों है? सिंधु सभ्यता में लोहे का प्रयोग क्यों नहीं मिलता, और अश्व, जो वैदिक साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पशु है, उसके सिंधु सभ्यता के हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों जैसे नगरों में निश्चित और प्रभूत मात्रा में साक्ष्य क्यों नहीं मिलते? गाय के स्थान पर वृषभ का धार्मिक महत्त्व कैसे हो गया? सिंधु सभ्यता के कुछ स्थलों में नव पाषाण कालीन उपकरणों का मिलना तो इस बात की ओर इंगित करता है कि सिंधु सभ्यता वैदिक संस्कृति की पूर्वगामिनी थी।

दूसरी ओर यदि सिंधु सभ्यता को ही आर्य संस्कृति माने और कालक्रम की दृष्टि से उसे वैदिक संस्कृति से पहले की माने तो इस बात का समुचित

---

1. लोथल और कालीबंगाँ के उत्खननों में अग्निवेदियां मिली हैं।

उत्तर नहीं मिल पाता कि जिन आर्यों ने हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों और अन्य स्थलों पर ईंटों के भवनों का निर्माण किया था वही आगे चलकर वैदिक युग में लकड़ी बांस के मकान बना कर क्यों रहने लगे? कैसे उन्होंने लिंग और मूर्तिपूजा को भुला दिया (या उसे एकदम गौण स्थान दिया) और आगे चलकर ऐतिहासिक काल में पुनः बड़े पैमाने पर अंगीकार कर लिया? इसका भी उत्तर देना कठिन है कि किन कारणों से सिंध प्रदेश को, जहाँ पर सिंधु सभ्यता के कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण स्थल मिले हैं, वेदों में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। उपर्युक्त साक्ष्यों के संदर्भ में इन दोनों संस्कृतियों के एक ही स्रोत होने का निश्चय कर सकना दुष्कर लगता है। ऐसी संभावना अधिक है कि वैदिक संस्कृति हड़प्पा संस्कृति की उत्तरगामिनी ही नहीं थी, अपितु उसका विकास ही इतर परिस्थितियों में हुआ था।

इसी प्रसंग से संबंधित यह भी प्रश्न है कि यदि सिंधु सभ्यता और वैदिक संस्कृति भिन्न है और वैदिक संस्कृति बाद की है तो क्या सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण में वैदिक संस्कृतिवालों से उनका संपर्क हुआ, अथवा वैदिक संस्कृति सिंधु सभ्यता के समाप्त होने के बाद की है। इस विषय में विद्वान एकमत नहीं हैं।

मार्शल, जिन्होंने सिंधु सभ्यता की तिथि 3250 से 2750 ई.पू. मानी थी, ने इस सभ्यता को न केवल अनार्य ही माना है, अपितु आर्यों के आगमन से बहुत पूर्व समाप्त हुई बताया है। गार्डन चाइल्ड और व्हीलर, जो इस सभ्यता का प्रारंभ लगभग 2500 ई.पू. और अंत 1500 ई.पू. आंकते है, ने आर्यों को इस सभ्यता के अंत के लिए उत्तरदायी ठहराया है।

किन्तु इस सिलसिले में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि वैदिक साहित्य के अध्ययन से अभी ठीक-ठीक इतिहास का निर्माण आसान नहीं। किसी वस्तु विशेष का उल्लेख साहित्य में न होना इस बात का प्रमाण नहीं कि वह वस्तु थी ही नहीं। फिर हाल ही की कुछ खुदाइयों से ऐसे नये साक्ष्य भी मिले हैं जो मार्शल के समय तक ज्ञात नहीं थे। उदाहरणार्थ लोथल से घोड़े की मृण्मूर्तियां मिली हैं। सुरकोटड़ा में भी सिंधु सभ्यता के संदर्भ में घोड़े की हड्डियाँ मिली हैं। यों मोहेंजोदड़ों से प्राप्त मृण्मूर्ति को भी कुछ लोगों ने घोड़े की आकृति पहचाना था। मोहेंजोदड़ों और हड़प्पा के उत्खनन में तो अग्निकुंडों के निश्चित प्रमाण मिल चुके हैं। यद्यपि कुछ विद्वान् मार्शल के मत को ही मानते हैं तथापि कतिपय विद्वान् जिनमें टी.एन. रामचन्द्रन, केदारनाथ शास्त्री,

पुसालकर, स्वामी शंकरावन्द बुद्ध, प्रकाश शि. रंगनाथ राव आदि उल्लेखनीय हैं, सिंधु सभ्यता को आर्यों की ही सभ्यता मानते हैं।

बुद्ध प्रकाश तथा कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों को मुद्राओं के अंकन द्वारा समझाया गया है। हड़प्पा के जिस स्थान में व्हीलर ने मंदिर होने की संभावना बतायी है वहीं के आयताकार राख युक्त अलग-अलग बटी हुई इमारत की पहचान बुद्ध प्रकाश ने वैदिक यज्ञवेदी से की है। कालीबंगाँ और लोथल की खुदाइयों में तो अग्निवेदियों के निश्चित प्रमाण प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वान् इन्हें यज्ञभूमि मानते हैं। ऋग्वेद के अनुसार सोम यज्ञ की परिसमाप्ति पर पापों से विमुक्ति के लिए अवमृथ स्नान करना पड़ता था। मोहेंजोदड़ों का विशाल स्नानागार ऐसे ही कार्यों के लिए प्रयुक्त रहा होगा। मोहेंजोदड़ों के कुछ स्थलों से जो बर्तनों के ढेर के ढेर मिले हैं वे बुद्ध प्रकाश के अनुसार, यज्ञीय पात्र (कपाल) हो सकते हैं जिन पर यज्ञ के समय पिण्ड अर्पित किये जाते थे। ऋग्वैदिक एवं हड़प्पा संस्कृतियों के शवोत्सर्ग की परंपराओं में भी कुछ समानता थी। बुद्ध प्रकाश ने वैदिक साहित्य में उल्लिखित दास, दस्यु और पणि की सिंधु सभ्यता के व्यापारियों से पहचान की है जिन्हें ऋग्वेद में लालची, धनी और भेड़िये के समान क्रूर कहा गया है। उनके अनुसार नागरिकों के शोषण और अत्याचार के विरुद्ध ग्रामवासियों ने विद्रोह किया और नगरों को बर्बाद कर दिया। इस संदर्भ में वह यह भी उल्लेख करते हैं कि दिवोदास को 'ऋणच्युत' अर्थात् लोगों की ऋण से मुक्ति प्रदाता बतलाया गया है।

शि. रंगनाथ राव का मत है कि हड़प्पा सभ्यता में विभिन्न जातियां थीं। इनमें एक जाति भारोपीय थी और जिसका उस संस्कृति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। उनके अनुसार आर्य कई समूहों में आये थे और इनमें कुछ ऋग्वेद आर्यों से भी पहले आ चुके थे। जिस समय ऋग्वेदीय आर्य भारत में आये उस समय तक पहले के आये हुए आर्य यहाँ के लोगों के साथ घुल-मिल गये थे और वे उनके रहन-सहन और भाषा आदि से बहुत प्रभावित हुए थे। ऋग्वेदीय आर्यों ने उनका उल्लेख असुर, मुध्रवाच् और वैदिक परंपरा को न मानने वालों के रूप में किया है। वैदिक साहित्य में ही सुरों और असुरों को मूलतः एक ही मूल का माना गया है। राव के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित दाशराज्ञ-युद्ध भी पहले आये हुए आर्यों (पुरुओं) और बाद में आये आर्यों (भरतों) के बीच हुआ था।

राव लोथल का संदर्भ देते हुए कहते हैं कि यहाँ पर सिंधु सभ्यता के

लोगों द्वारा पशु-बलि दिये जाने और अग्निपूजा किये जाने तथा घोड़े और चावल का ज्ञान होने के स्पष्ट साक्ष्य मिले हैं। उनका यह भी अनुमान है कि लोथल के लोग रथों से भी परिचित थे। वे यह भी कहते हैं कि ऋग्वेदीय आर्य भले ही ग्रामवासी रहे हों लेकिन उनसे पहले के आर्य नगरों की जनसंख्या का एक भाग थे। यों सिंधु सभ्यता के हर नगर के आसपास ग्राम थे और स्वयं इस सभ्यता के लोग भी अंतिम चरण में बहुत कुछ ग्रामीण हो गये थे। उनका कहना है कि लगभग 1900 ई.पू. में आर्यों का एक और समूह भारत आया था। इन आर्यों को अपने अभियान के संदर्भों में सिंधु सभ्यता के लोगों का सामना करना पड़ा था, जिनकी संस्कृति उस समय ह्रासोन्मुख थी। सिंधु सभ्यता की कई जातियों में से एक ऋग्वेदीय आर्यों से पहले के आर्य की भी थी। मातृदेवी और शिव अनार्य देवता हो सकते हैं, किन्तु पशुबलि और अग्निपूजा आर्यों में भी प्रचलित थी। जहाँ तक सिंधु सभ्यता के लोगों के लेखनकला से भलीभाँति परिचित होने और आर्यों के लेखनकला से अनभिज्ञ होने के तर्क का प्रश्न है, राव के अनुसार यह हो सकता है कि आर्य लेखनकला से परिचित थे लेकिन उनके लेख शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं पर लिखे होने के कारण उपलब्ध नहीं हैं। राव के अनुसार इस मत में ज्यादा बल नहीं कि आर्य 1500 ई.पू. में ही आये। यह अधिक तर्क संगत लगता है कि वे उससे काफी पहले यहाँ आ चुके थे।

आल्चिन और श्रीमती आल्चिन का भी कहना है कि कार्बन-14 और अन्य नवीनतम विधियों के प्रचलन के बाद अब सिंधु सभ्यता की जो तिथियाँ ज्ञात हैं उनसे उनके आर्यों के संपर्क में आने की बात में कोई विरोध तो नहीं ही मिलता है बल्कि उनके अनुसार यह मान लिया जाय कि सिंधु सभ्यता एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में लगभग 2150 ई.पू. में प्रारम्भ हुई तो आर्य लोग इस सभ्यता के प्रारंभ के प्रेरणा स्रोत के लिए भी उत्तरदायी हो सकते हैं। वे यह भी लिखते हैं कि हाल ही में यूनान और एशिया-माइनर में हुए शोध कार्य से ज्ञात होता है कि इस तिथि के आसपास भारोपीय लोगों की गतिविधियाँ शुरू हो गयी थी।

●●●

परिशिष्ट 13

सिंधु सभ्यता के बाद की कुछ उत्तर भारतीय संस्कृतियाँ

सिंधु सभ्यता के विशृंखलन के बाद उत्तर भारत में, इस सभ्यता के क्षेत्र में विभिन्न संस्कृतियों के अवशेष पाये गये हैं। हड़प्पा में 'एच समाधि' संस्कृति, चन्हुदड़ो में क्रमशः झूकर और झांगर संस्कृति, लोथल और रंगपुर में चमकदार लाल रंग के मृद्भांडों की संस्कृति के अवशेष मिले हैं। 'गेरुए भांड' संस्कृति का काफी विस्तार मिला है और उसे ताम्र-निधानों से भी संबद्ध किया गया है। रोपड़ और आलमगीर में सिंधु सभ्यता के बाद कुछ अंतराल से चित्रित धूसर भाण्ड संस्कृति मिली है। इन संस्कृतियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

हड़प्पा में सिंधु सभ्यता के कब्रिस्तान से भिन्न एक और कब्रिस्तान मिला है जिसे 'एच' कब्रिस्तान संस्कृति नाम दिया गया है। इस संस्कृति के धारकों के विषय में अधिक जानकारी नहीं; ज्ञात सामग्री कब्रों में प्राप्त वस्तुओं और शवों तक ही सीमित है। इस तरह के मृद्भाण्ड पहले केवल बहावलपुर के दो स्थानों पर ही प्राप्त हुए थे किंतु अब छिटपुट रूप से ऐसे मृद्भाण्ड पंजाब में रोपड़, बाड़ा, संघोल इत्यादि कई स्थानों में पाये गये हैं। सहारनपुर जिले के आंबखेड़ी और बड़ागांव के अवशेषों में कुछ उस तरह के बर्तनों के प्रकार उपलब्ध हैं। सांकलिया के अनुसार बीकानेर और मध्यभारत में भी इस तरह के बर्तन मिले हैं।

इस कब्रिस्तान के दो स्तर थे। 'स्तर दो' पहले का तथा 'स्तर एक' बाद का है। शायद इन स्तरों के बीच समय का अधिक अन्तर नहीं रहा। निचले स्तर [दो] में शवों को 2.±38 मीटर नीचे पाया गया है। शवों को पूरा लिटा कर दफनाया गया था। सामान्य तौर पर शव को पूर्व से पश्चिम या उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम लिटाया गया। प्रायः सभी उदाहरणों में मृतकों के साथ भोज्य सामग्री रखी गयी थी। एक कब्र में जीवित बकरी रख दी गयी थी। दो कब्रों को छोड़कर सभी में मिट्टी के बर्तन मिले। एक नारी कंकाल के हाथ में सोने की एक चूड़ी थी। एक शव के तीन दांत सोने के तार से बंधे मिले, और उसके साथ कुछ मृद्भाण्ड भी मिले। सांकलिया ने इस संस्कृति के विशिष्ट बर्तनों में

प्याले, आधार विहीन तश्तरी, 'फ्लास्क' तथा चपटे ढक्कनों की गणना की है। गुहा के अनुसार दूसरे स्तर के कंकाल दीर्घशिरस्कों के हैं; यह बात सिंधु सभ्यता के कई शव-कंकालों पर भी लागू होती है।

कब्रिस्तान एच के ऊपरी स्तर के शव .51 मीटर से .91 मीटर की गहराई में थे। इनमें आंशिक शवोत्सर्ग किया गया। इस प्रकार की लगभग 140 समाधियां मिली हैं, जिनमें से लगभग एक दर्जन शव बच्चों के हैं। अस्थियों को मटके में रखने के बाद एक ढक्कन से उसे ढक दिया जाता था। ये मृद्भाण्ड अच्छी तरह पकाये गए हैं और लाल रंग के हैं। इन पर चमकीले रंग का लेप है।

इन मृद्भाण्डों पर तरह-तरह के चित्रण हैं। मुख्यतया इन पर पौधे, वृत्त, बिन्दु, सीधी तथा त्रिभुजाकार रेखायें चित्रित हैं। पशु-आकृतियों में बकरी, मोर और मछली विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ मृद्भाण्डों पर ऐसे दृश्य चित्रित हैं जिनका संबंध धार्मिक कथानक से हो सकता है। एक में तो मोरों की पंक्ति, नक्षत्र या सूर्य तथा वृत्त के अन्दर मानवाकृति है। एक अन्य बर्तन पर मोर तथा बड़े सींगवाली बकरी चित्रित है।

एक मृद्भाण्ड बड़े महत्त्व का लगता है जिस पर एक कथानक का क्रमिक चित्रण है। सर्वप्रथम इसमें दो मोर चित्रित हैं जिनके बाद एक मनुष्य दो गायों को पकड़े खड़ा है। उसके समीप ही एक कुत्ता है। तत्पश्चात् एक विशिष्ट आकृति का सांड है जिसके सींगों पर सात त्रिशूल की सी आकृतियां बनी हैं जो ध्वज हो सकते हैं। एक अन्य व्यक्ति दो गायों (या बैलों) तथा एक ध्वज के साथ चित्रित है। इस संपूर्ण चित्रण की पृष्ठभूमि छोटे-छोटे चिह्नों, पत्तियों और टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से भरी है। इस चित्रण का अर्थ क्या है यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। ऋग्वेद के 10वें मंडल में शवविसर्जन संबंधी कुछ सूत्रों की ओर वत्स ने ध्यान दिलाया है। उनके अनुसार इन सूत्रों के संदर्भ में कुत्ते यम के दूत हो सकते हैं, त्रिशूल आदि के साथ दिखाये गये पशु स्वर्ग के द्योतक, और बकरी मृतक के लिए दिशा खोजने वाली। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि उक्त मंडल में शव दाह का उल्लेख है न कि आंशिक मृद्भाण्ड-शव-विसर्जन का और इसलिए यह मानना होगा कि समानता केवल ऊपरी है।

'एच' कब्रिस्तान की मृद्भाण्डों पर अंकित पशुओं की आकृतियों तथा दृश्यांकन की थोड़ी सी समानता कुल्ली संस्कृति के पशु अंकनों में भी उपलब्ध

हैं। वैसे इन भाण्डों की कुछ विशेषताएं सुमेरी मृद्भाण्डों में भी प्राप्त हैं। इस संस्कृति के बर्तनों का रंगपुर के चमकदार लाल रंग वाले बर्तनों से भी किंचित साम्य उल्लेख्य है।

वत्स, जिन्होंने यहाँ पर खुदाई करायी थी, की यह धारणा थी कि उक्त मृद्भाण्ड सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण के समकालीन हैं और ये दोनों संस्कृतियां किंचित काल तक साथ-साथ चलती रहीं। उनका यह भी मत है कि कब्रिस्तान 'एच' संस्कृति में कुछ विदेशी तत्त्व भी हैं। गार्डन चाइल्ड का अनुगमन करते हुए व्हीलर ने इस संस्कृति के लोगों की पहचान आर्यों से करने का सुझाव दिया। उनके अनुसार इस संस्कृति के धारकों का सिंधु सभ्यता के विनाश में योगदान रहा। किंतु ब्रजवासी लाल ने निर्दिष्ट किया कि व्हीलर द्वारा 1946 में हड़प्पा में कराये गये उत्खननों से एच समाधि संस्कृति तथा सिंधु सभ्यता का परस्पर संपर्क नहीं प्रमाणित होता है। एच-कब्रिस्तान संस्कृति और सैंधव आर-37 कब्रिस्तान को आच्छादित करने वाली तहें अलग-अलग हैं। सिंधु सभ्यता और एच-समाधि की तह के मध्य लगभग 4 फीट मोटाई की तह का अंतर रहा। इन दोनों संस्कृतियों का परस्पर साक्षात्कार ही नहीं हुआ। अतः लाल ने बताया कि इस संस्कृति के लोगों को विजेता कैसे स्वीकार किया जा सकता है जबकि उस समय जिन्हें (सिंधु सभ्यता के लोगों को) विजित माना गया है उनका उस स्थल पर अस्तित्व ही नहीं रह गया था।

लाल का दूसरा तर्क यह है कि इस संस्कृति के अवशेष सरस्वती एवं गंगा-यमुना दोआब में नहीं मिले हैं, जबकि वह क्षेत्र आर्यों की प्रमुख निवास भूमि रही। केवल बहावलपुर के दो स्थलों से ही इस संस्कृति के पात्र उपलब्ध हुए हैं जबकि आर्यों का विस्तार कहीं अधिक विस्तृत भूभाग पर था। जब लाल ने यह तर्क दिया था तब तो स्थिति ऐसी ही थी, लेकिन अब यह तर्क उतना प्रभावशाली नहीं रहा क्योंकि, जैसा ऊपर कहा गया है, इस तरह के भाण्डों से मिलते-जुलते भाण्ड कुछ अन्य स्थलों से प्राप्त हो चुके हैं।

लाल का तीसरा तर्क यह है कि कतिपय विद्वानों का मत है कि इंडो-आर्य संस्कृति के जन्मदाता उत्तरी स्टैप्स के निवासी थे। उनका सिर बड़ा होता था। किंतु इन समाधियों में जो अस्थिपंजर उपलब्ध हैं उनमें उत्तरी स्टेपी लोगों की विशेषतायें नहीं हैं।

आल्चिन युगल के अनुसार सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक मृद्भाण्डों तथा एच कब्रिस्तान के मृद्भाण्डों के बीच उतना अंतर नहीं है जितना कि माना

जाता है। यह सच है कि भाण्डों के कुछ प्रकार और डिजाइन सिंधु सभ्यता की परंपरा से भिन्न हैं, किंतु दूसरी ओर मृद्भाण्डों पर लाल लेप और काले रंग से अभिप्रायों की चित्रण विधा सिंधु सभ्यता और नवागंतुकों के कुम्हारों की कला में सामंजस्य स्थापित हो गया था। आल्चिन द्वय का कहना है कि चूंकि कब्रिस्तान-एच के मृद्भाण्ड टेपे गियान (स्तर III, II) और जमशिदी II के काफी समान हैं अतः कब्रिस्तान-एच की तिथि 1750 ई.पू. के बीच होनी चाहिए। जहां तक 'स्तर एक' और 'स्तर दो' की संस्कृतियों का संबंध है, दोनों की शव-विसर्जन की पद्धति में पर्याप्त अन्तर है। फिर भी व्हीलर, सांकलिया आदि विद्वान मानते हैं कि दोनों के मृद्भाण्डों में इतनी समानता है कि इन्हें एक ही संस्कृति का मानना चाहिये और जो मृद्भाण्डों में भिन्नता है वह कार्यात्मक है सांस्कृतिक नहीं। 'स्तर I' के भाण्ड शवों को रखने के लिए थे जबकि 'स्तर 2' के भाण्ड शवों के साथ रखी सामग्री के रूप में हैं। सांकलिया ने एच-कब्रिस्तान और सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों का तुलनात्मक अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला है कि जो कुछ साक्ष्य अद्यतन उपलब्ध हैं उनसे यह नहीं लगता कि 'एच-कब्रिस्तान' की संस्कृति वाले लोग सिंधु सभ्यता के लोगों से विशेष भिन्न थे।

चन्हुदड़ो में सिंधु संस्कृति कालीन भग्नावशेषों को जिन लोगों ने अपना आवास योग्य स्थान चुना वे झूकर संस्कृति के लोग थे। इस संस्कृति के अवशेष 1928 में सिंध के लरकाना से 6 मील दूर झूकर नामक स्थान पर सर्वप्रथम मिले थे। चन्हुदड़ो में आकर ये लोग वहीं की पुरानी ईटों को लेकर और पुराने खंडहरों का जीर्णोद्धार कर रहने लगे थे। वे सांस्कृतिक दृष्टि से हड़प्पा-संस्कृति से भिन्न थे। यह भिन्नता उनके द्वारा बनाये गये मृद्भाण्डों में भी देखने को मिलती है। इस संस्कृति के भाण्डों के अलंकरण बलूचिस्तान, हड़प्पा-संस्कृति और मेसोपोटामिया की संस्कृतियों के अधिक निकट है। उदाहरण के लिए दौड़ती हुई लंबे सींगवाली बकरी का चित्रण बलूचिस्तान के पेरियानी घुंडई और मटकों तथा तश्तरियों पर कमल पुष्प जैसा अलंकरण दक्षिणी बलूचिस्तान के जारी-दब के एक मृद्भाण्ड खंड पर प्राप्त है। बड़े-बड़े मटके, साधारण तश्तरियां, प्याले सदृश मटके मिले हैं जिनके घुंडीदार हत्थे और पालिशदार लेप सिंधु सभ्यता के मृद्भाण्डों के अनुरूप हैं। बर्तनों का साम्य केवल प्रकार तक ही सीमित है,. उनकी बनावट, अलंकरण और आकार में काफी भिन्नता है। पीपल-पत्र अलंकरण जो हड़प्पा संस्कृति में लोकप्रिय था उसका झूकर संस्कृति में अभाव है। झूकर संस्कृति के बर्तनों पर चित्रित कुछ अभिप्राय आमरी संस्कृति के

अभिप्रायों से समानता रखते हैं। इनमें लाल रंग की मोटी रेखाओं से बनाये तुल्य चतुर्भुज, सनाल पुष्प, लटकन जैसे अभिप्राय सम्मिलित हैं। यों मेसोपोटामिया के टेल हलफ और झूकर संस्कृति के बर्तनों में आकार-प्रकार में कोई समानता नहीं हैं, लेकिन कुछ अभिप्रायों में समानता है; जैसे मोटी लाल रंग की रेखाओं का क्षैतिजीय विभाजन, चेक, टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं, तुल्य चतुर्भुज, समतल लंबवत छाया जो सबसे पहले मेसोपोटामिया के बर्तनों पर ही मिलती हैं।

झूकर संस्कृति के मृद्भाण्ड कुछ अन्य संस्कृतियों के मृद्भाण्डों से भी थोड़े बहुत मिलते-जुलते हैं लेकिन इसे किसी संस्कृति विशेष से संबद्ध करना कठिन है। मैलोवन का विचार है कि टेल हलफ प्रकार के मृद्भाण्डों (जिसका उद्भव सीरिया में हुआ था) के निर्माता घुमक्कड़ थे और उनका संपर्क भारतीयों तथा बलूचियों के साथ हुआ। झूकर संस्कृति के अवशेषों से कुछ पत्थर की मुद्राएं भी प्राप्त हुईं हैं जिनमें से दो छेद युक्त हैं। इन्हें मकाइ ने सिंधु संस्कृति के प्रभाव का द्योतक माना है। इन पर अभिप्राय के तौर पर मोर, मानव, पशु, हरिण, लम्बे सींगवाली बकरी, संयुक्त पशु और दो बैलों की आकृतियां हैं। ये सिंधु संस्कृति की मुद्राओं पर अंकित अभिप्रायों से भिन्न हैं। इनकी बनावट शाही तम्प और एलम कैम्पेडोशिया की मुद्राओं के समान हैं। इसके अतिरिक्त चन्हुदड़ों से प्राप्त हत्थे के लिए छिद्रवाली कुल्हाड़ी के समान कुल्हाड़ियों के उदाहरण पश्चिमी एशियायी देशों में ही प्राप्त हैं।

चन्हुदड़ो में झूकर के बाद झांगर संस्कृति वालों ने अपना निवास स्थान बनाया। इस संस्कृति के सर्वप्रथम अवशेष चन्हुदड़ो से उत्तर-पूर्व लगभग 43 मील दूर झांगर नामक स्थान से पाये गये थे। इस संस्कृति के अवशेषों के साथ रंगीन मृद्भाण्ड नहीं पाया गया है। उनके कुछ मृद्भाण्डों पर चाकलेट क्रीम या हल्के लाल रंग का लेप मिलता है। कुछ जुड़वा भाण्ड भी मिले हैं जिनके सादृश्य हमें बलूचिस्तान के लाल रंग के मृद्भाण्डों पर प्राप्त हैं। काजल (?) के लिये प्रयुक्त बर्तनों को छोड़कर प्रायः सभी बर्तन धीरे-धीरे चलते हुए चाक पर बनाये गये थे। इन पर रेखांकन मिलता है। झांगर संस्कृति के अन्य उपादानों के विषय में जानकारी नहीं है। शायद वे लोग झोपड़ियों में रहते थे। मकाइ ने झांगर संस्कृति के भील जैसे आदिवासी लोगों की संस्कृति होने की सम्भावना बतायी है।

इधर काठियावाड़ और कच्छ के क्षेत्र में सिंधु संस्कृति के आकस्मिक अन्त का कोई प्रभाव नहीं है। अपितु वहां के निवासियों ने सिंधु संस्कृति के ही

तत्त्वों को नया रूप और रंग देकर एक नयी परंपरा का प्रारंभ किया। अब वे चमकीले लाल भाण्डों का निर्माण करने लगे थे। पहले चरण में इनका अल्प मात्रा में निर्माण हुआ, बाद के चरण (II C) में वह विशाल पैमाने पर बनने लगे। प्याले, तश्तरियां और मटके की आकृतियां कुछ बदली बनायी गयीं। और चित्रण बर्तनों के ऊपरी भाग में सीमित हो गया। चित्रणों में सीढ़ी, त्रिअरीय डिजाइन, प्रतिच्छेदी लटकन, छाया किये हीरक, अपुष्पपर्ण, तिरछी और लहरीय रेखाओं के साथ कुछ पौधों को वरीयता दी गयी।

सावार प्याले और तश्तरियां राजस्थान के आहाड़ II में प्राप्त इस तरह के भाण्डों के समान हैं। उल्लेख्य है कि इस तरह के प्याले और तश्तरियां रोपड़ तथा हड़प्पा (आर-37) की समाधियों से भी उपलब्ध हैं। प्यालों और तश्तरियों को तिर्यक, लहरिया, सीढ़ीनुमा, अभिप्रायों से अलंकृत किया गया। 'काले और लाल' मृद्‌भाण्ड, जो इससे पहले चरण में बहुत थोड़ी संख्या में मिले थे, इस चरण में काफी संख्या में पाए गए।

चमकीले लाल मृद्‌भाण्ड के साथ मनके, मण्मूर्तियां और लघुपाषाण उपकरण भी मिले हैं। कांचली मिट्टी और सेलखड़ी के मनकों का स्थान मिट्टी के मनकों ने ले लिया था जो इस संस्कृति के लोगों की बिगड़ी आर्थिक दशा का द्योतक हो सकता हैं मृण्मूर्तियों में लोथल के एक घोड़े (चरण III) की आकृति का मिलना विशेष महत्त्वपूर्ण है। अब घर कच्ची मिट्टी से बनाये जाने लगे थे। नालियों को योजनाबद्ध रूप से बनाना और फर्श का ईटों द्वारा निर्माण अब अतीत की बातें रह गईं थीं।

लोथल और रंगपुर के अतिरिक्त सोमनाथ के निकट हिरण्या नदी के तट पर प्रभाव तथा राजकोट के समीप भादर नदी के तट पर रोपदी की खुदाइयों से भी हड़प्पा संस्कृति के बाद की सामग्री उपलब्ध हुई है। प्रभास II के मृद्‌भाण्डों में क्रमिक ह्रास दिखलायी देता है। वहाँ से उपलब्ध प्यालों पर फलकों में चित्रण हैं जो मालवा संस्कृति के साथ सम्पर्क होने का परिचायक है। रोजदी में निम्नतम स्तरों में तो हड़प्पा संस्कृति की विशेषताएं रहीं। किंतु आगे चलकर अंतिम स्तर में चमकीले लाल भाण्ड के साथ सफेद चित्रित 'काले और लाल भाण्ड' का प्रसार हुआ।

बाड़ा (पंजाब) में प्राप्त अवशेष उत्तर हड़प्पा कालीन हैं। पिछले वर्षों में यहाँ पुनः उत्खनन कराने और अन्य स्थानों से प्राप्त सामग्री का समकालिक अध्ययन करने से शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बाड़ा संस्कृति में कुछ तत्त्व

प्राग् हड़प्पा संस्कृति की परंपरा में हैं, जिसके सादृश्य के रूप हड़प्पा संस्कृति के नागरिक जीवन के साथ-साथ चलती रही और कालान्तर में सिंधु सभ्यता के विशृंखलित होने के बाद इस संस्कृति में सिंधु सभ्यता के तत्त्व भी आत्मसात हो गये, जैसे बर्तनों के कुछ आकार-प्रकार और चित्रित अभिप्राय।

बड़गांव और आंबखेड़ी, जिनका परीक्षात्मक उत्खनन कराने का श्रेय मधुसूदन नरहर देशपान्डे को है, से गेरुए मृद्भाण्ड मिले। साथ ही कुछ मृद्भाण्डों में हड़प्पा संस्कृति के अंतिम प्रकाल की तथा कुछ 'कब्रिस्तान एच' और झूकर संस्कृति के मृद्भाण्डों की विशेषतायें भी देखी गयी हैं। बड़गांव के निम्नतम स्तर में अलंकरण की विविधता से युक्त मृद्भाण्ड खंड मिले हैं जिन्हें साधारण तौर पर ग्रीवा से मोटी रेखाओं द्वारा चित्रित किया गया था। यहां के ऊपरी स्तरों से बर्तनों में आंबखेड़ी से साधार प्याले, मुड़े हुए किनारे वाले छिछले पात्र, छोटे प्याले और बर्तन, रस्सी के निशान के तरह के अभिप्राय वाले भाण्ड और फैले किनारे वाले पात्र पाये गये हैं। मृण्मय कूबड़ा बैल और कुछ मृत्पिंड (केक) की प्राप्ति सिंधु सभ्यता की निकटता के द्योतक हैं। उत्खननों में ताम्र निर्मित कोई वस्तु नहीं पायी गयी है। कुछ चर्ट फलक अवश्य मिले हैं। आंबखेड़ी के निवासी ईटें बनाना व पकाना जानते थे। उन्होंने इनसे चूल्हे तो बनाये किंतु मकान नहीं।

उत्खनन के निदेशक देशपाण्डे का विचार है कि बड़गांव की वस्तुएं हड़प्पा संस्कृति के अंतिम प्रकाल की तथा आंबखेड़ी की ह्रासोन्मुख सिंधु संस्कृति की परिचायक लगती हैं। उत्खननों से कुछ अनगढ़ लाल भाण्ड पाये गये हैं जिन पर उभारदार लहरिया अलंकरण हैं। इससे मिलता-जुलता अलंकरण परवर्ती कालीन कुछ चित्रित धूसर भाण्डों पर भी देखा गया है।

सिंधु सभ्यता के बाद की संस्कृतियों में गेरुए मृद्भाण्ड संस्कृति का कम महत्त्व नहीं है। ये भाण्ड कुछ विद्वानों के अनुसार दीर्घ काल तक जलमग्न अवस्था में रहने के फलस्वरूप बहुत जीर्ण-शीर्ण दशा में मिले हैं। यह लगभग 1,35,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में पाये जा चुके हैं। यह हरियाणा, पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में मिले हैं। उत्तर प्रदेश में ऐसे मृद्भाण्ड बहादराबाद, आंबखेड़ी और बड़गांव, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा तथा अतरजीखेड़ा के उत्खननों से भी प्राप्त हुए हैं। कुछ स्थलों पर वे लोग लौह युग के प्रारंभिक काल की चित्रित धूसर-भाण्ड के प्रयोग करने वाली संस्कृति के नीचे कुछ अंतर के साथ पाये गये हैं। बहादराबाद में गंगा नहर की खुदाई के दौरान एक ताम्रोपकरण

निधान की प्राप्ति हुई थी। यह जानने के लिए कि इनके साथ और कौन-कौन सी भौतिक सामग्री संबंधित है वहाँ पर एक परीक्षात्मक उत्खनन किया गया। इस उत्खनन में गेरुए रंग के मृद्भाण्ड उपलब्ध हुए। राजपुर पार्शू (कानपुर जिले में), जहां पर पहले एक ताम्र निधि पायी जा चुकी थी के उत्खननों में ऐसे ही प्रमाण मिले हैं। अब संपाई की खुदाई से ताम्रोपकरण निधान के कुछ उपकरण और गेरुए रंग के मृद्भाण्डों के एक साथ मिलने से दोनों का एक ही संस्कृति के होने की संभावना बढ़ी है। हस्तिनापुर और कुछ अन्य स्थलों में ये भाण्ड चित्रित धूसर-भाण्ड से नीचे (पहले) के स्तरों में मिले हैं।

निधानों में प्राप्त ताम्र उपकरण निम्नलिखित हैं– चपटी कुल्हाड़ियां, लम्बी कुल्हाड़ियां, 'कंधे' वाली कुल्हाड़ियां, फैली मूंटवाली तलवार, हारपून, छल्ले और मानवाकृति। इनमें से लम्बी कुल्हाड़ियां और चपटी कुल्हाड़ियां सिंधु सभ्यता में भी मिलती हैं। उपर्युक्त उपकरणों के प्राप्ति स्थानों का क्षेत्र काफी व्यापक है। अब तक के साक्ष्यों के अनुसार यह पंजाब, राजस्थान, गंगा-यमुना की घाटी, बिहार, उड़ीसा और हैदराबाद के क्षेत्र में विभिन्न स्थलों में उपलब्ध हो चुके हैं।

हाइने गेल्डेर्न का विचार था कि यह उन आर्यों के आगमन के सूचक हैं जो काकेशस और पश्चिमी ईरान से लगभग 1200-1000 ई. पू. में भारत आये। उनके मत का आधार पंजाब और पश्चिमी एशिया के ताम्रोपकरणों में समानता मानना था। प्रारंभ में स्टुअर्ट पिगट ने इसी मत को स्वीकार किया था किंतु आगे चलकर उन्होंने अपनी धारणा बदल दी और यह सुझाव दिया कि ये हड़प्पा-संस्कृति के उन विस्थापित लोगों के चिह्न हैं जिन्होंने पश्चिम की ओर से हुए आक्रमणों से बचने के लिए पूर्व की ओर से गंगा घाटी में आश्रय लिया। राव भी इन्हें ह्रासोन्मुख सिन्धु सभ्यता के लोगों की कृतियां मानते हैं। मिर्जापुर की एक प्रागैतिहासिक गुफा में गैंडे के शिकार के दृश्य में कांटेदार हारपून के चित्रण के आधार पर ब्रजवासी लाल ने यह मत व्यक्त किया है कि इन ताम्र उपकरणों के निर्माता मुण्ड आदिवासी थे जिनका विस्तार किसी समय उत्तरी भारत के विस्तृत क्षेत्र में था। स्वराज्य प्रसाद गुप्त भी इन्हें मुण्ड जाति की कृति मानते हैं। उनका सुझाव है कि ताम्रोपकरण निधान के उपकरणों का निर्माण बिहार में हुआ जहाँ पर ताम्र की खदाने भी थीं। सर्वप्रथम साधारण किस्म के औजार कुल्हाड़ियां आदि बनायी गयीं तत्पश्चात इन्हीं से गंगा-घाटी में विकसित औजारों का निर्माण हुआ। 'मानवाकृति' उपकरण इसी वर्ष में रखा जा सकता है।

इस संदर्भ में खुर्दी (राजस्थान में नागौर जिले में) के ताम्रोपकरण निधान

का उल्लेख करना असंगत न होगा जिसमें कुछ आकर्षक नालीदार प्याले प्राप्त हैं। इस तरह के मृण्मय तथा धातु निर्मित प्याले ईरान के गियान-प्रथम और सियाल्क (नेक्रोपोलिस 'बी') में विशेष लोकप्रिय थे। ताम्रोपकरण निधान के लोगों का सम्पर्क मध्य भारतीय ताम्राश्म संस्कृति के साथ भी हुआ था। कुछ चपटी कुल्हाड़ियां नाबडाटोली के उत्खनन में मिलीं थीं। सांकलिया का विचार है कि इनका सम्बन्ध पुलिंद जाति से रहा होगा क्योंकि यह क्षेत्र प्राचीन काल से इस जाति का कार्यस्थल रहा है। किंतु इन कुल्हाड़ियों पर वृत्ताकार छिछले गर्त मिले हैं जो ताम्र निधान की कुल्हाड़ियों पर भी मिले हैं। इसे ताम्रनिधि संस्कृति एवं मध्य भारत की ताम्र-पाषाण संस्कृति के मध्य सम्पर्क का द्योतक मानना युक्तिसंगत लगता है। मीताथल (हरियाणा) में भी अंतिम हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में ताम्र-संचय के उपकरण मिले हैं, और चांदोली से मध्य-भारतीय ताम्राश्म संस्कृति के संदर्भ में। जैसा की ऊपर कहा जा चुका है, कुछ विद्वान गेरुए मृद्भाण्ड को ह्रासोन्मुखी सिंधु सभ्यता के लोगों की कृति मानते हैं किंतु अभी तक ऐसा कोई स्थल ज्ञात नहीं है जहाँ पर सिंधु और गेरुए मृद्भाण्ड संस्कृतियों के बीच की निश्चित कड़ी मिली हो। हस्तिनापुर में लाल ने गेरुए भाण्ड की तिथि 1200 ई. पू. आंकी थी। ताम्रोपकरण समूह की मानवाकृति से बहुत मिलता-जुलता उपकरण लोथल में उपलब्ध हुआ जिसकी तिथि लगभग 1900 ई. पू. आंकी गयी है। अभी हाल ही में अतरंजीखेड़ा, लालकिला, झिंझन तथा नसीरपुर से कुछ मृद्भाण्ड खण्डों को लेकर तापसंदीपनी विधि से तिथिकरण किया गया है। अधिकांश तिथियां 2000 ई. पू. के पहले पड़ी हैं, तीन तिथियां 2000 ई. पू. से 1500 के बीच की तथा दो 1500 ई. पू. के बाद की हैं।

दोपड़ और आलमगीर में सिंधु सभ्यता के बाद जो नवागंतुक आये वे लौह के प्रयोग से परिचित थे और एक विशिष्ट प्रकार के भाण्ड– 'चित्रित धूसर-भाण्ड' का प्रयोग करते थे। इनकी सर्वप्रथम उपलब्धि अहिच्छत्रा के सन् 1941-44 के उत्खननों में हुई थी। ब्रजवासी लाल को हस्तिनापुर (जिला मेरठ) की खुदाइयों में इस प्रकार के भाण्ड गेरुए रंग के पात्रों के बाद कुछ अंतर से, और काले ओपदार उत्तर भाण्ड के स्तरों के नीचे मिले थे। अब तक इनकी प्राप्ति पानीपत, इन्द्रप्रस्थ, तिलपत, सोनपत, बैराट, नोह, कौशाम्बी, श्रावस्ती इत्यादि कई अन्य स्थलों में हो चुकी है। उज्जैन में भी सर्वेक्षण के दौरान सतह से अत्यल्प संख्या में इस तरह के मृद्भाण्ड खंड प्राप्त हुए हैं। इनके कई प्राप्ति

स्थल ऐसे हैं जिनका महाभारत में उल्लेख है। लाल ने हस्तिनापुर के उत्खननों से प्राप्त धूसर-भाण्ड की तिथि 1100-800 ई. पू. निर्धारित की थी। इधर कुछ स्थानों के उत्खननों से कार्बन तिथियां ज्ञात हुई हैं। अतरंजीखेड़ा (जिला एटा) में इस संस्कृति के प्रारंभिक स्तर की तिथि 1025 ± 110 ई. पू. और अंतिम स्तर की 535 ई. पू. पायी गई है। नोह (भरतपुर) की कार्बन-14 तिथि 821 से 604 ई.पू. के बीच और अहिच्छत्रा की 475 ई.पू. ज्ञात हुई है। विभिन्न कार्बन-14 तिथियों का परीक्षण कर अब कुछ पुरातत्त्ववेत्ता इस संस्कृति का प्रारंभ लगभग 800 ई.पू. मानने के पक्ष में हैं। चित्रित धूसर-भाण्ड का निर्माण विशुद्ध और अच्छी तरह घुटी हुई मिट्टी द्वारा किया गया था। ये ऐसे बंद भट्ठों में पकाये गये थे जिनमें ताप को शनैः-शनैः कम करने की व्यवस्था थी। बर्तनों में प्रमुखतया छिछली और गहरी तश्तरियाँ और कटोरे मिले हैं इन पर काले रंग से स्वस्तिक, वृत्त, बिन्दु, लहरदार रेखाओं आदि का ज्यामितीय अलंकरण मिलता है। इस संस्कृति के संदर्भ में लोहे के बाणाग्र, छेददार, चूल, और भाले के फल मिले हैं। नोह से कुल्हाड़ियां भी मिली हैं। पत्थर के उपकरण नहीं मिले। तांबे की वस्तुओं में बाणाग्र, पिन और अंजनशलाकाएं उल्लेखनीय हैं। शीशे के मनके और चूड़ियां भी मिली थीं। कुछ वस्तुओं की पहचान खेल की गोटी से की गयी है। विस्तृत खुदाई के अभाव में आवास व्यवस्था की विशेष जानकारी नहीं, किन्तु इतना स्पष्ट है कि भवन मिट्टी और लकड़ी से बने थे। अन्नों में चावल से वे भी परिचित थे। भोजन में मांस का प्रयोग भी प्रचलित था। खिलौने गाड़ियों से आवागमन के लिए पहियों वाली गाड़ी का प्रयोग होने का अनुमान लगा सकते हैं।

हस्तिनापुर-उत्खनन के निदेशक लाल ने चित्रित धूसरभाण्ड का आर्य संस्कृति का परिचायक होने की संभावना व्यक्त की थी। इस भाण्ड से कुछ मिलते-जुलते भाण्ड सिसली, शाही तम्प (बलूचिस्तान) और हाल में ही ज्ञात गंधार प्रदेश 'गंधार-कब्रिस्तान संस्कृति' के संदर्भ में मिले हैं। लेकिन इस संस्कृति के धारकों के बारे में निश्चित धारणा बनाने से पूर्व विस्तृत सर्वेक्षण एवं उत्खनन की अपेक्षा है।

हाल ही में पंजाब तथा हरियाणा में किये गये पुरातात्त्विक उत्खननों से सिंधु सभ्यता के अंतिम चरण तथा चित्रित धूसर-भाण्ड की समकालीनता पर प्रकाश पड़ा है। उन स्थलों में जिनमें इस तरह का साक्ष्य मिला है भगवानपुरा (जिला कुरुक्षेत्र, हरियाणा) में 1975-76 में की गई खुदाइयाँ, नगर (जिला

जलंधर, पंजाब) में 1976-77 में की गयी खुदाइयां तथा दधेड़ी (जिला लुधियाना, पंजाब) में की गई खुदाइयां विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भगवानपुरा में प्रथम काल का प्रथम चरण तो सिंधु संस्कृति का है किन्तु इसके दूसरे चरण में सिंधु सभ्यता के उपकरणों के साथ ही चित्रित धूसरभाण्ड प्राप्त हुये हैं। नगर के उत्खनन में प्रथम प्रकाल के संदर्भ में प्रारंभ से ही सिंधु सभ्यता के उपकरण और चित्रित धूसरभाण्ड साथ-साथ मिले। दधेड़ी में भगवानपुरी के समान ही प्रथम काल के प्रथम चरण में तो परवर्ती सिंधु सभ्यता के उपकरण मिले किन्तु इसी के दूसरे चरण में सिंधु सभ्यता के अवशेषों के साथ 'चित्रित धूसरभाण्ड' प्राप्त हुए। अब 'चित्रित धूसर भाण्डों' को आर्य सस्कृति को मानने के लिए कुछ और बल मिला है और सिंधु सभ्यता और परवर्ती चित्रित धूसरभाण्ड संस्कृति के मध्य जो काल व्यवधान माना जाता था वह अब मिटता हुआ लगता है। अब हम सिंधु सभ्यता के कुछ तत्त्वों को परवर्ती भारतीय संस्कृति में पाये जाने को अधि क आसानी से समझ सकते हैं।

●●●

संदर्भ ग्रन्थ और निबंध सूची

— Agarwal, D.P., *The Copper Bronze Age in India,* New Delhi : Munshiram Manoharlal, 1971.

— Agarwal, D.P. and A. Bhosh eds., *Radio Carbon and Indian Archaeology,* Bombay : Tata Institute of Fundamental Research, 1973.

— Agarwal, D.P. and D.K. Chakarabarti, eds., *Essays in Indian Protohistory,* Delhi; B.R. Publishing House, 1979.

— अग्रवाल, धर्मपाल तथा पन्नालाल अग्रवाल, भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व, लखनऊ, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1975.

— Allchin F.R., Dilmun and the Gulf of Cambay, *Antiquity,* Vol. 43, pp. 315-37.

— Allchin, Bridget and F.R. Allchin, *The Birth of Indian Civilization,* Harmondsworth, Midalesex : Penguin, 1968.

— *The Rise of Civilization in India and Pakistan, Cambridge University Press, 1982.*

— Allchin, F.R. and Joshi, J.P., Malvan-Further Light on the Southern Extension of Indus Civilization, *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland,* Vol. 1, pt 2, pp. 20-28.

— Aravamuthan, T.G. *Some Aspects of the Harappan Culture,* Bombay, Karnatak Publishing House. 1972.

— Asthana, Shashi Prabha, *History and Archaeology of India's Contacts with Other Countries from Earliest Times to 300 B.C.,* New Delhi 1975.

— Bose N., et. al., Human Skeletal Remains from Harappa, *Memoirs of the Anthropological Survey of India,* No. 9, 1962.

— Buchanan, B.A Dated, Seal Impression Connecting Babylonia and Ancient India, *Archaeology,* Vol. 20, pp. 104-17.

— Buddha Prakash, *Regveda and the Indus Valley Civilization,* Hoshiarpur, Vishveshvaranand Institute, 1966.

— Burrow, T, Dravidian and the Decipherment of the Indus Script, *Antiquity*, Vol. 43; 374-278, 1969.

— Chakrabarti, D.K. Harappan Chronology, *Journal of Ancient Indian History*, Vol. 1, nos 1-2 pp. 78-82, 1967-68.

— Gujrat Harappan Connections with the West Africa, *Jonrnal of the Economic and Social History of the Orient, Leiden*, Vol. 18 pt 3. pp 337-42. 1975.

— Chanda, Ram Prasad, *The Indus Valley in the Vedic Period, Memoirs of the Archaeological Survey of India*, New Delhi, no. 31, 1926.

— *Survival of the Prehistoric Civilization of the Indus Valley, Memoirs of the Arhaeological Survey of India*, New Delhi, no. 41, 1929.

— Childe, V.G., *New Light on the Most Ancient East*, Reviseded. New York, 1958.

— Dales G.F., The Role of Natural Forces in the Indus Valley and Baluchistan, *Anthropological Papers, University of Utah*, Vol. 62, pp 230-40, 1962.

— Harappa Outposts on the Makran Coast, *Antiquity*, Vol. 36, pp. 86-92, 1962.

— A Search for Ancient Seaports, *Expedition*, Vol. 4, no. 2, pp 2-10, 1962.

— The Mythical Massacre of Mohenjodaro, *Expedition*, Vol. 6 no. 3, pp 36-43, 1964.

— A suggested Chronology for Afghanistan, Baluchistan, and the Indus Valley. *In Chronologies in World Archoeology*, R.W. Enrich, ed, Chicago Press, pp 257-84, 1965.

— New Investigations at Mohenjodaro, *Archaeology*, Vol. 18. pp. 145-50, 1965.

— Civilizations and Floods in the Indus Valley, *Expedition*, Vol. 7, no. 2, pp. 10-9, 1965.

— The Decline of the Harappans, *Scientific American*, Vol. 214, no. 5, pp. 93-100, 1966.

— Fxcavation at Balakot, Pakistan, 1973, *Journal of Field Archaeology* Vol. 1, no. 1/2, pp. 3-22, 1974.

— Dales G.F. and R.L. Raikes, The Mohenjodaro Floods : A Rajoinder. *American Anthropologist*, Vol. 70, pp. 957-61, 1968.

— Dandekar R.N., Some Aspects of the Indo-Mediterranean Contact, *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute,* Vol. 5, pts, 1-2. pp, 57-74, 1969.

— Dani A.H., Origins of the Bronze Age Cultures in the Indus Basin-Geographic Perspective, *Expedition,* Vol. 17, pt. 2, pp. 12-13, 1975.

— Dani, A.H. Hariyupiya in the Rigveda, *Varendra Research Society Monograph,* Vol. 8 pp. 17-24, 1950.

— Prehistoric Pakistan. In *Studies in Prehistory,* D. Sen and A.K. Ghosh, eds., Calcutta, Firms K.L. Mukhopadhyay pp. 17-76. 1966.

— Excavations in the Gomal Valley, *Ancient Pakistan,* Vol. 5. p. 1-177, 1970-71.

— *Indus Civilization, New Perspectives,* Quaid-i-Azam University, Islamabad, 1981.

— Datta, J.M. Demographic Notes on Harappan Skeletons *Human Skeletal Remain from Harappa, Anthropological Survey of India,* Memoir, no. 9, pp. 6-12-1962.

— Deshmukh, P.R., *Indas Civilization in the Rigveda,* Yeotmal, 1958.

— Dikshit K.N., *Prehistoric Civilization of the Indus Valley,* 2nd, ed., Madras, University of Madras, 1967.

— Fairservis, W.A. Jr. *The Roots of Ancient India,* 2nd ed., Chicago, 1975.

— Gadd, C.J., Seals of Ancient Indian style found at *Ur., Procecding of the British Academy,* London, Vol. 18 pp. 1-22.

— Gaur, R.C., The Ochre Coloured Pottery, A Reassessment of the Evidence, In *South Asian Archaeology,* 1973, J.E., Van Lohuizen de Leeuw and J.U.M. Ubaghs, eds., Leiden E.J. Brill pp. 53-62, 1974.

— Ghosh, A., The Rajputana Desert, Its Archaeological Aspect, *Bulletin of National Institute of Sciences of India,* Vol. 1, pp. 37-42.

— The Indus Civilization, Its Origins, Authors, Extent, and Chronology, In *Indian Prehistory,* 1964, V.N. Misra and M.S. Mate, eds., Poona, Deccan College. pp 133-36, 1965.

— Gordon, D.H. *The Prehistoric Background of Indian Culture,* Bombay, Bhulabhai Memorial Institute, 1958.

— Gupta S.P., Two Urbanisations in India, A Side Study in Their Social Structure, *Puratattva* no. 7, pp. 53-60, 1974.

— Origin of the form of Harappan Culture, A New Proposition, *Puratattva,* Vol. 141-46, 1978.

— *Disposal of Dead and Physical Type in Ancient India,* Delhi, 1972.

— Heine–Geldern, Robert von, The coming of the Aryans and the End of the Harappa Civilization, *Man,* Vol. 56, pp. 136-40, 1956.

— Heras, H., *Studies in Proto-Indo-Mediterranean Culture.* Bombay The Indian Historical Research Institute 1953.

— Hunter, G.R. Mohenjodaro Indus Epigraphy, *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland,* pp 456-503, 1932.

— The Script of Harappa and Mohenjodaro, and Its Connection with other Scipts. London, Kegan Paul, 1934.

— Jayaswal, K.P. Punchmarked Coins, A. Survival of the Indus Civilization, *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Irelond,* pp. 720 ff. 1935.

— Joshi, J.P., Comparative Stratigraphy of the Proto historic Cultures of the Indo-Pakistan Subcontinent. Lucknow, Ethno-graphic and Folk-Culture Society, 1963.

— Exploration in Kutch and Excavation of Surkotada and New Light on Harappan Migration, *Journal of the Oriental Institute of Baroda,* Vol. 22, Nos. 1-2, pp 93-144, 1972.

— Movement of Harappans in circa Third and Second Millennium B.C., *Man and Environment,* Vol. 5, pp. 64-68, 1981.

— Surkotada, A Chronological Assessment, *Puratattva,* no. 7, pp. 34-38, 1971.

— काली सतीशचन्द्र, सिंधु सभ्यता, इलाहाबाद, 1955.

— Khan, F.A. Excavation, at Kot Diji, *Pakistan Archaeology* Vol. 2, pp. 13-85, 1965.

— New Light on the Ancient Indus Valley, *Hemisphere,* Vol. 4, no. 6, pp. 8-5-1970.

— Knorozov, Yu. V., et. al, *Soviet Studies on the Horappan Scriptter* by H.C. Pande, H. Field and R.M. Laird eds, Coconut Grove : Field Research Projects, 1969.

— Koskeniemi, Si. A, Parpola and S. Parpola, A Method to Classify Characters of Unknown Ancient Scripts, *Linguistics,* Vol. 61 pp. 64-91, 1970.

— *Materials for the Study of the Indus Script I; A Concordance to the Indus Inscriptions, Helsinki,* Suomalainen Tiedeakatemia, 1973.

— Kramer, S.N. The Indus Civilization and Dilmun : the Sumerian Paradise Land. *Expedition,* Vol. 6, no. 3, pp. 44-52, 1961.

— Lal. B.B. Protohistoric Investigation : The Indus and the Ghaggar Valleys and Baluchistan. *Ancient India,* no. 9, pp. 80-90, 1953.

— From The Megalithic to the Harappan : Treacing Back the Graffiti on the Pottery, *Ancient India,* no. 16, pp. 4-24, 1960.

— The Direction of Writing in the Harappan Script. *Antiquity* Vol. 40, pp. 52-55, 1966.

— A Fruther Note on the Direction of Writing in the Harappan Script. *Puratattva,* Vol. 1, pp, 15-16, 1967-68.

— A Deluge? Which Deluge? Yet another Fact of the Copper Hoard Culture, *American Anthropotogist,* Vol. 70, pp 857-63, 1968.

— Some Aspects of the Archaeological Evidence Relating to the Indus Script *Puratattva,* no. 7, pp 20-24, 1974.

— Lal, B.B., and B.K. Thapar, Excavations at Kalibangan : New Light no the Indus Civilization, *Cultural Forum,* Vol. 9, no. 4, pp. 78-88, 1967.

— Lamberg-Karlovsky, C.C. Trade Mechanism in Indus Mesopotamian Interrelations, *Journal of the Americon Oriental Society,* New York, Vol. 92, no. 1, pp. 222-29, 1972.

— Lambric. H.T., The Indus Flood plain and the Indus *Civilization, Geographical Journal,* Vol. 133, pp. 483-84, 1969.

— The Mohenjodaro floods, *Antiquity,* Vol. 41, pp. 228, 1967.

— Stratigraphy at Mohenjodaro, *Journal of the Oriental Institute,* Baroda, Vol. 20, no. 4, pp. 363-69, 1971.

— Leshnik, L., The Harappan "Port" at Lothal : Another View, *American Anthropologist,* Vol. 70, no. 5, pp. 911-22, 1968.

— Mackay, E.J.H., *Further Excavations at Mohenjodaro,* 2 vols., New Delhi, Govt. of India, 1938.

— *Chanhu-daro Excavations*, 1935-36, American, Oriental Series, Boston Museum of Fine Arts, Vol. 20, 1943.

— *Early Indus Civilization*, 2nd enlarged and revised ed. by Dorothy Mackay, London, 1948.

— Majumdar, N.G., *Explorations in Sind, Memoirs of the Archaeological Survey of India*, no. 48-1934.

— Prehistoric and Protohistoric Civilization. In *Revealing India's Past*, Sir John Cumming, ed. London, The India Society, pp. 91-116, 1939.

— Malik, S.C. *Indian Civilization* : The Formative Period, Simla. Indian Institute of Advanced Studies, 1966.

— Mallowan. M.E.L., The Mechanism of Ancient Indian Trade in Western Asia, *Iran*, Vol. 3. pp. 1-8.

— Manchanda, Omi, *A Study of the Harappan Pottery*, Oriental Publishers, New Delhi, 1972.

— Marshall, John, *Mohenjodaro and the Indus Civilization*, 3 vols., London : A Prohsthain, 1931.

— Misra, V.N. and M.S. Mate, eds. *Indian Prehistory*, 1964, Poona : Deccan College, 1965.

— Mode, H. *The Harappan Culture and the West*, Calcutta, Sree Saraswaty Press, Ltd., 1961.

— Mughal, M.R., *The Present State of Research on the Indus Valley Civilization*. International Seminar on Mohenjodaro pp. 1-28, 1973.

— New Evidence of the Harappan Culture from Jalilpur, Pakistan, *Archaeology*, Vol. 27, no. 2, pp. 106-113.

— The Early Harappan Cultural Phase : A Reply, *Puratattva*, no. 9, pp. 84-88, 1977-78.

— Nanavati, J.M., Problems of the Chronology of Harappan Sites in Gujarat, *Journal of the Oriental Institute, Baroda*, Vol. 2, pp. 421-27.

— Nigam, J.S., Post-Harappan Chalcolithic Cultures of India, *Journal of the Bihar Research Society*, Vol. 54, pp. 16-32, 1968.

— Oppenheim, A.L., Seafaring Merchants of Ur. *Journal of the American Oriental Society*, Vol. 74, pp. 6-17.

— Pande, B.M., Decipherment of the Harappan Script. *Conflux*, Vol. 3, no. 5, pp. 17-21, 1971.

— Parpola, Asko, S. Sarpola and P. Alto, *Decipherment of the Proto-Dravidian Inscriptions of the the Indus Civilization : A First Announcement, Copenhagen* : Scandinavian Institute of Asian Studies, 1969.

— *Progress in the Decipherment of the Proto-Dravidian Indus Script,* Copenhagen : Scandinavian Institute of Asian Studies 1969.

— *Further Progress in the Indus Script Dacipherment,* Copenhagen : Scandinavian Instsitute of Asian Studies, 1970.

— Piggott, Stuart, Notes on Certain Pins and Maceheads from Harappa, *Ancient India,* no. 4. pp. 26-40, 1948.

— *Prehistoric India, Baltimore : Penguin, 1950.*

— ed, *The Dawn of Civilization,* London and New York, 1961.

— Possehl, G.L. The Mohenjodaro Floods : A Reply, *American Anthropologist,* Vol. 69, no. 1, pp. 32-40, 1967.

— Lothal : A Gateway Settlement of the Indus Civilization, in *Ecological Background of South Asian Frehistory,* K.A.R. Kennedy and C.L. Possehl eds. Ithaca, Cornell University, South Asia Program Occasional Papers and Theses no. 4, pp. 118-31, 1976.

— *Indus Civilization in Saurashtra,* New Delhi, 1980.

— Possehl, G.L. eb. *Ancient Cities of the Indus,* New Delhi, 1979.

— Prannath, *Studies In Egyption and Ancient Middle East Epigraphy* pt. la. Inscriptions of Harappa and Mohenjodaro. Contributions to the History and Antiquities of Eghpt and the Ancient Middle East, no. 1, Benaras, 1939.

— Pusalker. A.D., The Religion of the Indus Valley People, *Modern Review,* Vol. 60, pp. 697-703, 1936.

— The Indus Valley Civilization. In the *History and Culture of the Indian People,* Vol. 1, R.C., Majumdar, ed., Bambay. Bhartiya Vidya Bhawan, pp. 169-98, 1951.

— Pre-Harappan, Harappan and Post-Harappan Culture and the Aryan Problem, *Quarterly Review of Historical Studies,* Vol. 7, no. 4, pp. 233-44, 1967-68.

— Raikes, R.L., The End of the Ancient Cities of the Indus. *American Anthropologist,* Vol. 66, pp. 284-99, 1964.

— The Mohenjodaro Floods, *Antiquity,* Vol. 39, pp. 196-203, 1965.

— The Mohenjodaro Floods – Further Notes, *Antiquity*, Vol. 41, pp. 64-66, 1967.

— *Water, Weather and Prehistory*, New York, Humanties Press 1967.

— The Mohenjodaro Floods – Reposte, *Antiquity*, Vol. 41, pp. 309-310, 1967.

— Kalibangan, Death from Natural Course, *Aniquity*, Vol. 42, pp. 286-91, 1998.

— Raikes, R.L., and Robert Dyson, The Prehistoric Climate of Baluchistan and the Indus Valley, *American Anthropologist*, Vol. 3, pp. 265-81, 1961.

— Rao, S.R., Excavations at Rangpur and Other Explorations in Gujarat, *Ancient India*, nos. 18-19, pp. 5-207, 1963.

— *Lothal and The Indus Civilization*, Asia Publishing House, Bombay, 1973.

— *Dectpherment of the Indus Script*, Asiav Publishing House, Bombay, 1982.

— Ray, S.K., *Indus Script Method of My Study*, Indian Institute of Egyptology, New Delhi, 1966.

— Raychandhuri. H.C., Prototype (?) of Siva in Western Asia, *Acharya Pushpanjali*, volume in honour of Dr. D.R., Bhandarkar, Calcutta, pp. 301-3, 1940.

— Sankalia, H.D., *Indian Archaeology To-day*, Asia Publishing House, Bombay, 1962.

— The Cemetery H. Culture *Puratatta* no. 6, pp. 12-19, 1972-73.

— *The Prehistory-Protohistory of India and Pakistan*, 2nd, ed., Deccan College Post-graduate and Research Institute, Poona 1974.

— Sastri, K.N., *New Light on the Indus Civilization*, Vol. 1, 1959, Vol. 2, 1964, Atma Ram & Sons, Delhi.

— सिंधु सभ्यता का आदि केन्द्र - हड़प्पा, दिल्ली, 1959।

— Sharma, A.K., Kalibangan Human Skeletal Remains an Osreo-Archaological Approach, *Journal of the Oriental Institute Baroda*, Vol. 19, pp. 110-14, 1969.

— Sharma. Y.D., Past Patterns of Living as Revealed by Excavations at Rupar, *Lalit Kala,* Vol. 1-2, pp. 121-29, 1956.

— Singh, Gurdip, Indus Valley Culture *Archaeology and Physical Anthropology in Oceonia,* Vol. 6, no. 2, pp. 177-89, 1971.

— Singh, U.V. ed. : *Archeological Congress and Seminar,* 1972. Kurukshetra University, Kurukshetra, 1976.

— Singh, B.P., Rise and Fall of the Indus Valley Civilization in the Light of the West Asiatic Archaeological Discoveries, *Journal of the Bihar Research Society,* Vol. 46, pp. 266-75, 1975.

— Stein Sri M.A., A Survey of Ancient Sites Along the "Lost" Saraswati River, *Geographical Journal,* Vol. 99, pp. 173-82, 1942.

— Starr, R.F.S., *Indus Valley Painted Pottery, A Comparative Study of the Disgns on the Painted Wares of the Harappan Culture,* Princet on University Press, 1941.

— Subbarao, B. *The Personality of India,* 2nd. ed., University of Baroda, Archaeological Series no. 3, 1958.

— Suraj Bhan, The "Late", Phase of Harappan Civilization, *Vishveshvaranand Indological Journal,* Hoshiarpur, Vol. 2, no. 2 pp. 344-52, 1964.

— Exacavation at Mitathal (Hissar) 1968, *Journal of Haryana Studies,* Kurukshetra, Vol. 2, no. 2, pp. 344-52, 1964.

— Thapar B.K., Synthesis of the Multiple Data as Obtained from Kalibangan In *Radio-Carbon and Indian Archaeology,* D.P. Agarwal and A, Ghosh, eds. Bombay Tata Fundamental Research Institute, 1973.

— New Traits of the Indus Civilization at Kalibangan : An Appreaisal, In *South Asian Archaeology,* Norman Hammond, ed. Park Ridge : Noyes Press, pp. 85-104, 1973.

— Kalibangan : A Harappan Metropolis Beyond the Indus Valley, *Expendition,* Vol. 17, no. 2, pp. 19-32, 1975.

— Thapar, Romila. A Possible Identification of Meluhha. Dilmun, and Makan, *Journal of Economic and Social History of the Orient, Leiden,* Vol. 18. pt. 1 pp. 1-42.

— Thaplyal, K.K., Identification of the Scene of a Famous Seal from Mohenjodaro, *Proceeding of the Indian History Congress* XXIInd Session, Aligarh, pt. 1, Calcutta, 1960-61.

— The Probable Nature of the Harappan Script in *Radio-carbon and Indian Archaeology,* eds. D.P. Agarwal and A. Ghosh, Bombay : Tata Institute of Fundamental Research, 1973.

— A Comparative Study of the Seals of Harappan and Historical Periods, *Madhu, Recent Research in Indian Archaeology and Art History,* Agam Kala Prakashan, New Delhi, 1981.

— Wheeler, R.E.M., Early *India and Pakistan* : To Asoka, New York, Praegelr.

— *Civilization of the Indus Valley and Beyond,* London, Mc Graw-Hill, 1966.

— *The Indus Civilization,* 2nd. ed, Supplement to the Cambridge History of India, Cambridge : Cambridge University Press, 1968.

— Vats, M.S., *Excavations at Harappa,* 2 vols. Delhi, Govt. of India, 1940.

— Waddell, L.A. The Indo-Sumerain Seals Deciphered, London Luzac & Co. 1925.

— Zide, A.R.K., A Brief Survey of Work to Data on the Indus Script, *Journal of Tamil Studies,* Vol. 2, no. 1, pp. 1-12, 1970.

●●●
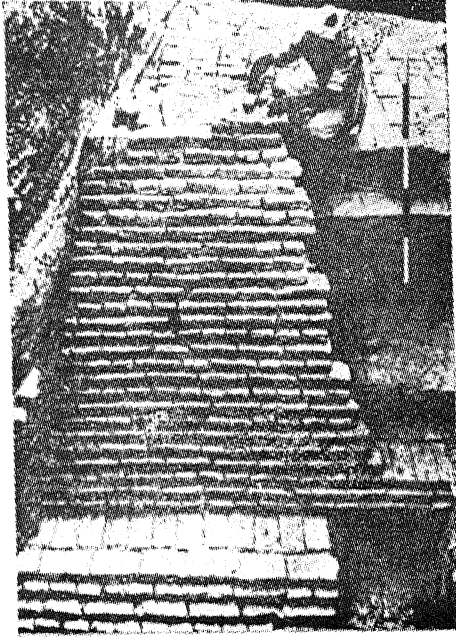
1. कच्ची ईंटों की सुरक्षा दीवार (दो चरण), हड़प्पा
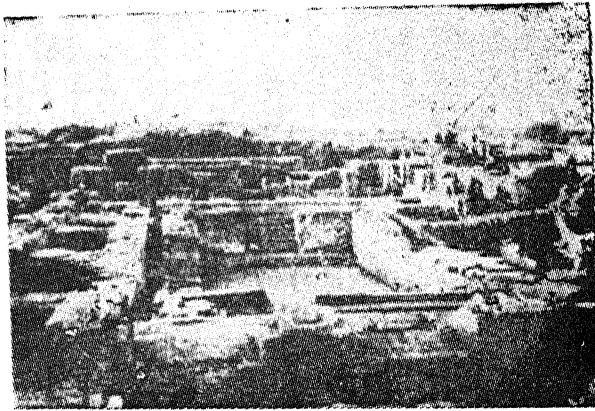
2. विशाल स्नानागार, मोहेंजोदड़ो
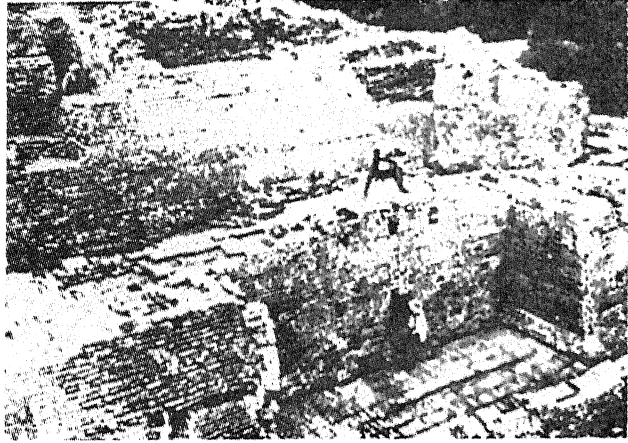
1. विशाल अन्नागार का एक भाग, मोहेंजोदड़ो
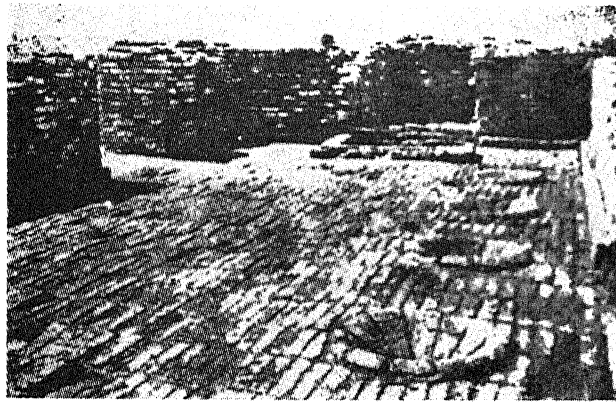
2. अन्न कूटने के लिए ईंटों के वृत्ताकार चबूतरे, हड़प्पा

फलक III
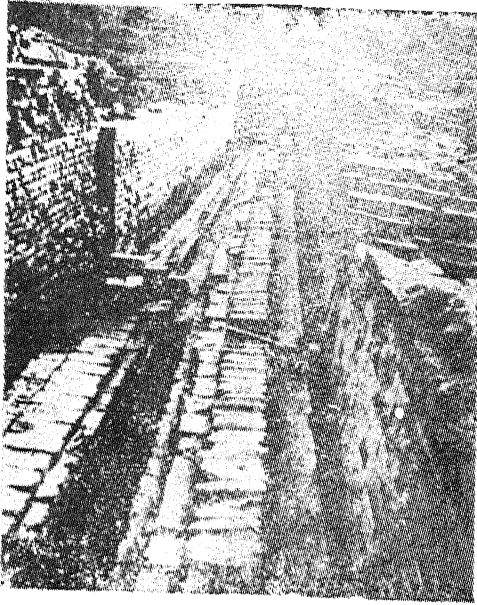
1. ढकी नाली, मोहेंजोदड़ो

2. टोड़ा मेहराब, मोहेंजोदड़ो

फलक IV
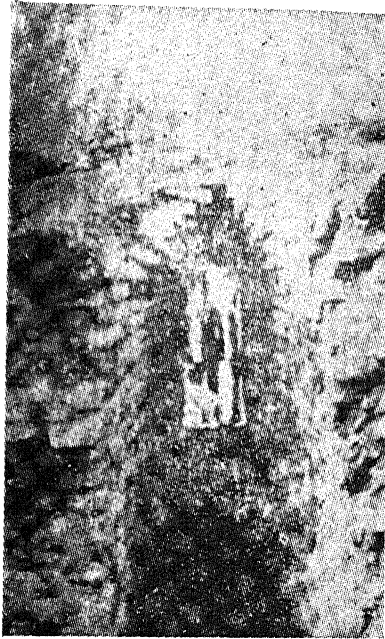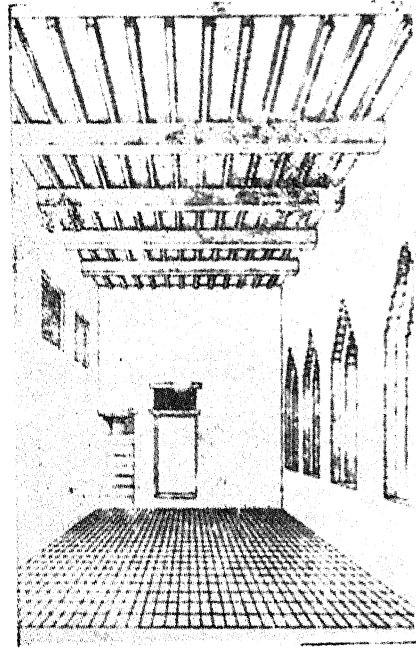
1. एक हाल के भीतरी भाग का पुनर्गठन, मोहेंजोदड़ो
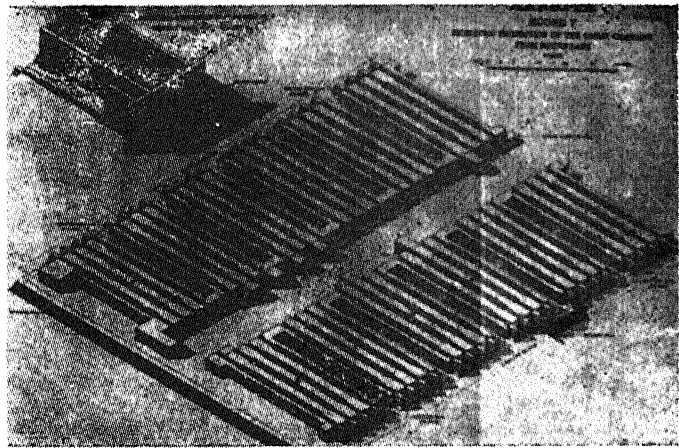
2. अन्नागार, हड़प्पा

फलक V
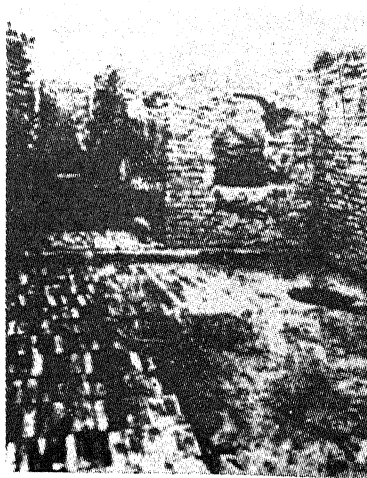
1. भवन में खिड़की का एक उदाहरण, मोहेंजोदड़ो
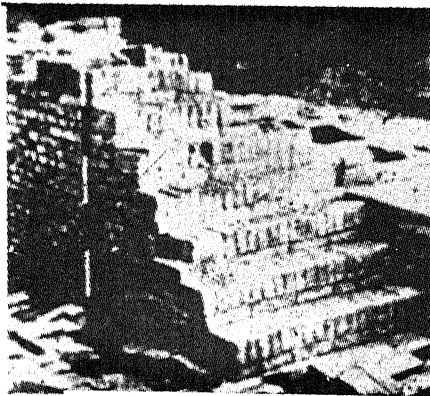
2. सीढ़ी, मोहेंजोदड़ो
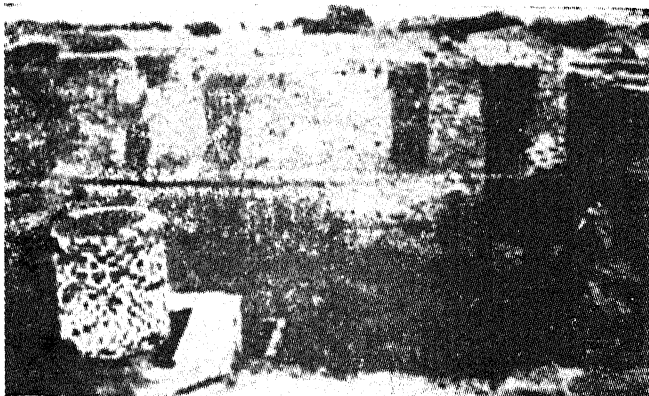
3. घर के भीतर कुआँ, मोहेंजोदड़ो
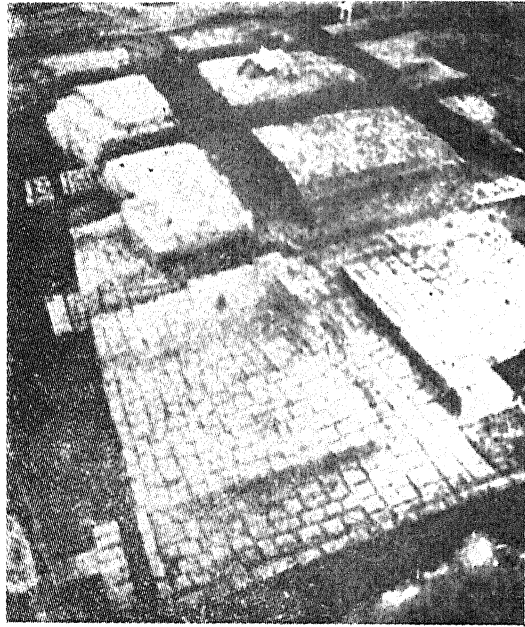
1. भाण्डागार के अवशेष, लोथल

2. गोदीबाड़ा, लोथल

फलक VII
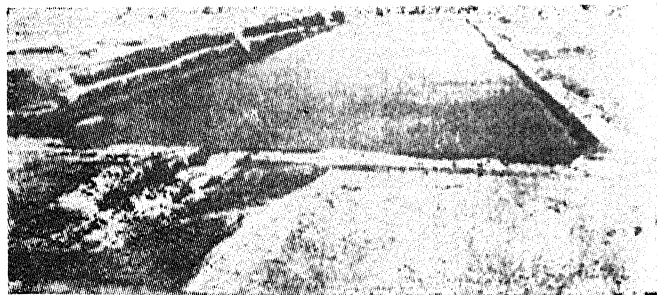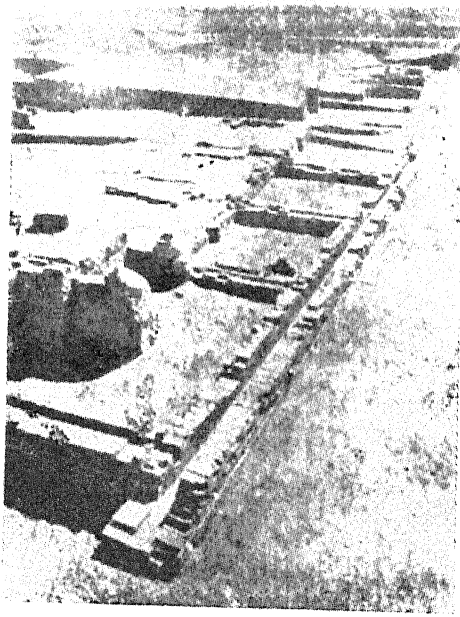
1. नालियाँ, लोथल

2. भवन और सड़कें, कालीबंगां
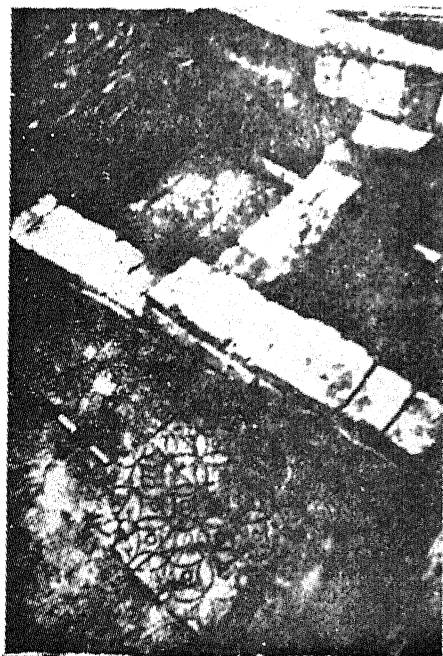
1. अलंकृत ईंटों से निर्मित फर्श, कालीबंगां

2. सड़क, कालीबगां

फलक IX
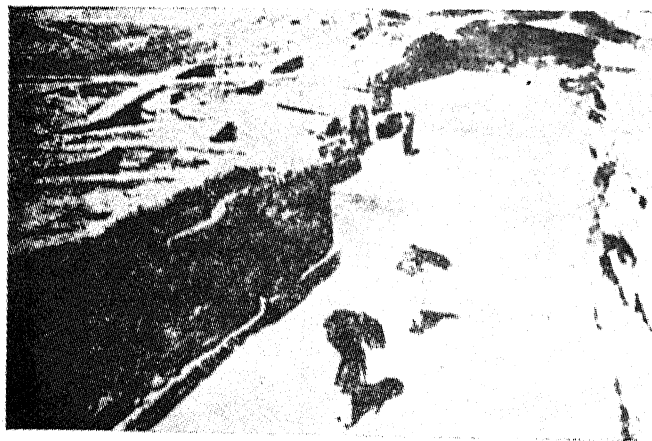
1. योगी (पुरोहित), मोहेंजोदड़ो

2. स्लेटी पत्थर का धड़ (नर्तकी), हड़प्पा

3. लाल बलुआ पत्थर का धड़, हड़प्पा
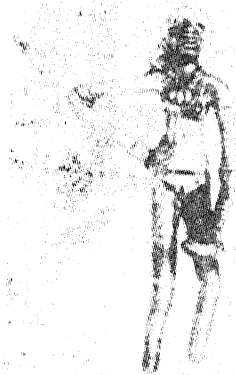
1

2

1. कांस्य नर्तकी, मोहेंजोदड़ो

2. पुरुष शीर्ष, मोहेंजोदड़ो

नारी (मातृदेवी), मृण्मूर्ति

नारी (मातृदेवी), मृण्मूर्ति, मोहेंजोदड़ो

1

2

3

4

1. मृण्मय शीर्ष, चन्हुदड़ो
2. मृण्मय् शीर्ष, मोहेंजो्दड़ो
3. गिलहरी, काँचली मिट्टी, हड़प्पा
4. बन्दर, काँचली मिट्टी, मोहेंजोदड़ो

1. वृषभ मृण्मूर्ति, मोहेंजोदड़ो

2. महिष मृण्मूर्ति, मोहेंजोदड़ो
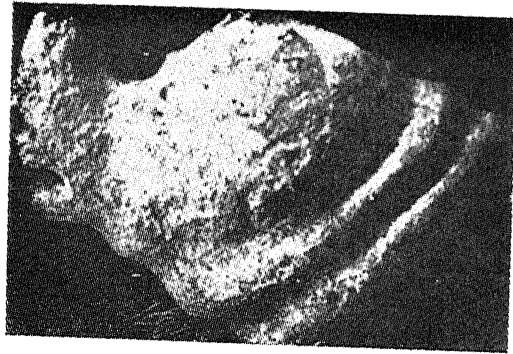
3. गैंडा-सिर, मृण्मूर्ति, लोथल
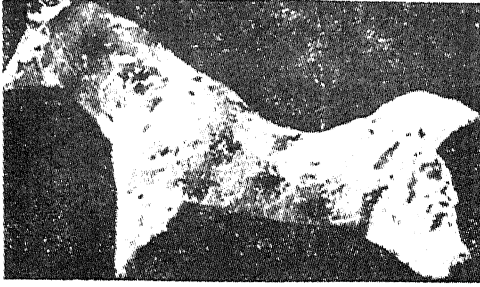
1. घोड़ा, मृण्मूर्ति, लोथल
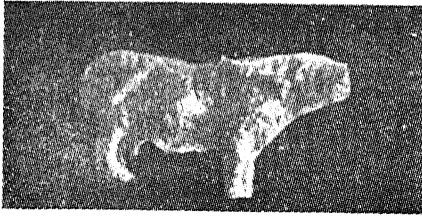
2. महिष, कांस्य, मोहेंजोदड़ो

3. वृषभ, मृण्मूर्ति, लोथल

फलक XVI
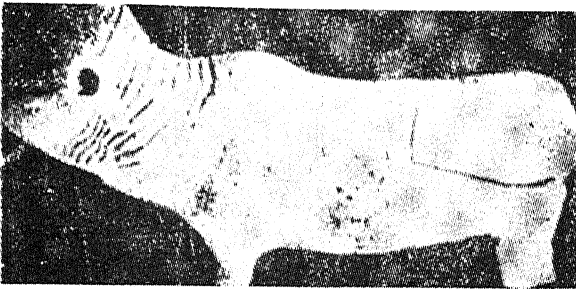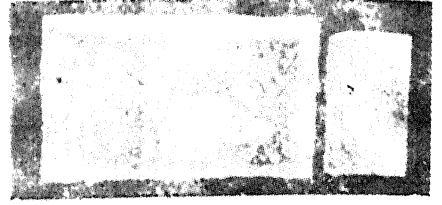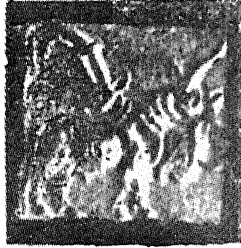
1. पशुपति (?) मुद्रा, मोहेंजोदड़ो 2. बेलनाकार मुद्रा एवं मुद्रा छाप कालीबंगां 3. मुद्रा छाप 4. तीन सिर वाला काल्पनिक पशु 5. काल्पनिक पशु 6. शृंग-युक्त पुरुष बाघ पर आक्रमण करता हुआ 7. काल्पनिक बाघ, मुद्रा, मोहेंजोदड़ो
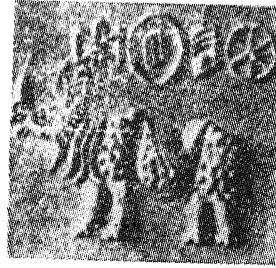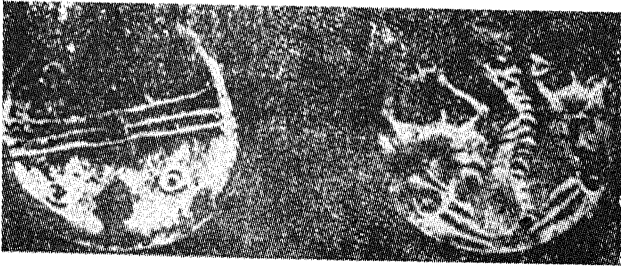
1. एक श्रृंगी पशु 2. वृषभ 3. बलि दृश्य (?) 4. गैंडा, मोहेंजोदड़ो 5. 'फारस की खाड़ी' मुद्रा प्रकार, लोथल

1. कपड़े के निशान युक्त मुद्रा छाप, लोथल

2. (अ) शृंगी देवता, मृत्पिंड, कालीबंगां (आ) उपर्युक्त, बलिदृश्य

फलक XIX
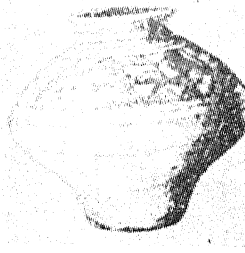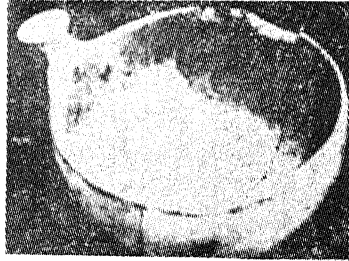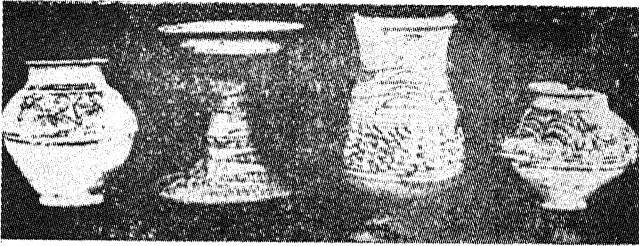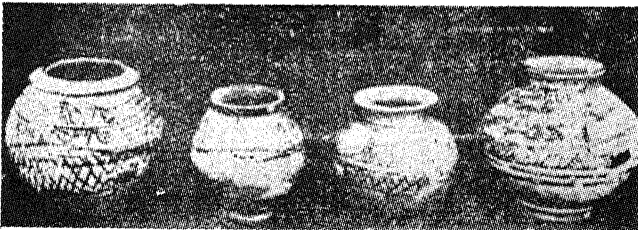
1. मृदभाण्ड, मोहेंजोदड़ो 2. मोहेंजोदड़ो 3. लोथल 4. हड़प्पा

1

2

3
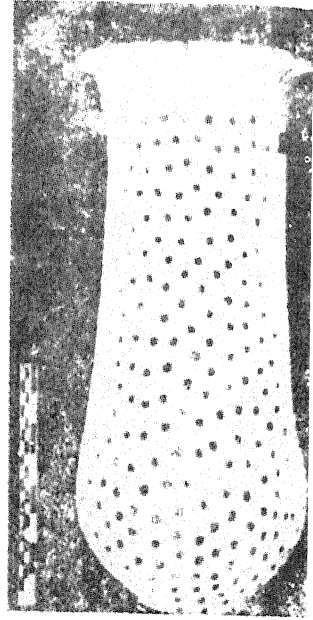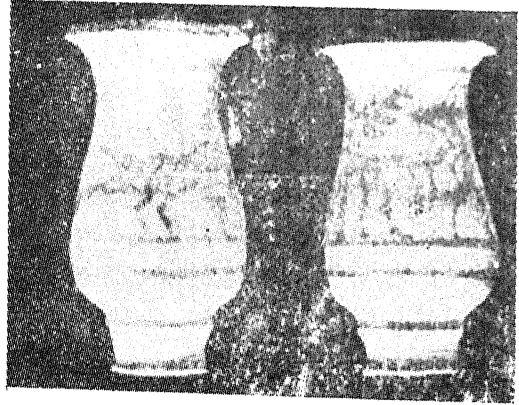
1. कलश 2. सछिद्र पात्र, लोथल 3. पक्षी, वृक्ष तथा हरिण चित्रण युक्त पात्र, लोथल
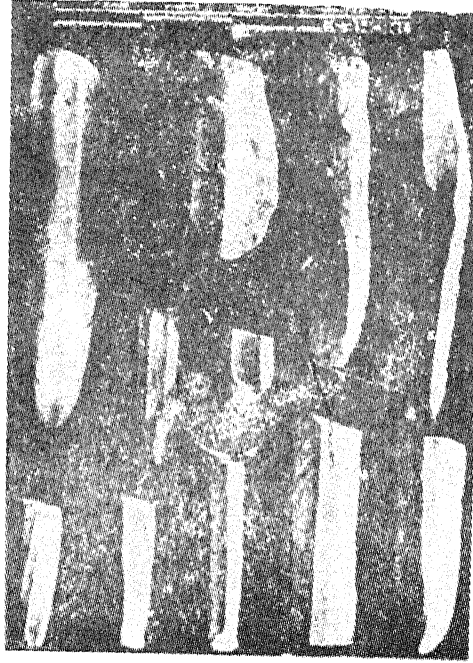
1. चर्ट फलक, हड़प्पा
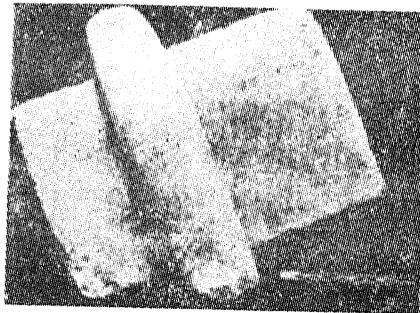
2. सिल बट्टा, पत्थर, लोथल
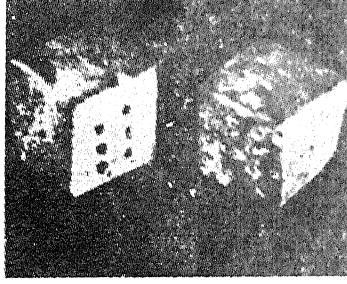
1

2
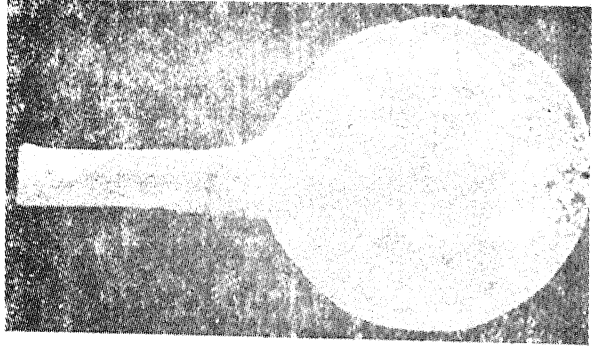
3
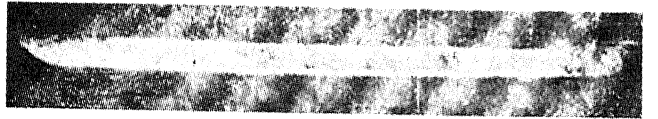
4

1. पांसे, मिट्टी, लोथल 2. बाट, पत्थर, कालीबंगां 3. दर्पण, तांबा, हड़प्पा 4. पैमाना, हाथी दांत, लोथल

फलक XXIII
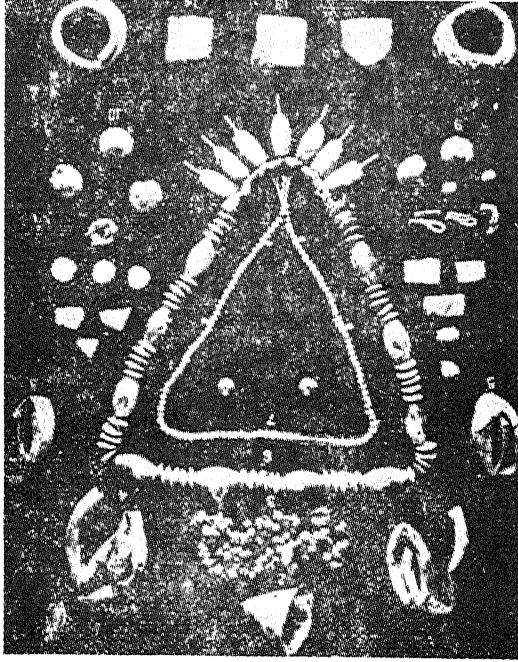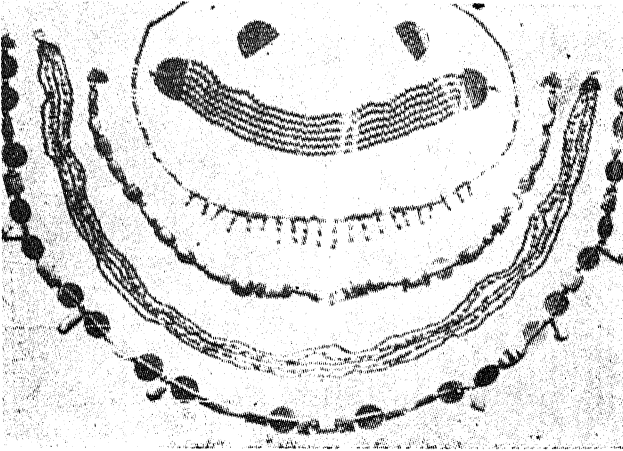
1. आभूषण मोहेंजोदड़ो

2. आभूषण, मोहेंजोदड़ो
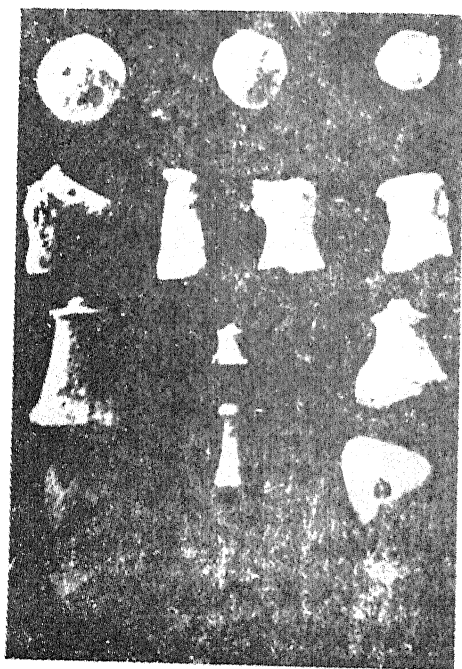
1. शतरंज जैसे खेल की गोटियाँ, लोथल

2. ईंट पर अंकित खेल के लिये निशान, लोथल

1
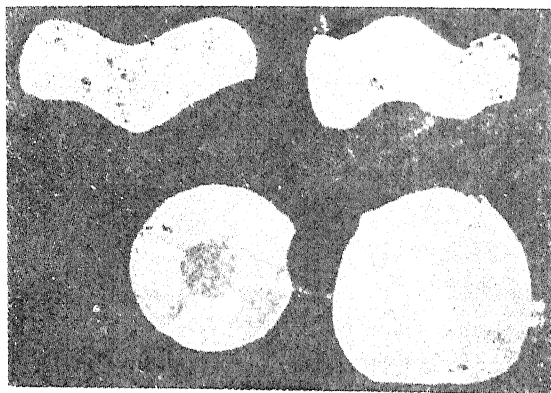
2
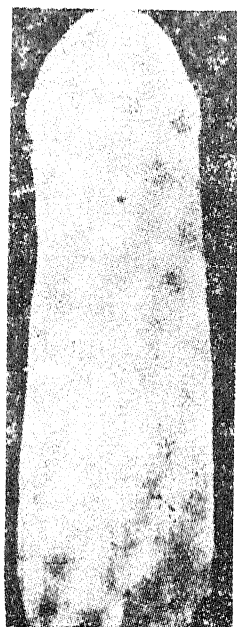
3

1. चक्र, मोहेंजोदड़ो

2-3. लिंग, मोहेंजोदड़ो

1. अग्निस्थान, कालीबंगां
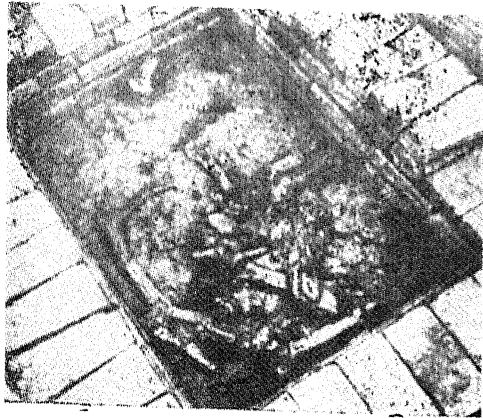
2. अग्निवेदिका, कालीबंगां

1. सामूहिक नरकंकाल मोहेंजोदड़ो

2. पात्र-शवाधान, हड़प्पा
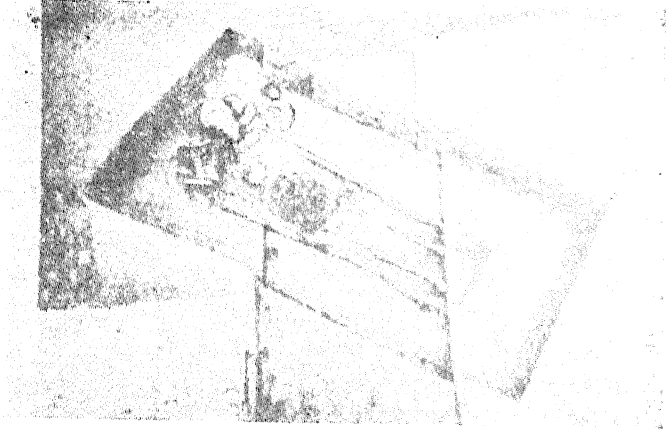
1. शवपेटिकायुक्त शवाधान, हड़प्पा
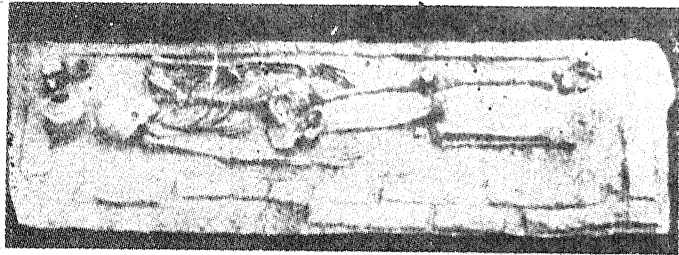
2. ईंटों से चिन्हित शवाधान, हड़प्पा
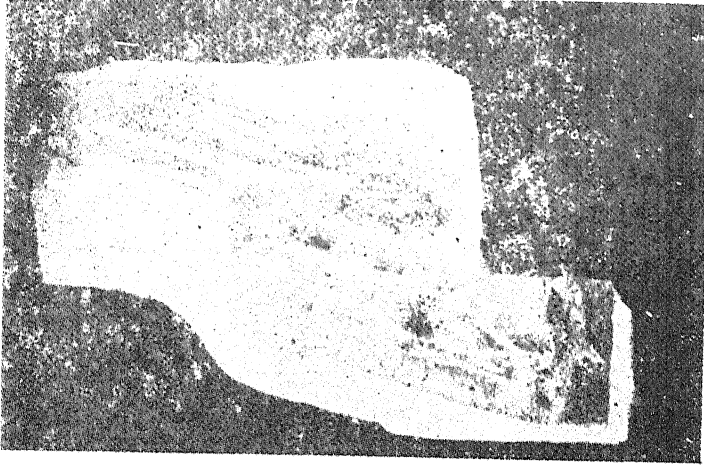
1. युगल एवं एकाकी शवाधान, लोथल

2. युगल शवाधान, लोथल